नवमानववाद

स्वातंत्र्य और लोकतंत्र का दर्शन

वी० एम० तारकुण्डे

भूमिका

नवमानववाद के विषय में हिन्दी मे किसी प्रामाणिक पुस्तक की वर्षों से प्रतीक्षा थी। श्री तारकुण्डे की जिस पुस्तक का अनुवाद यहाँ प्रस्तुत है, यो तो वह भी अंग्रेजी में ही लिखी गयी थी और इस प्रकार नवमानववाद के प्रवर्तक श्री मानवेन्द्रनाथ राय की पुस्तको की एक पूरक पुस्तक ही थी, लेकिन यह अनुवाद उसे हिन्दी में एक लगभग मौलिक रचना के रूप मे प्रस्तुत करता है। यह पुस्तक मानवेन्द्रनाथ राय के अपने ग्रन्थ का स्थान तो नही ले सकती, लेकिन नवमानववाद के परिचय ग्रन्थ के रूप में उस से भी अधिक उपयोगी इसलिए होगी कि इस में स्वयं राय की राजनीतिक जीवनी तथा उन के राजनीति-सम्बन्धी विचारो के विकास का भी एक ऐतिहासिक परिचय मिलेगा। राय एक युवा राष्ट्रीयतावादी क्रान्तिकारी के रूप में भारत से गये और विदेशो मे कम्युनिस्ट दलों के संस्थापक और अग्रणी नेता बने; फिर कम्युनिष्ट चिन्तन-धारा की त्रुटियो की आलोचना के कारण एक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद के केन्द्र-बिन्दु बने रहे। राजनीतिक कार्य और उस के साथ-साथ इस सैद्धान्तिक विवाद मे से ही क्रमशः एक नयी वैज्ञानिक विचारधारा ने जन्म लिया जो जितनी तर्क-सम्मत थी उतनी ही अनुभव-पुष्ट भी। यही विचारधारा कामरेड राय का नवमानववाद था जिस का सन्दर्भ युक्त परिचय श्री तारकुण्डे ने अपनी पुस्तक मे दिया है सन्दर्भ के कारण उन विचारो को समझने मे पाठक को बड़ी सहायता मिलती है, इस से पुस्तक की मूल्यवत्ता बढ़ जाती है।

आज के भारत के लिए नवमानववाद सब से अधिक प्रासगिक और उपयोगी राजनीति दर्शन है। वह मानव की स्वतन्त्रता को एक मौलिक मूल्य के रूप मे प्रतिष्ठापित करता हुआ लोकतन्त्र के सिद्धान्त को एक दृढ़ आधार देता है और सच्चे लोकतन्त्र समाज की रूप-रेखा भी प्रस्तुत करता है। एक ईश्वरपरक नैतिकता के बदले एक मानवपरक नैतिकता के आधार प्रस्तुत कर के नवमानववाद राजनीति में नैतिकता के स्थान और महत्त्व का स्पष्ट निरूपण भी करता है और समकालीन राजनीतिक आचरण की एक बहुत बड़ी बुराई से बचने का रास्ता भी इंगित करता है। ईश्वर-परक नैतिकता को जिन राजनीतिक दलो ने धर्म-निरपेक्षता अथवा जनवादिता

के नाम पर तिरस्कृत कर दिया, वे उस के बदले नैतिकता का कोई दूसरा आधार प्रस्तुत नही कर सके। अधिक से अधिक अपने-अपने राजनीतिक दल की तात्कालिक हित साधना ही नैतिकता की कसौटी बनी। उस ने जिस भयानक अवसरवादिता को प्रश्रय दिया उस के परिणाम हमारे सामने है और वर्षों से रहे हैं। नैतिक दिवालियापन और अराजकता का विष राजनीतिक आचरण से बढ़ता हुआ सारे सामाजिक जीवन मे फैल गया और युवा पीढ़ी के मानस को भी विकृत कर गया। इस स्थिति मे नवमानववाद ही वह विकल्प प्रस्तुत करता है जिस पर एक नयी नैतिकता खडी हो सकती है। क्योंकि ऐसी नैतिकता मानवपरक होगी और इसलिए धर्म-विश्वास से बँधी नही होगी, अतएव वह स्वाधीन लोकतन्त्र समाज मे भी आचरण की खरी कसौटियाँ बनाये रख सकेगी।

विचारो की स्वायत्त सत्ता पर आग्रह नवमानववाद की एक विशेषता है। श्री तारकुण्डे ने इस पर बल देते हुए विचारो की क्रान्तिकारी भूमिका का विशद् निरूपण किया है। जहाँ विचार पर प्रतिबन्ध है वहाँ मानववादी क्रान्ति नही हो सकती। मानववादी क्रान्ति का सन्देशवाहक और कर्मी वही हो सकता है जो विचार की स्वतन्त्र सत्ता मे विश्वास रखता है।

कामरेड एम.एन राय के अपने वैचारिक विकास मे उन सैद्धान्तिक बिन्दुओ का विशेष महत्त्व था जो 'नवमानववाद के 22 आधार-सूत्र' नाम से सूत्रबद्ध किये गये थे। अनन्तर इन्ही को व्याख्यायित करते हुए नवमानववाद के परिचय ग्रन्थ तैयार हुए। प्रस्तुत पुस्तक मे वे 22 सूत्र अथवा मानवीय सिद्धान्त भी दे दिए गए हैं और इस प्रकार एक बुनियादी ऐतिहासिक दस्तावेज भी प्रस्तुत पुस्तक में सम्मिलित कर लिया गया है।

नागरिक स्वतन्त्रता और राजनीतिक आचरण में स्वच्छता के लिए श्री तारकुण्डे वर्षों से जो परिश्रम करते रहे हैं जिस निर्भीकता से वह असहिष्णु आलोचको का अत्याचार सहते हुए राजनीति मे लोकतान्त्रिक मूल्यो की स्थापना के लिए संघर्ष करते रहे हैं, उस से हर जागरूक नागरिक परिचित होगा। आशा है कि यह पुस्तक भी उतनी ही ख्याति पायेगी और इस में प्रस्तुत विचार भी उसी प्रकार चर्चित होगे। उस से आगे तो वे विचार और सिद्धान्त अपनी आत्यन्तिक सत्ता के बल पर ही अपना स्थान बनाये रह सकते हैं और बनायेंगे।

—सच्चिदानन्द वात्स्यायन

नवमानववाद

अनुक्रम

परिशिष्ट

प्राक्कथन

नवमानववाद के दर्शन की आधारभूत सरचना 1946 मे एम. एन. राय द्वारा निर्मित की गयी थी। इस का 22 सिद्धान्त-सूत्रों के रूप मे प्रकाशन किया गया।

नवमानववाद के अँकुरण के समय से ही मैंने इसे अपने अभीष्ट जीवन दर्शन के रूप में पहचाना। इस के मूल सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाने के समय से वर्तमान कालावधि मे मेरी यह अनुभूति गहरी आस्था में परिणित हो गयी है। नवमानववादी दर्शन मेरे चिन्तन का अनिवार्य अभिन्न अग है और दीर्घकाल तक मैंने स्वयं इस दर्शन को जिया है, अत: मुझे आशा है कि इस के कुछ नये आयाम विकसित हुए है तथा यह समृद्धतर बना है अत: जहाँ मे एम. एन. राय के प्रति अत्यन्त ऋणी हूँ एवं उन के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, वहाँ आगामी पृष्ठों में मैंने नवमानववाद का स्वयं अपनी भाषा मे अपने निजी दर्शन के रूप मे विवेचन किया है।

नवमानववाद कोई बौद्धिक विलास नही है। इस का अभिप्रेत कर्मयुत दर्शन बनना है, ऐसा दर्शन जो नित्य-प्रति कामो में व्यवहार्य हो। यह मार्क्सवाद के आगे का दर्शन है। मार्क्सवाद से इस के सम्बन्ध के बारे में राय ने कहा है : "यदि मार्क्सवाद की भूलों का परिहार कर दिया जाए एवं विकसित वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश मे व्याख्या की जाये तो मार्क्सवाद के रचनात्मक तत्त्व एक अधिक सर्वतोमुखी दर्शन से सुसंगत दिखायी देते हैं जिसे समग्र मानववाद अथवा नवमानववाद का नाम दिया जा सकता है : दर्शन जो यन्त्रानुगतिक सृष्टि-विज्ञान, भौतिकवादी तत्त्व मीमांसा, धर्म निरपेक्ष, बुद्धिवाद एवं बुद्धिवादी नीतिमत्ता का सामंजस्य कर मनुष्य की स्वातन्त्र्याकांक्षा एव सत्य-संधान की प्रवृत्ति को सन्तुष्ट कर सके तथा आदर्शों को प्राप्त करने के प्रयत्न में उस के भावी कदमों का मार्गदर्शक बन सके।" (रीजन रोमान्टिसिज्म, जिल्द 2 पृष्ठ 220)

यह पुस्तक उन को सम्बोधित है जो इस प्रकार के विचारों एवं आदर्शों की प्रतिभा की खोज में हैं जो उन्हें वैयक्तिक सन्तुष्टि एवं सामाजिक उपयोगिता प्रदान कर सके।

विशेष रूप से यह उन्हे सम्बोधित है जो सत्ता की राजनीति के जगल में न पड़ कर समाज के दलित वर्गों के उत्थान के कार्य मे समर्पित रहना चाहते हैं।

यदि इस प्रकार का पाठक पुस्तक को पढ़ने के उपरान्त किसी प्रश्न पर सहमत नही हो पाता अथवा स्पष्टीकरण की आवश्यकता अनुभव करता है तो उस से पत्र-व्यवहार करने मे मुझे प्रसन्नता होगी।

मेरे प्रिय दिवगत श्री हरिकृष्ण पुरोहित ने सतत परिश्रम करके अपने स्वास्थ्य का ध्यान न रखते हुए जिस तल्लीनता से इस पुस्तक के प्रथम तीन अध्यायो का सरल अनुवाद किया उस के लिए मै बहुत आभारी हूँ मुझे दुःख है कि श्री पुरोहित सम्पूर्ण पुस्तक का अनुवाद करने के पहले ही चल बसे।

प्रिय श्री चद्रोदय दीक्षित ने पुस्तक के शेष भाग को अविलम्ब अनूदीत करके रेडिकल मानववाद के लिए अपनी आस्था व तन्मयता का अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है। आशा है कि श्री दीक्षित भविष्य मे भी इसी तरह अपना योगदान देते रहेगे।

मैं श्री हरिकृष्ण पुरोहित व श्री दीक्षित द्वारा दिए गए सहयोग के लिए उन का बहुत आभारी हूँ।

— वी. म. तारकुण्डे

नयी दिल्ली 1985

पहला खण्ड : भूमिका

नवमानववाद के सरोकार

मानववाद मानव-स्वातन्त्र्य का दर्शन है। उसकी बुनियादी आस्था है कि मनुष्य सभी विषयो का प्रतिमान है, मनुष्य अपना साध्य स्वय है तथा किसी अन्य महत्तर ध्येय की प्राप्ति का साधन नही है।

मानववाद इस बात पर बल देता है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है। वह किसी अति-प्राकृतिक शक्ति से सचालित नही है। वह स्वय अपने भाग्य का निर्माण करता है और किसी दैवी इच्छा-शक्ति से नियन्त्रित नही होता। मानववाद का आग्रह है कि मनुष्य अपना लक्ष्य स्वयं है अत: उसकी सत्ता किसी काल्पनिक सामूहिक अहता यथा राष्ट्र, जाति या वर्ग मे विलीन नही हो जाती तथा इस प्रकार के समवायो के नाम पर मानवी हितो का उत्सर्ग करने की मांग करना अवाछनीय है।

तथापि व्यक्ति केवल समाज मे रह कर स्वतन्त्रता का उपभोग करता है, एतद् उस स्वतन्त्र व्यक्ति का स्वत: प्रेरित नैतिक व्यक्ति होना भी आवश्यक है। स्वेच्छापूर्वक नैतिक आचरण रखने मे अक्षम व्यक्ति स्वतन्त्र भी नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे उस उच्छृखल व्यक्ति का मान्य मानदण्डो के अनुरूप व्यवहार बनाने के लिए समाज दमनकारी उपायो को अपनाने के लिए बाध्य होगा। मानववाद यह चीन्हता है कि मनुष्य की अन्त: प्रेरणाओं एव साथ ही उसके विवेक का विकास लाखो वर्षों के जैविक विकास की कालावधि मे प्रकट हुआ है तथा इन प्रवृत्तियो के सश्लिष्ट फलस्वरूप उसका स्वत: प्रेरित कर्ता के रूप मे विकास सम्भव हो सका है।

किसी भी अति-प्राकृतिक शक्ति का अस्तित्व अस्वीकार कर मानववाद केवल विज्ञान मे आस्था के आधार पर मनुष्य के सभी मानसिक गुणों का, जिनमे सकल्प, विवेक एव सवेग सम्मिलित है, जैविक विकास से सम्बन्ध दर्शाता है। मानववाद यह प्रतिपादित करता है कि मानव का स्वातन्त्र्य के लिए सघर्ष, जीव द्वारा अस्तित्व के लिए सघर्ष का मानवी स्तर पर सातत्य है तथा मानव-प्रगति की मूल काक्षा उसकी स्वातन्त्र्य की खोज तथा सत्य का सन्धान करने की प्रवृत्तियो से उत्प्रेरित है।

मानववाद का सामाजिक उद्देश्य स्वतन्त्र एव नैतिक स्त्री-पुरुषो के समाज की रचना मे सहायक होना है। इस लक्ष्य के अनुरूप मानववादी एक सम्पूर्णतः लोकतन्त्रीय समाज की स्थापना एव उसके अनुरक्षण के प्रति सचेष्ट रहता है। मानववाद को अहसास है कि लोकतन्त्र को समाज के केवल राजनीतिक संगठन तक सीमित नही रखा जा सकता तथा स्वातन्त्र्य, समानता एवं बन्धुत्व के लोकतन्त्रीय मूल्यो का सामाजिक जीवन के सभी आयामो मे प्रसरण होना आवश्यक है। वस्तुओ के उत्पादन व वितरण तथा वित्तीय सेवाओ, शैक्षणिक सस्थानो, विविध जनसमुदायो के सम्बन्ध आधारो, स्त्री-पुरुष एव भिन्न आयु वर्ग के दलों के अन्तस्सम्बन्धों आदि मे इन मूल्यो का पूर्ण प्रतिबिम्बन वास्तविक लोकतन्त्र की कसौटी है।

इस प्रकार के सर्वव्यापक बहुआयामी लोकतन्त्र की स्थापना तभी सम्भव है जब इसकी पृष्ठभूमि मे समाज मे सार्वमूलक परिवर्तन लाने, एक समग्र सास्कृतिक एव सस्थागत क्रान्ति उपस्थित करने के प्रति गहरा रुझान हो। अपने चारो ओर निर्धनता, अज्ञान एव अत्यधिक असमानताओ से घिरे रहने पर भी यदि मानववादियो की नैतिक चेतना उनमे इस बात की व्याकुलता नही भर देती कि वे इस क्रान्तिकारी प्रयत्न मे साझीदार हो, तो वे अपने दर्शन के प्रति ईमानदार भी नही हो सकते। इन परिस्थितियो मे मानववाद को नवमानववाद, एक सार्वमूलक क्रान्तिकारी मानववाद बनाना होगा।

नवमानववाद मे राज्य की जिस रूप मे परिकल्पना की गयी है वह साझेदारी का लोकतन्त्र होगा जिसमे सत्ता जनता मे निहित होगी, केवल कुछ व्यक्तियो के हाथों मे केन्द्रित नही रहेगी। वह एक परिवार - सदृश सहयोगी परिमण्डल होगा जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को उपयोगी काम दिलाया जायेगा तथा आर्थिक असमानताओ को कठोरता से परिसीमित किया जायेगा।

नवमानववादी इस धारणा के साथ नये परिवर्तन के आकाक्षी होगे कि किसी भी सामाजिक क्रान्ति के प्रतिफलित होने से पहले सास्कृतिक परिवर्तन होना जरूरी है। नवमानववादियो का मुख्य कार्य होगा कि वे जनता को लोकतन्त्रीय मूल्यो-स्वातन्त्र्य, समानता, विवेक, सहयोग, आत्मानुशासन के प्रति जागरूक बनायें तथा इन मूल्यो पर आधारित उचित सस्थानो का प्रतिष्ठापन करें।

नवमानववादी अपनी धारणा के वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहते हुए राजनीतिक दल के रूप मे सगठित नही होगे तथा सत्ता की राजनीति मे भाग नही लेगे। वे जनता के पथ-प्रदर्शक, मित्र एवं दार्शनिक के रूप मे कार्य करेंगे। उनका राजनीतिक व्यवहार सदैव विवेक पर आधारित अत.

नैतिकतापूर्ण होगा। वे भावी शासक बनने की नीयत से काम नही करेंगे वरन् उनका प्रयत्न होगा कि स्वय जनता अधिकाधिक राजनीतिक अधिकार एवं आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त करें। इसके लिए वे मानववादी मूल्यों की संचेतना जगायेंगे और समुचित राजनीतिक सस्थानों के माध्यम से निष्ठापूर्वक रहेंगे।

नवमानववाद कदापि यह विश्वास नही करता कि अधिनायकवाद के जरिए स्वतन्त्रता के ससार की रचना सम्भव है। नवमानववाद वर्तमान सीमित लोकतन्त्र की सुरक्षा चाहता है जिससे कि सर्वव्यापक राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक लोकतन्त्र के रूप मे भविष्य मे उसका रूपान्तरण हो सके।

नवमानववाद विचार-पद्धति की एक बन्द गली नही है। वह स्वातन्त्र्य प्रेम से प्रेरित व्यक्तियों का दर्शन है अतः वह मानवी ज्ञान के नये अवदान के आधार पर सदैव कोई भी आवश्यक सशोधन करने को तत्पर रहेगा।

नवमानववाद वैयक्तिक एव सामाजिक दोनो प्रकार का दर्शन है। मानववाद की बुनियादी आस्था मनुष्य को, व्यक्ति को केन्द्र मे रखने की है अतः उसके वैयक्तिक एव सामाजिक पक्षो मे असगति नही है।

नवमानववादी दर्शन के वैयक्तिक एवं सामाजिक पक्षो तथा उसकी राजनीतिक एवं *सामाजिक कार्य-प्रणाली को आगामी पृष्ठो मे सरल अशास्त्रीय भाषा मे स्पष्ट* करने का प्रयत्न किया जायेगा। प्रस्तुत विवेचन मे हर सम्भव प्रयत्न रहेगा कि किसी आप्तवचन को प्रमाण न माना जाये क्योकि प्रमाण यदि माना जा सकता है तो वह अन्ततः स्वय पाठक का विवेक है।

नवमानववाद के विभिन्न पहलुओ पर प्रकाश डालने से पूर्व यह चर्चा आवश्यक है कि समसामयिक परिस्थिति मे भारत एव विदेशो के सन्दर्भ मे मानववाद की क्या प्रासगिकता है। वर्तमान सकट से उबरने मे प्रचलित विचारधाराएँ क्यो असफल रही है तथा इस असफलता ने आधुनिक भारत के सबसे प्रसिद्ध क्रान्तिकारी दार्शनिक एम.एन. राय को नवमानववाद की आधारशिला रखने के लिए किस प्रकार प्रेरित किया।

दो

नवमानववाद की प्रासंगिकता

समसामयिक स्थिति मे नवमानववाद की प्रासगिकता आंकने के लिए यह देखना होगा कि विश्व के विभिन्न भागों मे मानव-स्वातन्त्र्य के मूल आदर्श को किस सीमा तक चरितार्थ किया गया है। सम्प्रति एक सभ्य एव नैतिक समाज मे स्त्री एव पुरुष स्वतन्त्र व्यक्तियो के रूप मे कहां तक गरिमा के साथ मानवी अस्तित्व बनाये रखने मे सक्षम है ? कहाँ तक एक व्यापक राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक लोकतन्त्र को सचमुच साकार रूप प्रदान किया गया है ?

सरसरी तौर पर एक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायेगा कि विश्व के किसी भी भाग मे इन आदर्शों की सन्तोषजनक रूप मे पूर्ति होना अभी बहुत दूर है, यद्यपि मानववादी दृष्टि से कुछ देशो मे जीवन-परिस्थितियां अन्य देशों की अपेक्षा कही अधिक बदतर हैं। तीसरे विश्व के अधिकाश देश स्थानीय परिस्थितियो से उत्पन्न निरकुश अधिनायकवादी शासन के नीचे दबे है। भारत जैसे कुछ ही देश इसके अपवाद है जहाँ एक कमजोर एव अस्थायी लोकतन्त्र जीवित है। यहाँ का दृश्य-चित्र भी भयकर गरीबी, बढती बेरोजगारी तथा हृदय-विदारक आर्थिक एव सामाजिक असमानताओ से उत्कीर्ण है। जिन देशो मे साम्यवादी तानाशाही शासन है वहाँ आर्थिक असमानता एव असुरक्षा अपेक्षाकृत कम है, किन्तु यह उपलब्धि अत्यधिक राजनीतिक असमानता एव व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की निर्मम कटौती की कीमत पर हो सकी है। पश्चिमी लोकतान्त्रिक देशो मे राजनीतिक लोकतन्त्र की परिपाटी अपेक्षाकृत सुदृढ रूप मे स्थापित है, किन्तु वहाँ भी अत्यधिक आर्थिक असमानता, बढती बेरोजगारी और अनेक जगहो पर भयकर गरीबी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त अधुनातन औद्योगिक समाज के मूल्यो के प्रति लोगो का अधिकाधिक मोहभग होने लगा है और वे प्राच्य निगूहता तक की शरण लेने लगे है। प्रचलित नैतिक मूल्यो मे इतनी अधिक गिरावट आ गयी है कि वे एक स्वतन्त्र समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने मे बहुत ओछे पडते है।

इस परिस्थिति का मूल कारण अपर्याप्त सास्कृतिक विकास है। किन्तु, कतिपय आधुनिक प्रवृत्तियों के बढ़ते जाने यथा, आधुनिक राज्य की शक्ति एव कार्यकलापों का विस्तार, पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के फलस्वरूप आर्थिक असुरक्षा,

हाल ही के वर्षों में प्रविधि का असाधारण रूप से त्वरित विकास तथा युवाओं के नैतिक विकास में पितर जनों एवं गुरू जनों के योगदान कर पाने की अधिकाधिक अयोग्यता से सांस्कृतिक हीनता के परिणाम और भी गम्भीर बन गये हैं।

तीसरे विश्व के देशों में वहाँ के प्रचलित सांस्कृतिक स्तर एवं आधुनिक लोकतन्त्र की आवश्यकताओं के बीच गहरी खाई अधिक स्पष्ट दिखायी देती है। इन देशों में केवल भारत विशाल क्षेत्र एवं अधिक जनसंख्या वाला देश है जहाँ राजनीतिक लोकतन्त्र का अस्तित्व बना हुआ है किन्तु, वह भी अधिकतर रामभरोसे है। भारतीय अनुभव से यह प्रकट हो जाता है कि लोकतन्त्र की सफलता के लिए किन सांस्कृतिक मूल्यों का पल्लवन आवश्यक है और यदि लोगों का उन मूल्यों के प्रति अपेक्षित लगाव नहीं है तो लोकतन्त्र निर्बल एवं अस्थिर बना रहेगा।

लोकतन्त्र एवं मानववादी मूल्य

भारत में अधिनायकवाद कभी भी स्थापित हो सकता है, ऐसा प्रतीत होने का कारण यह है कि देश के अधिकांश लोग एक मसीहा को पाने के लिए लालायित रहते हैं जो उन्हें गरीबी के दलदल से निकाल कर मानवोचित सुख-सुविधाएँ प्रदान कर दे। राजनीति में उनकी दृष्टि वैसी ही रहती है जैसी वे धार्मिक सन्दर्भों में अपनाते हैं। यह अन्यथा नहीं है कि भारत में धर्म के नाम पर अनेक पाखण्डी हैं जिनके अधिक संख्या में अनुयायी हैं। लोग वर्तमान एवं भावी विपदाओं से सुरक्षा के लिए उनके पास एकत्र होते हैं। यह और भी संकेतपूर्ण है कि इधर इनमें से कुछ बाबाओं और योगियों के पश्चिमी देशों में भी, विशेष रूप से अमेरिका में बड़ी तादाद में अनुयायी बनने लगे हैं। लोगों का बाबाओं और योगियों में विश्वास सांस्कृतिक दृष्टि से राजनीति में मसीहा में पाये जाने वाले विश्वास से भिन्न नहीं है। राजनीतिक उद्धारकों में विश्वास उदार तानाशाही की स्थापना का कारण बनता है तथा तानाशाही के एक बार स्थापित हो जाने के बाद उसका उदार बना रहना आवश्यक नहीं।

धार्मिक बाबाओं और योगियों में विश्वास के सदृश, राजनीतिक उद्धारकर्ताओं में विश्वास अनुभव पर आधारित नहीं होता। वह भीतर कहीं गहरी आस्था में भी जन्म नहीं लेता। वास्तव में वह स्वयं में विश्वास की कमी का प्रतिवर्त है। जब व्यक्ति स्वयं में विश्वास अर्जित नहीं कर पाता तब वह किसी बाह्य वस्तु को मनोवैज्ञानिक अवलम्बन के रूप में अपनाने की ओर प्रवृत्त होता है एवं अनेक काल्पनिक गुणों से उसे अभिमण्डित करता है। यदि वह बहिर्व्यक्ति उसकी आशाओं के अनुरूप सिद्ध नहीं होता तो वह अपनी श्रद्धा किसी अन्य व्यक्ति के प्रति समर्पित कर देता है। बाह्य आश्रय की इस वेचैन तलाश के बदले *आत्म-विश्वास* की ज्योति जगाना लोकतन्त्र की प्रमुख सांस्कृतिक माँग है।

आत्म-विश्वास स्वातन्त्र्य का सार है। इसमे मन का स्वतन्त्र होना निहित है- एक ऐसे व्यक्ति का मन जो अपने लिए स्वय सोचना चाहता है और उसे पूर्ण विश्वास है कि वह अपने आप सोच सकता है। स्वातन्त्र्य एव बौद्धिकता यह दोनो मानववादी मूल्य व्यक्ति के अपने आप मे विश्वास मे सन्निहित हैं। इस प्रकार स्वतन्त्रचेता मन परम्परा के बोझ एव प्रचलित 'गुरूडम' से मुक्त रहता है। मानसिक स्वतन्त्रता राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता की प्राग् आवश्यकता है।

आत्म-विश्वास के अतिरिक्त लोकतन्त्र की अन्य सास्कृतिक आवश्यकता आत्मानुशासन है। केवल आत्मसयम-स्वय द्वारा निर्दिष्ट आत्मानुशासन-ही स्वातन्त्र्य को उच्छृखलता मे अधःपतित होने से रोक सकता है। सामाजिक दायित्व का अहसास करने एव स्वीकारने से आत्मसयम का उद्भव होता है। वह नैतिक व्यवहार का एक आयाम है। हम आगे पुन. यह चर्चा करेंगे कि समाज के नैतिक विकास मे बुद्धि का निर्णायक योगदान रहता है। समाज मे बुद्धिवाद के विकास के साथ नैतिक मूल्यो का स्तर ऊँचा उठता है। जब समाज मे अधिकाधिक लोग मानसिक स्वतन्त्रता का उपभोग करते है तथा विवेक द्वारा परिचालित होते है तो निश्चय ही समाज मे उच्छृखलता व्याप्त नही होगी।

भारत मे अपेक्षित आत्मसयम का अभाव है यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ शिक्षण-सस्थाओ मे विद्यार्थियो द्वारा हडताल कर देना एव उत्पादन कार्यो मे श्रमिको या मिल-मालिको द्वारा हडताल या तालाबन्दी से रुकावट ला देना आम बात है। इस प्रकार के उदाहरण मानवर्द्धपियो के इस कथन की साख बढ़ाते प्रतीत होते है कि भारत को एक शक्तिशाली अधिनायकवादी शासन की आवश्यकता है जिससे स्वतन्त्रता का इस सीमा तक दुरूपयोग न हो कि समाज की व्यवस्था ठप्प होकर रह जाए।

प्रचलित नैतिक स्तर एव लोकतन्त्र की सफलता के लिए आधारभूत आवश्यकताओ के बीच खाई के सम्बन्ध मे उपर्युक्त कथन का आशय यह दर्शाना नही है कि कोई इस देश मे ही यह खाई विशेप रूप से गहरी हो। इसके विपरीत सम्भव है कि तोसरे विश्व के अधिकाश देशो मे पायी जाने वाली सास्कृतिक खाई की अपेक्षा भारत मे वह कम ही हो। यह उल्लेखनीय है कि भारत जैसे विस्तृत क्षेत्र और घनी आबादी वाले देश मे जहाँ अनेक धर्मों, भापाओ और क्षेत्रीय भिन्नताओं के भेद है वहाँ राजनैतिक लोकतन्त्र का स्वरूप सुरक्षित रह सका है, चाहे वह कितना ही ऊपरी दिखावा हो। प्रस्तुत चर्चा मे प्रासगिक यह है कि भारत मे

सांस्कृतिक विभेद मिटाने के लिए जिन मूल्यों के प्रसार की आवश्यकता है वे निश्चित रूप से नवमानवादी मूल्य है–स्वातन्त्र्य, बुद्धिवाद एव धर्म-निरपेक्ष नैतिकता के मूल्य।

लोकतन्त्र एवं नव-जागरण आन्दोलन

ऐतिहासिक दृष्टि से भी मानववाद एव लोकतन्त्र मे सीधा सम्बन्ध दिखायी देता है। ग्रीस मे नगर-राज्यों के समाप्त हो जाने के बाद यूरोप मे एक सहस्र से भी अधिक वर्षों तक अपेक्षाकृत ग्रन्धकार युग बना रहा। इस अन्धकार को मानववादी आन्दोलन ने दूर किया जो यूरोपीय रिनेसाँ के नाम से जाना गया। इस नव-जागरण का आरम्भ बिन्दु मध्य-युग की रूढिवादिता के विरुद्ध विद्रोह था। 'ईश्वर के विरुद्ध मानव का विद्रोह' के रुप मे नवजागरण आन्दोलन की उचित ही व्याख्या हुई है। यह आन्दोलन इस आस्था से प्रेरित था कि मानव की शक्ति का स्रोत निस्सन्देह वह स्वय है तथा अपने भविष्य का निर्माण वह स्वय करता है न कि कोई दैवी इच्छा। नवजागरण आन्दोलन एक सुदीर्घ कालावधि मे विकसित हुआ था–प्रमुखतया पन्द्रहवी एव सोलहवी शताब्दियो मे।

यह आन्दोलन मूलत. मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए किया गया था जिसके प्रमुख तीन परिणाम दिखायी पड़ते है। प्रथमत इसने महान फ्रासीसी क्रान्ति से प्रेरित होकर राजाओ के दैवी अधिकार को धमाके से नष्ट कर दिया जिसके फलस्वरूप यूरोप के अनेक देशो मे लोकतान्त्रिक शासन-प्रणाली स्थापित हुई। यूरोपीय रिनेसाँ के रुप मे घटित मानववादी आन्दोलन ने आधुनिक लोकतन्त्र को सास्कृतिक आधारशिला प्रदान की।

द्वितीय, इस नवजागरण से निर्मित मानसिक स्वाधीनता के वातावरण ने अपूर्व वैज्ञानिक प्रगति को जन्म दिया। नवजागरण की तीन-चार शताब्दियो के काल मे वैज्ञानिक प्रगति के कारण पृथ्वी एव ब्रह्माण्ड सम्बन्धी मानव की जानकारी मे इतनी अधिक वृद्धि हुई कि उसकी तुलना मे विगत लाखो वर्षों मे अर्जित ज्ञान उसका शताश भी नही था।

तृतीय, वैज्ञानिक प्रगति तथा उसकी तह मे आविष्कार-कौशल ने 18 वी एव 19 वी शताब्दियो मे औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया। आज हम उचित ही संज्ञा प्रदान की गयी "दूसरी औद्योगिक क्रान्ति" के साक्षी हैं जो वर्तमान युग मे अद्‌भुत प्राविधिक विकास का परिणाम है। इसके परिणामस्वरूप मानवी श्रम की उत्पादन क्षमता अनेक गुनी बढ़ गयी है।

यह विचित्र है कि सम्प्रति लोकतन्त्र की अनिश्चित स्थिति का प्रमुख कारण यह

है कि हम अपेक्षित आर्थिक व राजनीतिक संस्थानो को विकसित करने मे अपेक्षाकृत अक्षम रहे है जो औद्योगिक क्रान्ति के निरन्तर विकासमान चरणो के साथ गति मिलाये रख सकें।

किन्तु, इस समस्या की जांच-पड़ताल से पूर्व यह देखना आवश्यक है कि भारत के सदृश उन देशो मे क्या कुछ घटित हुआ जो यूरोपीय रिनेसाँ के समान सांस्कृतिक रूपान्तरण की स्थिति में होकर नही गुजरे।

भारतीय नवजागरण का रूद्ध विकास

भारत मे ईसा पूर्व सहस्राब्दी यूनानी विचारको के समतुल्य बौद्धिक जागृति एव दार्शनिक विकास का एक महान युग थी। विभिन्न दर्शन–अद्वैतवादी, द्वैतवादी एव स्पष्टत भौतिकवादी-अपनी विवेकपूर्ण स्वीकृति के लिए परस्पर प्रतिस्पर्द्धारत थे। एक साहित्यिक एव कलात्मक प्रस्फुटन ने सुदीर्घकाल तक इसका अनुगमन किया। किन्तु आठवी शताब्दी ईस्वी पश्चात देश मे जिस मतवाद का सर्वाधिक प्रभाव बढा वह इहलोक से परे का दर्शन वेदान्त दर्शन था। वेदान्त मे भौतिक सत्ता को माया, मानव देह को आत्मा का बन्दीगृह और जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति को मानवजीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बताया। आत्मनिरोध, इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य, निस्पृहता एव ध्यान सर्वश्रेष्ठ गुण समझे जाने लगे। इस प्रकार, जब महान् चिन्तक इहलोक से परे के प्रश्नो के हल ढूढने मे व्यस्त थे तब शेष समाज सहज ही महत्वाकाक्षी नरेशों एव स्वार्थ-परायण पुजारियो के प्रभाव मे आ गया। कर्म सिद्धान्त ने, जो यह प्रतिपादित करता है कि वर्तमान जीवन के कष्ट हमारे पूर्वजन्म मे किये गए पापो का फल है, गरीबो को अपने निष्ठुर भाग्य से समभौता करने को समझा-बुझा लिया। प्रचलित जाति-प्रथा एव अस्पृश्यता का नृशस व्यवहार और भी कठोर बन गये। यूरोप के मध्ययुगीन अन्धकार–युग के प्रतिरूप एक सांस्कृतिक एव बौद्धिक अन्धकार-युग का भारत मे अवरोहण हुआ।

दुर्भाग्यवश भारत मे मध्ययुगीन अन्धकार को हटाने वाले किसी स्थानीय नवजागरण का उद्भव नही हुआ। कभी निरकुश राजा को हटा कर किसी लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना नही हुई। कोई ऐसा महत्वपूर्ण वैज्ञानिक आविष्कार नही हुआ जो अज्ञान मे डूबे हुए शान्त जीवन मे उथल-पुथल मचा दे। देश औद्योगिक क्रान्ति से अछूता बना रहा। इसमे कोई आश्चर्य नही कि उत्तर से आए हुए मुस्लिम आक्रमणकारियो ने शीघ्र ही हमारे देश पर अपना अधिकार कर लिया और अन्ततः ब्रिटिश शासन के अधीन हो गये।

भारतीय राष्ट्रवादियो ने अपनी कल्पना से जिन मिथ्या विश्वासों को गढ़ा उनमे

से एक यह है कि ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व भारत सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से उन्नत था तथा विदेशी शासन के कारण इस देश का पतन हुआ। भारतीय इतिहास पर एक उड़ती नजर डालने से ही यह मान्यता निराधार सिद्ध हो जाती है। यदि भारत वास्तव में एक उन्नत देश होता तो छः हजार मील दूर से हवाओं के सहारे चलने वाली लकड़ी की नावों में बैठकर आये हुए थोड़े से व्यापारियों ने इस देश को इतनी आसानी से न जीत लिया होता। उस समय भारत में निरकुशता, अन्याय एव अराजकता-सी थी तथा देश के अधिकांश लोगों ने ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित कानून व व्यवस्था का स्वागत किया।

यद्यपि वर्तमान शताब्दी के आरम्भ तक भारत में ब्रिटिश शासन के प्रगतिशील प्रभाव की सम्भावनाएँ पूर्णतः समाप्त हो गयी तथापि आंग्ल उदारवादी विचारों में निहित स्वतन्त्रता, बुद्धिवाद एव मानव गरिमा की चेतना के जीवन्त सम्पर्क में आकर भारत में विलम्ब से ही सही, नवजागरण का विकास होने लगा। उसने धार्मिक अन्धविश्वासों के विरुद्ध एक आन्दोलन का रूप लिया तथा इस प्रकार के सामाजिक उद्देश्यों का पक्ष लिया, यथा सती प्रथा समाप्त करना, विधवा-विवाह को कानून द्वारा मान्यता दिलाना, नारी शिक्षा को प्रोत्साहन देना, बालविवाह रोकना तथा अस्पृश्यता के बुरे चलन का विरोध करना। बगाल में राजा राम मोहन राय और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, महाराष्ट्र में लोकहितवादी जोतिबा फुले और जी. जी. आगरकर एव देश के विभिन्न भागों में अन्य स्वतन्त्रचेता व्यक्ति इस आन्दोलन के नेता थे। इस प्रकार के उदारवादी चिन्तक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के भी नेता रहे जिसका विगत शताब्दी के आठवें दशक में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के रूप में आरम्भ हुआ।

किन्तु, विलम्ब से आरम्भ हुए भारतीय नवजागरण को अवसर प्राप्त नहीं हुआ कि सामान्य जनता में व्याप्त अन्धविश्वास एव रूढ़िवादिता को नष्ट करने में प्रभावकारी योगदान दे पाता। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में ही राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व इन उदारवादियों से हट कर बाल गगाधर तिलक और आगे चल कर मोहनदास कर्मचन्द गान्धी जैसे लोगों के हाथों में आ गया। तिलक और गान्धी दोनों ही अदम्य साहस एवं निष्कलक चरित्र के व्यक्ति थे तथा राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप प्रदान करने का उन्हें श्रेय देना होगा। तथापि वे तत्कालीन भारतीय संस्कृति के मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते थे—वही मूल्य जो विगत हजार वर्षों तक भारतीय जीवन की सड़ांध के मूल में स्थित थे। तिलक की अपेक्षा गान्धी के बारे में यह कथन और भी अधिक सत्य है। गान्धी आधुनिक विज्ञान, आधुनिक उद्योग एव आधुनिक मशीनों तक के विरोधी थे तथा

इन्द्रिय-निग्रह, ब्रह्मचर्य, निस्पृहता एव ईश्वर-भक्ति के गुणो को अपनाने का उप-देश देते थे। वे किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा ग्रामीण भारत की समस्याओ को अधिक गहराई से समझते थे किन्तु वे लोगो की धर्मान्धता के भी प्रतिनिधि थे। उन्होने धर्म को राजनीति मे मिला दिया और "खिलाफत आन्दोलन" के आधार पर हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना का प्रयत्न किया।

परिणामत यद्यपि गान्धी के नेतृत्व मे राष्ट्रीय आन्दोलन की जड़े जनता मे पहुँच गयी किन्तु वह नकारात्मक ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन मात्र रहा जिसमे लोकतन्त्र के तत्वों का सर्वथा अभाव था। गान्धी अपने तरीके से लोकतन्त्र मे आस्था रखते थे किन्तु उन्होने जिस आन्दोलन का नेतृत्व किया वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन था, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का नही। इस आन्दोलन मे यद्यपि लोकतन्त्र के प्रति रुझान रखने वाले अनेक लोगो ने भाग लिया तथापि जनता की अभिरुचि राष्ट्रीयतापरक थी, लोकतन्त्रपरक नही। मूलत. अनुरोध विदेशी शासन को हटा कर उसकी जगह किसी प्रकार के स्वदेशी शासन की स्थापना का था। समाज रूढिगत था और उसमे आत्मविश्वास की कमी थी, प्रचलित समाज अन्ध-विश्वासो मे जकड़ा हुआ था। इस दशा मे गान्धी के नेतृत्व मे जनता राम-राज्य (उदार अधिनायकवादी शासन) के लिए लालायित थी, स्व-राज्य (स्वय द्वारा शासन) के लिए नही।

नवमानववाद की प्रासंगिकता-2

भारत कैसे स्वतन्त्र हुआ

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वरूप को देख कर आश्चर्य नही कि द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भिक सोपान मे अन्तर्राष्ट्रीय फासिस्टवाद की भारी विजयो ने इसे अविचलित बनाये रखा। वास्तव मे भारतीय राष्ट्रवादियो ने इन सफलताओं का स्वागत किया। उस समय समझदारी की आयु तक पहुँचे प्रत्येक भारतीय को स्मरण होगा कि किस प्रकार नात्सी विजयों के समाचार भारतीय राष्ट्रवादी खेमे मे हर्षोल्लास की लहर दौड़ा देते थे। इस तथ्य का उनके मन पर कोई प्रभाव नही पडता था कि युद्ध मे यदि अन्तर्राष्ट्रीय फासिस्टवाद की विजय हो गयी तो भारत के लिए पीढियो तक लोकतन्त्रीय स्वतन्त्रता की किंचित भी आशा नष्ट हो जायेगी। वे नकारात्मक राष्ट्रवाद से प्रेरित होकर इंग्लैण्ड की पराजय की कामना करते चाहे उसका तात्पर्य विश्व मे अन्तर्राष्ट्रीय फासिस्टवाद की सफलता और लोकतन्त्र का खात्मा ही क्यों न हो। जवाहरलाल नेहरू के समान नेताओ ने अपनी फासिस्ट-विरोधी आस्था का प्रचलित ब्रिटिश-विरोधी भावना मे समायोजन कर लिया तथा यह रुख अपनाया कि भारत स्वतन्त्रता प्राप्त किये बिना फासिस्टवाद के विरुद्ध सघर्ष नही करेगा। इन नेताओं ने गान्धी के युद्ध विरोधी आन्दोलन, अगस्त 1942 की योजना (तथाकथित 'भारत छोडो' आन्दोलन) ऐसे सकटकाल में स्वीकार कर ली जबकि पूर्व दिशा मे फासिस्ट सेनाएँ तुरन्त हमारे देश पर आक्रमण कर उसे रौंदने को सन्नद्ध थी। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तर्राष्ट्रीय फासिस्टवाद की पराजय मे कुछ भी योगदान नही था जिसके परिणामस्वरूप भारत सहित अनेक उपनिवेशो को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

यहाँ हम भारतीय राष्ट्रवाद द्वारा प्रसारित दूसरी मिथ्या कल्पना का सामना करते है कि गान्धी के नेतृत्व मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने देश को स्वतन्त्र कराया। वास्तव मे गान्धी के नेतृत्व मे विकसित नकारात्मक राष्ट्रीय आन्दोलन कभी इतना समर्थ नही था कि एक शक्तिशाली साम्राज्यवाद को हटा पाता। इतिहास का साक्ष्य है कि गान्धी ने अगस्त 1942 को जो 'भारत छोडो' आन्दोलन छेड़ा वह नवम्बर 1942 तक शान्त हो गया था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद

का अन्त 'भारत छोडो' आन्दोलन के कारण नही वरन् उन आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तनो के कारण हुआ जो द्वितीय विश्व-युद्ध मे इगलैण्ड के फासिस्ट-विरोधी शक्तियों का साथ देने और अन्तत फासिस्ट शक्तियो की पराजय से घटित हुए। भारत मे एम एन राय ने सार्वजनिक रूप से इस सम्भावना का प्रतिपादन किया था तथा इस आधार पर युद्ध मे अग्रेजो की सहायता करने का समर्थन किया था। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ने अन्तिम सोपान मे भारत को स्वतन्त्रता दिलाने का कोई प्रयत्न नही किया। उसका प्राप्य यही था कि द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात ब्रिटिश शासको ने स्वेच्छापूर्वक सत्ता का हस्तान्तरण किया जो भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के हाथो मे आ गयी पर वह भी देश के विभाजन और मातृघाती साम्प्रदायिक सहार के बाद जिसमे लाखो हिन्दुओं, मुसलमानो और सिक्खो ने एक दूसरे की नृशसतापूर्वक जान ली थी।

स्वतन्त्रता के बाद भारत

इस पृष्ठभूमि मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत मे अधिनायकवादी शासन का विकास होना बहुत स्वाभाविक था। ऐसा नही हुआ इसका कारण जवाहरलाल नेहरू का विशिष्ट व्यक्तित्व था। वे स्वय लोकतन्त्री सहजवृत्ति के मनुष्य थे। फिर भी वे इस देश के निर्विवाद नेता थे जहाँ लोकतन्त्रीय मूल्यो को महत्व देने वाले व्यक्तियों की सख्या बहुत सीमित थी। उनकी अतुल सामजस्य बनाये रखने की योग्यता के कारण यह सम्भव हुआ। यदि राजनीति इष्ट-सिद्धि का विज्ञान है तो वे एक पूर्णत दक्ष राजनीतिज्ञ थे। तथापि यह राजनीति सत्ता हथियाने की राजनीति होने के कारण सिद्धान्तरहित सत्ता की होड मे परिणत होने को उन्मुख रहती है। नेहरू के जीवन काल मे यह परिणति नही हुई क्योकि उनके नेतृत्व को कभी गम्भीर चुनौती नही दी गयी। लोकप्रिय भावनाओं की धारा के विरुद्ध तैरना अथवा जनता के अन्ध-विश्वास व रूढिग्रस्तता को तोड़ने का शायद ही उन्होने प्रयास किया हो। तदुपरान्त भी उनके शासन-काल मे मे देश के सास्कृतिक परिमण्डल मे कुछ शुभ परिवर्तन हुए। इसका श्रेय औद्योगिक विकास के कारण प्रतिफलित आधुनिक-बोध, प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा की प्रगति तथा कतिपय लोकतन्त्र-विश्वासी जनो एव सुधारको की है जो सत्ता की राजनीति से अलग बने रहे।

इन्दिरा गान्धी ने भारत की प्रधान मन्त्री बनने पर अपने पिता जवाहरलाल नेहरू द्वारा अपनायी गयी जनप्रिय राजनीति की पद्धति को अग्रसर किया तथा उसे और भी सँवारा। किन्तु ज्योंही जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व मे जन-आन्दोलन द्वारा उनके सत्ता के एकाधिकार को चुनौती दी गयी, उन्होने आपात स्थिति की

घोपणा कर दी। प्रतिपक्ष के सभी नेताओ को जेलों मे बन्द कर दिया तथा अखबारो पर इतने कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये जैसे कि ब्रिटिश शासन के दमनकारी युग मे भी कभी नही लगे। इन्दिरा गान्धी ने जिस आसानी से लोकतन्त्री अधिकारो एवं नागरिक स्वतन्त्रताओ का सफाया कर दिया उससे भारतीय लोकतन्त्र का सतहीपन स्वयमेव सिद्ध हो गया। यदि इन्दिरा गान्धी ने मार्च 1977 मे आम चुनाव कराने की हिमालय जैसी भूल न की होती तो उनका निरकुश शासन आज तक भी वैसा ही बना रहता।

भारतीय मतदाताओ ने इन्दिरा गान्धी के सत्ताधारी दल को मार्च 1977 मे पराजित कर अपनी राजनीति प्रबुद्धता का परिचय दिया। किन्तु चुनाव के बाद के अनुभव ने प्रकट कर दिया कि भारत में अभी भी लोकतन्त्र अस्थिर एवं अनिश्चित है। चुनाव मे इन्दिरा गान्धी की पराजय के बाद जनता पार्टी सत्ता मे आयी। जनता पार्टी आन्तरिक झगड़ो से विभाजित थी। वह प्रमुख नेताओ की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा एवं परस्पर प्रतिस्पर्धा से विछिन्न तथा पूर्णतया बदनाम हो गयी। फलत: 1980 के चुनाव के बाद इन्दिरा गान्धी पुनः सत्ता मे आ गयी और देश पुनः अधिनायकवाद की ओर खिसकने लगा।

भारतीय लोकतन्त्र की निर्बलता इस तथ्य से उजागर होती है कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के पैंतीस वर्ष बाद भी विशाल जन-समूह की कठोर करुणाजनक स्थिति में किंचित भी मोच नही आ पायी है। यद्यपि औद्योगिक एव कृपि उत्पादन मे उल्लेखनीय प्रगति हुई है किन्तु, उससे होने वाला लाभ एक तो जनसख्या की बेहद वृद्धि के कारण तथा दूसरे सम्पत्तिवान लोगो द्वारा उसे हड़प लेने के कारण निःशेप हो गया है। निर्धनता, बेकारी एवं आर्थिक असमानता निरन्तर बढ़ती ही जा रही है।

इससे भी अधिक विक्षोभकारी दशा यह है कि राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन का नैतिक स्तर अत्यधिक गिर गया है। प्रशासन भ्रष्टाचार एवं अयोग्यता से पूर्ण तथा उस जनता के प्रति उपेक्षाशील बना है जिसकी सेवा के निमित्त ही वह है। यह आशा थी कि देश के औद्योगीकरण के प्रभाव से जाति-प्रथा एव अस्पृश्यता का बुरा चलन समाप्त होगा किन्तु मुख्यत: सिद्धान्तहीन दलगत

[illegible]

भी नही है।

इस प्रकार का विकारग्रस्त, सतही एवं अत्यन्त अन्यायपूर्ण लोकतन्त्र अधिक दिनो

तक भारत मे जीवित नही रह सकता। इसके स्थान पर या तो जनाकर्षक नारों का भुलावा देकर खुला अधिनायकवाद स्थापित होगा अथवा लोकतन्त्र की जडे अधिक गहरी पैठेगी और वह राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक क्षेत्रो मे व्यापक प्रभावशील बनेगा। दूसरे विकल्प के लिए लोगों मे मानववादी मूल्यों के प्रसार की आवश्यकता होगी। जनता को जागरूक होकर समुचित सस्थाओ का निर्माण करने की पहल करनी होगी तथा विद्यमान राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक सस्थाओ के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के लिए उपयुक्त कदम उठाने होगे।

हमने भारत के विगत एव वर्तमान की चर्चा को कुछ विस्तारपूर्वक किया है क्योंकि तीसरे विश्व मे इस देश की निर्णायक स्थिति है। तीसरे विश्व मे स्वतन्त्रता का भविष्य तात्त्विक रूप से इस बात पर निर्भर रहेगा कि भारत किसी प्रकार के स्वदेशी अधिनायकवाद को आत्म-समर्पण कर देता है अथवा एक स्थायी लोकतन्त्र के रूप मे विकसित होता है।

साम्यवादी देशो में स्वतन्त्रता

विश्व के सभी स्वतन्त्रता-प्रेमी लोगो ने सन् 1917 मे रूस मे साम्यवादी क्रान्ति की सफलता के समाचार को आश्चर्यपूर्ण हर्षोल्लास के साथ सुना। स्टालिन द्वारा नियोजित प्रमुख साम्यवादी नेताओ के निष्कासन एव हत्याओ के बावजूद सोवियत रूस के प्रति पर्याप्त निष्ठा बनी रही जो द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के सकट-काल मे अपनी चरम सीमा पर थी। परन्तु, युद्ध समाप्त होने के बाद से सोवियत रूस की लोकप्रियता मे निरन्तर ह्रास हुआ है। इसके पश्चात् चीन मे और बाद मे कुछ अन्य देशो मे साम्यवाद का वैसा उत्साहपूर्ण स्वागत नही हुआ जैसा रूसी क्रान्ति का किया गया था। इस पर तो कोई विश्वास नही करता कि साम्यवाद मे राज्य-सत्ता नष्ट हो सकेगी परन्तु निश्चय ही यह आशा रखने का सभी को अधिकार था कि साम्यवादी राज्य मे भी वर्ग-हीन समाज की स्थापना के पश्चात् वहाँ के नागरिको को विचारो की, अभिव्यक्ति की एव सगठन की स्वतन्त्रता होगी। रूसी-क्रान्ति के साठ से अधिक वर्ष बाद तथा चीनी क्रान्ति के प्रायः तीस वर्ष बाद भी वहाँ के नागरिको को कथित स्वतन्त्रता प्राप्त नही है। स्वतन्त्रता के जिस महान स्वप्न से मार्क्स तथा एगल्स मूलत: प्रेरित हुए थे वह साम्यवादी जगत् मे कही भी नही दिखायी देता। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे साम्यवादी राष्ट्रवाद पूँजीवादी देशो के राष्ट्रवाद से भी अधिक कट्टरता लिए है। तीस वर्ष से चल रहे रूसी-चीनी सघर्ष तथा हाल मे

वियतनाम व कम्बोदिया (कम्पूचिया) तथा चीन व वियतनाम के युद्धो ने साम्य-वादी अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को मिथ्या कल्पना सिद्ध कर दिया है।

अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि साम्यवादी देशो मे अधिनायकवादी शासन का विदेशी आक्रमण के परिणाम स्वरूप अन्त नही होगा। इस प्रकार के किसी भी आक्रमण से विश्व-युद्ध छिड जायेगा जो ऐसा विराट विध्वंस ला देगा कि मानव-सभ्यता नष्ट हो जागेगी। इसका विकल्प केवल यही है कि स्वय साम्यवादी समाजों मे सामाजिक-सास्कृतिक परिवर्तन उपस्थित हो और उनके परिणाम स्वरूप साम्यवादी तानाशाही में क्रमिक नमनीयता आये तथा अन्ततः तानाशाही शासन समाप्त हो। यह परिवर्तन साम्यवाद से पूंजीवाद की ओर लौटने की दिशा मे नही होगे। पूंजीवादी असमानता एवं असुरक्षा साम्यवादी निरंकुशता का कोई आकर्षक विकल्प नही हो सकते। साम्यवाद का क्रमश मानवीकरण ही अधिक सम्भावनापूर्ण दृश्याधार है।

उपलब्ध साक्ष्य यद्यपि पूर्णतया समरूप नही है तथापि यह विश्वास करने का कारण अवश्य है कि साम्यवाद क्रमशः मानवीकरण के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। आज रूसी अधिनायकवाद स्टालिन-युग जैसा उग्र एवं निरंकुश नही है। यह स्वाभाविक है कि युद्ध से पूर्व के अधिकाश अकुशल श्रमिको की अपेक्षा आज के कुशल रूसी श्रमिक अधिक आत्म-विश्वासी एव अपने स्वत्वो के प्रति सचेत हो तथा इस तत्व का रूसी तानाशाही की उग्रता पर आशिक प्रभाव पडे बिना नही रह सकता। युगोस्लाविया, पोलैण्ड एवं कुछ अन्य पूर्वी यूरोपीय देशो मे साम्य-वाद के मानवीकरण की प्रक्रिया अधिक स्पष्ट दिखायी देती है। पश्चिमी यूरोप (यूरो-साम्यवाद) के साम्यवादी दलो द्वारा खुले रूप मे संशोधनवाद को अपनाना भी इसी दिशा की ओर सकेत करता है।

आज का मानववाद अनिवार्यतः मार्क्सवाद के आगे का दर्शन है। उसमे साम्य-वादी राज्य को मानवीय राज्य मे रूपान्तरित करने की सम्भावना निहित है।

पश्चिमी लोकतन्त्रीय देशों की समस्याएँ

पश्चिमी लोकतन्त्रीय देश फासिस्टवाद के बूटो के लोहे के तलो के नीचे कुचले जाने से बाल-बाल बचे। जिन देशों को यूरोपीय रिनेसाँ के रूप मे मानववादी क्रान्ति का अनुभव रहा, उन्होने फासिस्ट प्रेरणा के सामने इतनी आसानी से हार क्यों स्वीकार कर ली यह विचारणीय है।

औद्योगिक क्रान्ति के विस्तार के साथ पूंजीवादी व्यवस्था की स्थापना ने खेतिहर मजदूरो को सामन्ती शोषण से मुक्ति दिला दी। परन्तु साथ ही सामन्ती

व्यवस्था मे उन्हे जो सुरक्षा मिली हुई थी, वह अब नही रही। वे नये उद्योग-पतियो के यहाँ नौकरी करने और उनके द्वारा शोषित होने को स्वतन्त्र थे। यदि उन्हे नौकरी नही मिल पाती तो उनके लिए सामन्ती बन्धन से मुक्ति का अर्थ भूखे रहना ही होता। बार-बार आनेवाली औद्योगिक मन्दी से समस्या गम्भीरतर हो जाती तथा व्यापक बेकारी फैलती। इन परिस्थितियो मे आश्चर्य नही कि असुरक्षा की भावना से बचाव के लिए अधिकाधिक औद्योगिक श्रमिको से आग्रह किया गया कि वे अपनी वैयक्तिक पहचान भुलाकर उसे एक शक्तिशाली सामूहिकता मे विलीन कर दें। यह सामूहिकता श्रमिक वर्ग अथवा राष्ट्र के दैवीकरण के रूप मे सयोजित हुई। वैयक्तिक स्वतन्त्रता जो लोकतन्त्र का आधार है, का साम्यवाद एव फासिस्टवाद के द्वैत के बीच दम घुट कर रह गया। इन दोनो मे से पश्चिमी लोकतन्त्रीय देशों मे आरम्भिक अवस्था मे फासिस्टवाद को अपेक्षतया अधिक सफलता मिली क्योकि उच्च वर्गों के कुछ समुदायो का उसे समर्थन प्राप्त था।

रिनेसाँ-मानववाद एव रिनेसाँ के बाद बौद्धिक जागरण मे वह शक्ति नही थी कि फासिस्टवाद की बढती लोकप्रियता मे गर्भित सास्कृतिक ह्रास को रोक सके। इसका कारण यह रहा कि स्वतन्त्रता, बुद्धिवाद एव स्वप्रेरित नैतिकता के मानववादी मूल्यो को जिन्हे रिनेसाँ ने मान्यता देकर प्रोज्ज्वल बनाया, अभी तक पुष्ट वैज्ञानिक आधार प्राप्त नही हुआ था। सन् 1860 तक वैज्ञानिक रूप मे यह प्रतिपादित नही किया गया कि अनेक जैविक जातियों की तरह मनुष्य का भी विकास हुआ है। तब मनोविज्ञान अस्तित्व मे नही आया था। मानवी विवेक का उद्भव अज्ञात था तथा मानव स्वप्रेरित नैतिक कर्ता है, यह बलपूर्वक कहने का कोई धर्मनिरपेक्ष स्पष्टीकरण उपलब्ध नही था। अतः पूंजीवादी व्यवस्था के समाज मे मँडराती हुई असुरक्षा का सामना करने के लिए रहस्य-मयता एव प्रयोजनवाद का सहारा लिया गया। मानववादी मूल्यो के सुदृढ वैज्ञानिक आधार के अभाव मे यह आश्रय अपनाना आश्चर्यकारी नही था। इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि मे जिन सिद्धान्तो ने अपने पाव सुदृढ किये उनमे एक यह था कि राष्ट्र एक स्वतन्त्र सत्ता है जिसकी अपनी नियति है तथा व्यक्ति की मुक्ति इसी मे है कि वह स्वय को इस सामूहिकता के प्रति समर्पित कर दे।

पश्चिमी लोकतन्त्रीय देशो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय फासिस्टवाद पर अत्यन्त कठिनता से प्राप्त विजय से सौभाग्यवश मानव सभ्यता की कम-अज-कम कुछ समय के लिए रक्षा हो गयी। तथापि द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद औद्योगिक समुन्नत देशों मे पूंजीवाद ने असाधारण लचीलापन दर्शाया है। पूंजीवाद के

इस पुनरुज्जीवन का आधार दो तत्त्व है। प्रथम है कीन्स-सिद्धान्त के उपाय-ब्याज की दरो एवं सार्वजनिक व्यय का कुशल प्रयोग द्वारा औद्योगिक तेजी एवं मन्दी से होने वाले उतार-चढाव के अन्तर को कम करना। दूसरा है, व्यापक पैमाने पर सामाजिक सुरक्षा के उपायो को अपनाना जिसमे प्रायः सचेतन रूप से कल्याणकारी राज्य की स्थापना का उद्देश्य सन्निहित होता है।

यह प्रतीत नही होता कि इन उपायो से पूंजीवाद उत्पादन की अराजकता एव पूंजीवादी वितरण की असमानता का निराकरण हो गया हो। अवश्य औद्योगिक विकसित लोकतन्त्रीय देशो मे वास्तविक मजदूरी का स्तर विगत काल से कही अधिक ऊँचा है तथा आर्थिक व्यवस्था के प्रति आन्तरिक असन्तोप भी अधिक तीव्र नही है। इसके विपरीत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर वर्षों से एक असमंजसपूर्ण दृश्य –'स्टेगफ्लेशन' (वृद्धि अवरोध-युक्त स्फीति) का आधिपत्य दिखाई देता है। मूल्य वृद्धि का स्तर एवं बेकारी का स्तर समान रूप से निरन्तर साथ-साथ बढ़ रहे हैं। जो बेकारी अनुदान दिया जा रहा है वह कभी भी वास्तविक नौकरी का सन्तोपजनक विकल्प नही हो सकता। आर्थिक समृद्धि के समग्र दृश्य-चित्र को विरूप बनाने वाले निर्धनता के बड़े-बडे धब्बे फैले दिखायी दे रहे हैं। कोई आश्वासन नही कि पश्चिमी लोकतन्त्रीय देशो ने किसी जीवन्त और सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करने मे सफलता पायी हो।

पुनः औद्योगिक क्रान्ति के बाद के उपभोक्ता समाज मे गम्भीर रोग के निश्चित चिह्न प्रकट होने लगे है। बहु-राष्ट्रीय एवं अन्य बड़ी उत्पादक इकाइयो की संख्या मे बढोत्तरी के साथ व्यापारिक नैतिकता का स्तर गिरा है। ईमानदारी अब सर्वोत्तम नीति नही रह गयी। ऐसे उदाहरण अधिकाधिक बढ़ रहे हैं जहाँ बहु-राष्ट्रीय उद्योगो ने सर्वोच्च राजनीति सत्ताधारियो को रिश्वत दी तथा उपभोग को उत्प्रेरित करने के लिए उद्योगपतियो ने धोखाधडी के तरीके अपनाये। सम्प्रति, औद्योगिक समाज द्वारा आर्थिकता को अत्यधिक महत्त्व देने के विरुद्ध वितृष्णा भी बढ़ रही है। युवक-युवतियो मे नशीले पदार्थों के सेवन के प्रति आकर्पण बढ रहा है अथवा वे हिप्पी बन कर भारत जैसे देशो मे समुद्र-तटो या पहाड़ी प्रदेशो मे भटकते फिरते हैं। अन्य लोग प्राच्य निगूहन वृत्ति को अपना रहे हैं, बचकानापन भरे हरेकृष्ण आन्दोलन मे भाग लेते हैं अथवा योगियो एव बाबाओ के अनुयायी बनते हैं। धार्मिक कट्टरपंथी गर्भ-निरोध और "सुखदायी-मृत्यु" के अधिकार का विरोध करते हैं। सम्प्रति, पश्चिमी लोकतन्त्रीय देश एक सन्तोपप्रद विचारधारा के अन्वेषी बने भटक रहे हैं।

एक वैज्ञानिक आधार पर मानववादी मूल्यो की पुनर्स्थापना करने के संकल्प से प्रेरित बीसवी शताब्दी के नवजागरण की सम्प्रति औद्योगिक उपभोक्ता समाजो को भी वैसी ही आवश्यकता है जैसी विश्व के अर्द्धविकसित भागो एवं उन देशो को जहाँ वर्तमान मे तानाशाही शासन स्थापित है ।

सामयिक विचारधाराओं की असफलता

पिछले अध्याय मे समकालीन स्थिति के चर्चे से प्रकट होता है कि सामयिक विचारधाराएँ एक स्वतन्त्र एवं वास्तविक लोकतन्त्रीय समाज के संवर्द्धन मे असफल रही हैं। यह जानना लाभदायक होगा कि जो विचारधाराएँ मानव-कल्याण की भावना से उत्प्रेरित थी, वे उसे प्राप्त करने मे क्यों हत-दर्प हो गयीं।

इस दृष्टि से जिन विचारधाराओं की चर्चा करना आवश्यक है वे है उदारवाद, मार्क्सवाद तथा लोकतन्त्रीय समाजवाद। एक चौथी विचारधारा भी भारतीय सन्दर्भ मे प्रासगिक है गान्धीवाद।

उदारवाद की अक्षमताएँ

यूरोपीय रिनेसाँ ने मानववादी क्रान्ति को जन्म दिया। उदारवाद ने उसे और भी आगे बढ़ाया। उदारवाद की सराहनीय विशिष्टता इसकी धर्म-निरपेक्ष विचारधारा थी तथा इसने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को केन्द्रीय मूल्य माना। इसने राजनैतिक नेताओं एव समाज-सुधारको की अनेक पीढ़ियों को प्रबल प्रेरणा दी। इसने पश्चिम मे आधुनिक लोकतन्त्र को वैचारिक आधार प्रदान किया। तथापि कालान्तर मे इसका आकर्षण नष्ट हो गया और इसकी असफलता ने साम्यवाद एव फासिस्टवाद के युग्म विचारो को जन्म दिया। फासिस्टवाद की पराजय हो जाने के बाद भी पश्चिमी जगत् में उदारवाद का पुन. पूर्वकालिक सम्मान नही प्राप्त हुआ।

स्वतन्त्रता के दर्शन के रूप मे उदारवाद की असफलता का प्रमुख कारण इसके "अहस्तक्षेप नीति" अपनाना था। उदारवाद ने एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त का समर्थन किया कि पूँजीवाद एक स्वय-समंजनकारी अर्थ-व्यवस्था है तथा समग्रत: समाज के अधिसख्यक लोगो का हित उसी दशा मे होगा जब प्रत्येक व्यक्ति को अपने हित की दृष्टि से कार्य करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो एव इसलिए किसी भी लोकतन्त्रीय राज्य की सर्वोत्तम नीति यही होगी वह आर्थिक मामलों मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। इस सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता के कारण जो कि स्पष्टत: पूँजीपति वर्ग के पक्ष मे है, उदारवाद के पास इस तर्क का कोई वास्तविक समाधान नही था कि वह औद्योगिक श्रमिको के शोषण एव आर्थिक क्षेत्र मे उनकी

असुरक्षा की भावना को बढ़ावा देता है। आर्थिक शोषण को कम करने के उद्देश्य से उदारवादी राजनीतिज्ञो ने समय-समय पर कुछ कानून अवश्य बनाये किन्तु व्यापक रूप मे समाज के दलित वर्ग के वे कभी सकट-त्राता नही बने। यदि आर्थिक सम्पन्नता का भाव स्वतन्त्रता के आदर्श मे निहित हैं—जो निस्सन्देह उसका अभिप्रेत है—तो स्पष्ट है कि उदारवाद व्यावहारिक रूप मे स्वतन्त्रता का दर्शन नही रहा।

उदारवाद की असफलता का द्वितीय कारण है उदारवादी लोकतन्त्र का सतही होना। उदारवादी अवधारणा मे ससदीय लोकतन्त्र केवल नाम का अथवा रूपात्मक मात्र है। यह जनता के लिए शासन का प्रतीक है न कि जनता द्वारा शासन का। ससदीय लोकतन्त्र मे एक निश्चित अवधि की आवृत्ति होने पर जनता अपने शासको को चुनती है किन्तु अपने देश के शासन मे इसके अतिरिक्त उसकी कोई साझेदारी नही होती। दो चुनावो के बीच सम्पूर्ण राजनैतिक सत्ता केवल कुछ हाथो मे केन्द्रित हो जाती है तथा जनता पूर्णतः खण्ड-खण्ड विभाजित बनी रहती है। इन बेसहारा व्यक्तियों के लिए राजनैतिक तौर पर कुछ भी करने योग्य शेष नही रहता। कानून द्वारा नागरिक स्वतन्त्रता सुरक्षित होने पर भी उन लोगों की करुणाजनक आर्थिक स्थिति होने से केवल उच्च वर्ग के लोग ही उसका उपभोग कर पाते है एव पिछडे वर्ग के लोग अधिकारो का लाभ नही उठा पाते! लोकतन्त्र अपने इस प्रकार के सतही रूप के कारण लोगो की निष्ठा अर्जित नही कर पाता तथा उसका ढाँचा कभी भी डगमग होकर गिर सकता है।

पुनः उदारवाद की अत्यन्त गम्भीर अक्षमता इस रूप मे भी प्रकट हुई कि वह नैतिक आचरण का कोई नैसर्गिक आधार प्रदान नहीं कर सका। उदारवाद उपयोगितावादी नीतिशास्त्र का अनुसरण करता है जिसमे "अधिकतम लोगों का अधिकतम हित" सिद्धान्त नैतिकता का प्रतिमान है। स्पष्ट ही इसमे यह अर्थ निहित है कि कोई कर्म नैतिक है या अनैतिक इसका निर्णय यह देखकर करना होगा कि परिणाम कैसा हुआ है न कि यह देखा जाये कि उसे प्राप्त करने के लिए जो साधन अपनाये गये वे कहाँ तक उचित हैं। यह सिद्धान्त कि "सिद्धि देखो, साधन चाहे कुछ भी हो" इसका स्वाभाविक उपलक्ष्य बन जाता है। उपयोगितावादी नीतिशास्त्र नैतिक मूल्यों की निरपेक्षता को अस्वीकार करता है तथा सापेक्षता के युगधर्म के कारण आचारहीनता को बढ़ावा देता है।

तथापि उपयोगितावादी नीतिमत्ता पूर्णतः अयथार्थपरक है। जब कोई व्यक्ति,एक अन्धे को गली पार करने के लिए सहायता प्रदान करता है तब वह "अधिकतम

लोगो का अधिकतम हित" करने की बात नही सोचता वरन् सहज मानवीय सहानुभूति से प्रेरित होकर ही ऐसा करता है। वस्तुतः उपयोगितावादी नीतिशास्त्र इस प्रश्न का कोई उत्तर नही देता कि व्यक्ति स्वयं अपने हित के बदले सामाजिक हित को क्यों प्रधानता दे, वैयक्तिक उपयोगिता के बदले सामाजिक उपयोगिता को क्यो नैतिकता का प्रतिमान माना जाए। इस आधारभूत प्रश्न का कोई उत्तर न मिलने के कारण उदारवाद केवल यह भरोसा करता है कि राज्य-सत्ता उपयोगितावादी सिद्धान्तो को कार्यरूप देने के लिए समुचित कानून बनायेगी। फलतः उपयोगितावाद एक कानूनी सिद्धान्त हो जाता है न कि नैतिक सिद्धान्त। कानूनी सिद्धान्त के रूप मे भी यह पूर्णतः लोकतन्त्रीय नही है क्योकि अधिकतम लोगों के अधिकतम हित के सिद्धान्त के विपरीत वास्तविक लोकतन्त्र मे प्रायः शक्तिशाली बहुमत के विरूद्ध निर्बल अल्प मत को सुरक्षा प्रदान करनी होती है।

उदारवाद की असफलता की परिणति दो विचारो में हुई जिन्हें एम.एन. राय ने "निर्बुद्धि की जुड़वा सन्तान" कहा है–एक पहलू साम्यवाद है और दूसरा पहलू फासिस्टवाद।

किन्तु, उदारवाद की विचारधारा एवं उदारवादी चेतना में अन्तर स्पष्ट कर देना उचित होगा। उदारवाद जहाँ विचारधारा के रूप मे निश्चय ही असफल हो गया वहाँ निस्सन्देह उदारवादी चेतना-स्वतन्त्र विचार, परस्पर सहिष्णुता एव व्यक्ति स्वातन्त्र्य के प्रति सम्मानपूर्ण भाव के रूप में मानवता के भविष्य की शाश्वत देन है।

मार्क्सवाद की अक्षमताएँ

मार्क्स अपने युग का सबसे महान् मानववादी था। यह आश्चर्यपूर्ण है कि उसकी आरम्भिक रचनाएँ सौ वर्षों से भी अधिक समय तक अप्रकाशित रही जिनमे प्रारम्भ मे उसने अपने दर्शन को "नवमानववाद" की संज्ञा प्रदान की थी। तदुपरान्त सन् 1848 मे कम्युनिस्ट घोषणापत्र जारी करते समय उसने अपने दर्शन का पुनः नया नामकरण "साम्यवाद" किया। व्यक्ति की स्वतन्त्रता एव प्रभुसत्ता की रक्षा करना उसका प्रिय लक्ष्य था। कम्युनिस्ट घोषणापत्र मे उसने उद्घोषित किया "सभी के स्वतन्त्र विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास एक पूर्व शर्त है।" वह एक महान् सदाचारी एव शब्दाडम्बर व छद्म के विरूद्ध दुर्धर्ष योद्धा था। तथापि उसने एक ऐसे दार्शनिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जो विश्व के बहुत बड़े भाग मे तानाशाही शासन की स्थापना का कारण बन गया। इस सम्प्रदाय ने एक ऐसे सत्ताभिमुख राजनैतिक आन्दोलन को जन्म दिया जो नैतिक

दु:शीलता एवं सिद्धान्तहीनता के कारण प्रसिद्ध है तथा सत्ता की अन्धी दौड़ में रत है।

मार्क्सवाद पर बीसियों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं एवं उनकी संख्या में अभिवृद्धि करना यहाँ प्रयोजन नहीं है। तथापि इस दृष्टि से एक संक्षिप्त विवरण देना समीचीन होगा कि मार्क्स के अभीप्सित लक्ष्य 'स्वतन्त्र व्यक्तियों के समाज की स्थापना' करने में मार्क्सवाद क्यों असफल रहा ?

यह आरम्भ में ही स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हाल ही में मार्क्स की कुछ रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। वे मार्क्स की पूर्व प्रकाशित उन रचनाओं से कुछ अंशों में भिन्न हैं जिसके आधार पर मार्क्स को समझा-बूझा गया है। किन्तु वर्तमान चर्चा में मार्क्स को क्रान्तिकारी विचारक के रूप में प्रस्तुत करना हमारा आशय नहीं है। हम स्वयं को उस विचारपद्धति तक सीमित रखेंगे जो मार्क्सवाद के नाम से जानी जाती है। मार्क्सवाद का यह रूप विश्व के विभिन्न भागों में साम्यवादी दलों के राजनैतिक व्यवहार को सैद्धान्तिक आधार प्रदान करता है।

मार्क्सवाद की प्राय: सभी कमियों एवं असफलताओं का मूलभूत कारण आर्थिक नियतिवाद (अथवा इतिहास की तथाकथित भौतिकवादी व्याख्या) के सिद्धान्त में देखा जा सकता है। यह सिद्धान्त मार्क्सवादी दर्शन का अनिवार्य आधार है।

स्पष्ट ही आर्थिक नियतिवाद का अर्थ केवल इतना नहीं है कि गरीबी का कष्ट सहने वाले लोगों की प्रमुख रुचि गरीबी को हटाना होती है–यह उक्ति तो स्वयंसिद्ध है। आर्थिक नियतिवाद एक इतिहास-दर्शन है, ऐतिहासिक विकास के आधारभूत कारणों की व्याख्या करने की एक विधि है। इसके अनुसार समाज का आर्थिक ढाँचा उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के रूप में लक्षित होता है जिसे वर्गसम्बन्ध निर्धारित होते हैं। वर्गसम्बन्ध आधारभूत सामाजिक यथार्थ है। नैतिक सिद्धान्तों एवं सांस्कृतिक मूल्यों में यह मूलभूत आर्थिक वास्तविकता अनिवार्यत: प्रतिफलित होती है एवं उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। लोग अपने आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित होकर कार्यरत होते हैं। फलत: सभ्यता का इतिहास वर्गसंघर्ष का इतिहास रहा है। ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में जब उत्पादन के साधनों का दुर्निवार विकास होता है तब तत्कालीन अवरोधक आर्थिक सम्बन्धों को तोड़ कर क्रान्ति जन्म लेती है।

आर्थिक नियतिवाद किस प्रकार मार्क्सवाद के प्रवर्तक के उद्देश्य को असफल बनाने का कारण बना, इसकी व्याख्या करने के पूर्व यहाँ यह इंगित करना आवश्यक है कि इस रूप में इतिहास की व्याख्या करना भौतिकवादी दर्शन का तर्कसम्मत निगमन नहीं था। भौतिकवाद (जिसे आगामी पृष्ठों में "एकात्मिक

प्रकृतिवाद" कहा गया है) पदार्थ एवं विचार की द्वैतता को स्वीकार नहीं करता वरन् विचार को मानव मस्तिष्क की उपज मानता है। अतः विचार भी उतने ही भौतिक (अर्थात् प्राकृतिक) हैं जितना कि सम्पूर्ण भौतिक यथार्थ का अन्य कोई अंश। भौतिकवाद यह अपेक्षा नही रखता कि इतिहास की गति में विचारो के योगदान को कम करके आंका जाये अथवा यह समझा जाये कि विचार आर्थिक यथार्थ की नीव पर आधारित ऊपरी ढांचा मात्र है जिनका अपना स्वतन्त्र प्रभाव नही होता। वस्तुत भाषा के विकास, साहित्य सर्जन मे वृद्धि एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान की बहुतायत के साथ इतिहास के निर्माण मे विचारो का अवदान निरन्तर बढ़ता गया है। विचारो के विकास एव सामाजिक घटनाओं की गत्यात्मकता के सम्बन्ध मे हम आगे मानववादी इतिहास-दर्शन पर विचार करते समय प्रकाश डालेंगे। यहाँ पर केवल यह रेखांकित करना अभिप्रेत है कि आर्थिक नियतिवाद आधारभूत भौतिकवाद अथवा प्राकृतिक एकात्मवाद का तर्कसम्मत निगमन नही है। यह उस दर्शन की गलत व्याख्या से व्युत्पन्न है, इस अनुचित पूर्वग्रह से कि जो "पदार्थ" है वह वास्तविक रूप में यथार्थ है तथा जो मानसिक है वह उसकी केवल प्रतिच्छाया है। वास्तव मे विचारों का मानव मस्तिष्क मे सर्जन होता है एवं यद्यपि वे तत्कालीन भौतिक एवं सामाजिक तथ्यो से प्रभावित होते हैं किन्तु स्वय स्वतन्त्र रूप से प्रभावकारी होते है तथा उनका सामाजिक विकास मे रचनात्मक योगदान होता है।

किसी सीमा तक किन्तु, केवल एक सीमा तक ही व्यक्ति के विचार अपने आर्थिक हितो से प्रभावित होते हैं। अतः आर्थिक नियतिवाद का सिद्धान्त एक अर्द्धसत्य है तथा अन्य अर्द्धसत्यो की तरह दुहरा दिग्भ्रमित करने वाला है। सर्वहारा क्रान्ति की मार्क्सीय भविष्यवाणी उन अनेक निष्कर्षों पर आधारित थी जो आर्थिक नियतिवाद के सिद्धान्तो से निगमित हुए अतः वे अंशतः सत्य किन्तु कालान्तर मे क्रमशः मिथ्या प्रमाणित हुए। इस कथन की सत्यता मार्क्सवाद की निम्नलिखित प्रमुख विशिष्टताओं को परखने से प्रमाणित हो जाती है।

1. सर्वहारा क्रान्ति की भवितव्यता

आर्थिक नियतिवाद की सुसंगति में मार्क्सवाद की यह पूर्व-मान्यता रही कि यद्यपि उन्नत मशीनो का उपयोग करने से श्रमिको द्वारा उत्पादन मे वृद्धि होगी तथापि पूंजीपति मालिको द्वारा श्रमिको को दी जानेवाली मजदूरी सदैव इतनी कम रहेगी कि उससे वे केवल अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी कर पायेंगे तथा उत्पादन कार्य को चालू रखेंगे। फलस्वरूप उत्पादक शक्ति एव पूंजीवादी व्यवस्था मे संघर्ष उत्पन्न होगा। उत्पादन मे सतत वृद्धि होने पर भी पूंजीवादी

अर्थव्यवस्था मे जनसख्या का वृहद अंश निरन्तर बढता मजदूर वर्ग निम्नतम जीवन-स्तर पर ही रहेगा जिससे उत्पादित वस्तुओं को खरीदने की उनकी क्रय-शक्ति नष्ट हो जायेगी। श्रमिको एव पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के बीच, एक ओर उत्पादन के बढ़ने एव दूसरी ओर श्रमिको द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपयोग करने की क्षमता मे कमी आने से उत्तरोत्तर आर्थिक सकट बढेगे और प्रत्येक भावी सकट पूर्वकालिक सकट से गम्भीरतर होगा और अधिकाधिक श्रमिक बेकारी के शिकार होगे। माँग से अधिक उत्पादन की समस्या विदेशी बाजार खोलने की ओर प्रवृत्त करेगी तथा साम्राज्यवादी शोषण अधिक गहरायेगा। तथापि यह उपशमनकारी उपाय अधिक दिनो तक पूंजीवाद की सुरक्षा नही कर पायेंगे। बढ़ते हुए उत्पादन के साथ अकिंचन सर्वहारा लोगो की इतनी सख्या बढ़ जायेगी कि वे विस्फोटक हो जायेंगे तथा पूंजीवादी व्यवस्था चरमराकर टूट जायेगी एव समाजवाद की नई व्यवस्था कायम होगी। सर्वहारा की विजय अपरिहार्य है, भवितव्य है।

यह स्फूर्तिमान चित्ताकर्षक भविष्यवाणी क्योकि अर्द्धसत्य पर आधारित थी अत: मार्क्स के जीवन काल मे तथा उसके अनेक वर्षों बाद भी सत्य घटित हुई। तथापि कालान्तर मे यह स्पष्ट हो गया कि घटनाएँ भिन्न दिशा मे मोड ले रही हैं। विकसित औद्योगिक देशो मे मजदूरी जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ को पूरी करने एव उत्पादन कार्य को बनाये रखने के स्तर पर नही रही। वहाँ मजदूरों के वेतन मे सदैव वृद्धि ही होती रही तथा उन देशो मे सम्प्रति स्थिति यह है कि मजदूरो का वेतन स्तर श्रमिकों द्वारा उत्पादन वृद्धि के समतुल्य बना रहता है। यही कारण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पश्चिमी देशो मे कई गुना उत्पादन बढ़ गया फिर भी मजदूर वर्ग विस्फोटक नही बना तथा वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था चरमराकर नही टूटी। ज्ञातव्य है कि आर्थिक नियतिवाद के सिद्धान्त के अनुसार पूंजीपति-वर्ग का व्यवहार नही रहा क्योकि उसने मजदूरो के वेतन स्तर को उत्पादन वृद्धि के साथ व्यावहारिक तौर पर बढ़ाना आरम्भ कर दिया। यह सही है कि आज भी औद्योगिक विकसित देशो तक मे पूंजीवादी उत्पादन तथा इसके कारण बढती आर्थिक असमानताएँ हैं न कि उत्पादन एव श्रमिक वर्ग के वेतन की विपरीत दिशाएँ।

अस्तु, जहाँ मार्क्स द्वारा परिकल्पित सर्वहारा-क्रान्ति किसी भी विकसित औद्योगिक देश मे नही घटित हुई वहाँ सर्वहारा (औद्योगिक मजदूर) के अभाव मे साम्यवादियों के नेतृत्व मे उन देशो मे क्रान्तियाँ हुई जो औद्योगिक दृष्टि से अविकसित थे यथा, 1917 मे रूस मे तथा 1949 मे चीन मे। रूसी क्रान्ति सर्वहारा

क्रान्ति नही थी, वह प्रथम विश्व-युद्ध से लौटे सैनिकों-जो मूल रूप में खेतिहार थे—युद्ध निवृत सैनिकों की सहायता से हुआ जनविद्रोह था। 1949 की चीनी क्रान्ति और भी स्पष्ट रूप मे कृषक विद्रोह थी जिसमें सर्वहारा (औद्योगिक श्रमिक) सर्वथा अनुपस्थित था। इन दोनो क्रान्तियो का मध्य वर्ग के विशिष्ट भाग से आये सर्वाधिक दृढ निश्चयी क्रान्तिकारी लोगो ने, जो कि साम्यवादी दलों के रूप मे संगठित थे, नेतृत्व किया। वास्तव मे सम्पूर्ण साम्यवादी आन्दोलन सदैव ही प्रमुख रूप से मध्यवर्गीय आन्दोलन रहा है जिस मे हिस्सा लेने वाले व्यक्तियो ने स्वय अपने आर्थिक लाभ की चिन्ता नही की और इस प्रकार स्वयं उनकी अभिप्रेरणा ही आर्थिक नियतिवाद के सिद्धान्त को मिथ्या सिद्ध करती है।

2. राज्य की प्रकृति

मार्क्सवाद ने "आर्थिक यथार्थ" को प्रधानता दी, फलतः राज्य उस सत्ता प्राप्त वर्ग की दमनकारी संरचना माना गया जो उत्पादन के साधनो का स्वामी भी होता है। यह माना गया कि सत्ताधारी वर्ग राज्य के माध्यम से अपने वर्ग के आर्थिक हितों की रक्षा करता है। इस मत के ससदीय लोकतन्त्र तात्त्विक रूप से एक पूंजीवादी तानाशाही है फिर भले ही वह नागरिक स्वतन्त्रताओ का एवं निश्चित समयावधिवाद चुनाव कराने का मुखौटा ओढे हो। यह कहा गया कि ससदीय लोकतन्त्र का मन्त्रीमण्डल सत्ताधारी पूंजीपति वर्ग की कार्यकारिणी समिति के समान होता है जिसका उद्देश्य अपने वर्ग के आर्थिक हितो की सुरक्षा एव संवर्द्धन करना रहता है। निष्कर्पतः यह अनिवार्य धारणा बनी कि इस प्रकार के राज्य को सुधारने के बदले नष्ट करना ही श्रेयस्कर होगा। राज्य में परिवर्तन लाना अथवा क्रमिक सुधार द्वारा उसे सुचारू बनाना सम्भव नही है वरन् क्रान्तिकारी प्रयत्न से उसे पलट देना ही होगा। यदि सर्वहारा के प्रतिनिधि उस मे सुधार का प्रयत्न करें भी तो सत्ताधारी पूंजीवादी वर्ग नागरिक स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्रीय अधिकारो का मुखौटा हटा कर सर्वहारा के नेतृत्व को नृशस दमनकारी उपायो से कुचल देगा। यह कहा गया कि "आप एक-एक पत्ता हटा कर प्याज को छील सकते हैं किन्तु एक-एक पंजे को दूर कर चीते को निहत्था नही कर सकते।" अतः आर्थिक क्रान्ति को सफल बनाने के लिए सर्वहारा वर्ग की राजनैतिक क्रान्ति को आवश्यक समझा गया।

मार्क्स के जीवनकाल मे एव कुछ वर्पोपरान्त राज्य के स्वरूप की यह व्याख्या विश्वसनीय प्रतीत होती थी किन्तु अनुभव ने अब यह दर्शा दिया है कि यह धारणा तथ्यो के सर्वथा विपरीत है। लोकतन्त्रीय देशों मे इस प्रकार के कानून बनाये गये हैं जो उद्योगपतियों के अधिकारो को सीमित करते हैं, श्रमिकों के

हितों की रक्षा करते हैं एवं पूंजीपतियों के उद्योगों के एक वृहद् भाग के राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था तक देते हैं। आज कोई समझदार व्यक्ति यह दावा नही करेगा कि इगलैण्ड मे मजदूर दल की पिछली सरकार का मन्त्रीमण्डल इगलैण्ड के पूंजीपति वर्ग की कार्यकारिणी समिति के समान था। स्पष्ट ही यह कहना मिथ्या है कि जिन देशो मे लोकतन्त्रीय सविधान लागू है वहाँ क्रान्ति के बिना अर्थव्यवस्था मे आधारभूत परिवर्तन नही लाया जा सकता।

इसके अतिरिक्त मार्क्सीय परिकल्पना की हिंसक क्रान्ति न केवल अनावश्यक है वरन् वर्तमान लोकतन्त्रीय राज्य मे यथार्थत. असम्भव है। इसका कारण यह है कि 19वी शताब्दी के मध्य मे (जब मार्क्स ने साम्यवादी घोषणा पत्र लिखा) राज्य जितना शक्तिशाली था उसकी अपेक्षा वह आज कही अधिक शक्तिशाली सगठन बन गया है जिसके नियन्त्रण मे प्रबल सैन्य बल रहता है। यह सही है कि जिन देशों मे निर्बल एवं अस्थायी लोकतन्त्र है वहाँ अभी भी क्रान्ति सम्भव है, किन्तु अधिक सम्भावना यही है कि उन देशो मे उत्तराधिकारी सरकार साम्यवादी तानाशाही न होकर सैनिक तानाशाही अथवा धार्मिक कुलतन्त्र हो। वास्तव मे आज विश्व मे अधिकतर तानाशाही शासन या तो सैनिक शासन है अथवा धार्मिक रूप का। इनके स्थान पर सर्वहारा तानाशाही की स्थापना किस प्रकार की जा सकेगी इस सम्बन्ध मे मार्क्सवादी मौन ही रहते हैं।

इस दृष्टि से यह विचारणीय है कि साम्यवादी घोषणापत्र मे दर्शायी गयी क्रान्ति से भिन्न सम्प्रति विश्व मे नये प्रकार की क्रान्ति के तरीके कौन से होगे। क्रान्ति के इन नये प्रकारो का एक सामान्य लक्षण यह होना जरूरी है कि वे वर्तमान सीमित लोकतन्त्र की अभिवृद्धि एवं प्रसार करने की भावना से नियोजित हों न कि उसके बदले किसी प्रकार का तानाशाही शासन थोप दे।

3. सर्वहारा वर्ग की तानाशाही

राज्य को इस रूप मे परिकल्पना करने के कारण कि वह प्रभावकारी आर्थिक वर्ग के हाथों मे दमनकारी हथियार है, मार्क्सवाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सफल क्रान्ति के पश्चात् सर्वहारा वर्ग अपनी तानाशाही स्थापित करेगा जो पूंजीपति वर्ग की समाप्ति एव वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए अपेक्षित शक्ति का प्रयाग करेगी। फिर, द्वितीय निष्कर्ष यह निकाला गया कि वर्गहीन समाज मे राज्य का प्रकार्य दमनकारी नही रहेगा अत: वह शीघ्र तिरोभूत हो जायेगा। तदुपरान्त नयी व्यवस्था होगी इस सम्बन्ध मे मार्क्स एव एगल्स ने अपना अभिमत प्रकट नहीं किया— बस सरसरी तौर पर एगल्स का यह वक्तव्य मिलता है कि मनुष्यो के शासन के बदले "वस्तुओं की शासन व्यवस्था" रहेगी। तथापि मानना होगा

कि मार्क्स एवं एंगल्स को उम्मीद रही होगी कि वर्गहीन समाज की स्थापना के बाद सर्वहारा तानाशाही समाप्त हो जायेगी एवं कदाचित् शासन का सूक्ष्मतम तन्त्र रह जायेगा जिसका प्रकार्य दमनकारी नही होगा।

निश्चय ही यह घटित नही हुआ यद्यपि रूस एवं चीन मे आर्थिक वर्गों के समाप्त हो जाने के बाद कई पीढ़ियाँ गुजर गयी हैं। तब प्रश्न उठता है कि वह कौनसा उद्देश्य है जिसकी पूर्ति के लिए तानाशाही का बना रहना जरूरी समझा गया है। साम्यवादी देशों में तानाशाही किसके हितो की रक्षा करने को कृतसंकल्प है। यह दावा तो मिथ्या होगा कि इन तानाशाहियों का उद्देश्य जनता के हितो की रक्षा करना है क्योकि स्पष्ट है कि वर्गरहित समाज में किसी भी देश की जनता का हित साधन वास्तविक लोकतन्त्रीय राज्य द्वारा ही हो सकता है। प्रश्न यह नही है कि रूस और चीन मे राज्य संस्था क्यो है, प्रश्न यह है कि वहाँ पर तानाशाही शासन प्रणाली क्यो कायम है। इसका विश्वसनीय उत्तर केवल यही हो सकता हैं कि आज के ससार मे महत्वाकाक्षी व्यक्ति आर्थिक सत्ता की अपेक्षा राजनैतिक सत्ता के प्रलोभन से अधिक आकृष्ट होते हैं, कि आज वास्तव मे आर्थिक सत्ता राजनैतिक सत्ता की मुखापेक्षी बनी रहती है, और यह कि सभी अधुनातन तानाशाही शासनो का वास्तविक उद्देश्य एव प्रकार्य सत्ता लोलुप शासको के निहित स्वार्थों की रक्षा करना होता है। यह बात सभी तानाशाही शासनों के बारे मे सत्य है, चाहे वे साम्यवादी हो या गैर साम्यवादी। कुछ तानाशाही शासन लोक हितकारी हैं एव कुछ नही किन्तु उनके अधिनायकवादी बने रहने का कारण है सत्ताधारियो के राजनैतिक निहित स्वार्थ।

आर्थिक नियतिवाद की धारणा है कि राजनैतिक सत्ता अर्थ शक्ति के इगित पर चलती है। मार्क्स के समय में कदाचित् यह बात सही रही हो पर तदन्तर राज्य की शक्ति एव प्रकार्य अनेक गुना बढ़ गये हैं एव आज स्थिति यह है कि आर्थिक शक्ति ही राजनैतिक शक्ति की क्रीत दास बन गयी है। आज आर्थिक निहित स्वार्थों की अपेक्षा राजनैतिक निहित स्वार्थ लोकतन्त्र के लिए अधिक गहरा खतरा बन गये हैं।

आर्थिक नियतिवाद के मिथ्यावाद का कारण इतना भर नही है कि वह मानव प्राणियों की परोपकारिता की अन्त:प्रेरणा के महत्व को कम करके आँकता है वरन् यह भी कि वह आत्मकेन्द्रितता की वृत्ति का प्रधान कारण सम्पत्ति का प्रलोभन ही मानता है। अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि सम्पत्ति के आकर्षण की अपेक्षा राजनैतिक शक्ति का प्रलोभन अहभाव की अधिक तुष्टि करता है।

4. वर्ग दृष्टि एवं आर्थिक प्रेरणा

आर्थिक नियतिवाद की पृष्ठभूमि मे तथा वर्ग-संघर्ष को प्रधानता देने के कारण स्वाभाविक है कि साम्यवादी सत्ता प्राप्त करने के लिए जो प्रोपेगेण्डा करते है वह अपरिहार्य रूप से मिल मजदूरो, गरीब किसानो एवं जनता के अन्य निर्धन तबको के आर्थिक हितो तक सीमित हो जाता है। यह भुला दिया जाता है कि यद्यपि निर्धनता से पीडित लोगो का प्रमुख उद्देश्य गरीबी के अभिशाप से मुक्ति पाना ही होता है, किन्तु वे भी मानव प्राणी हैं और उनकी भी सुसंस्कृत जीवन यापन करने की वैसी ही महत्वाकाक्षा रहती है जैसी कि समाज के उच्च वर्ग के लोगो की। निर्धन लोगो को केवल आर्थिक प्राणी मान लिया जाता है न कि सम्यक् मानव जो कि वे है।

व्यवहार रूप मे इसकी क्या परिणति होती है यह भारतीय राजनीति के सन्दर्भ मे बहुत स्पष्ट रूप मे दिखायी देता है। न केवल साम्यवादी तथा समाजवादी वरन् अधिकाश अन्य राजनैतिक दल भी केवल आर्थिक दृष्टिकोण की कार्यसाधकता मे विश्वास रखते हैं। इसी कारण सम्पूर्ण भारतीय राजनीति चालू उत्तेजक वामपथी नारो से गुञ्जायमान है। कोई भी राजनैतिक पार्टी ऐसी नही है जो जनता को व्यक्ति स्वातन्त्र्य एव मानव-गरिमा का सदेश देती हो अथवा रूढियो एव अधविश्वासो को छोडने व आत्मविश्वास और आत्मसंयम जगाने की प्रेरणा देती हो। दूसरे शब्दो मे, जनता में लोकतन्त्रीय मूल्यो के प्रसार का कोई प्रयत्न नही किया जाता। इसका परिणाम यह हुआ है कि साम्यवादियो सहित सम्पूर्ण भारतीय राजनीति सिद्धान्तहीन सत्ता की दौड़ मे लीन है। यदि भारतीय लोकतन्त्र का अस्तित्व बना रहता है एवं वह सुदृढ हो पाया तो इस उपलब्धि का श्रेय किसी भी र जनैतिक पार्टी को नही मिलेगा।

आर्थिक नियतिवाद का सिद्धान्त जिस एकागी दृष्टि को प्रधानता देता है उसका एक अन्य गम्भीर परिणाम यह हुआ है कि अनेक अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नो को पृष्ठभूमि मे डाल दिया गया है। उदाहरणार्थ, भारत मे मार्क्सवादी जनता की अशिक्षा दूर करने, अस्पृश्यता हटाने या जाति-व्यवस्था के कारण ऊँच-नीच के भेदभाव को दूर करने या परिवार-नियोजन की आवश्यकता पर बल देने आदि प्रश्नो के प्रति उदासीन बने रहते है। अपनी सफाई मे वे यह कहते हैं कि इन बातो मे जनता की तब तक कोई रूचि नही हो सकती जब तक उसकी आर्थिक समस्याओं का समाधान नही हो जाता। यह बलपूर्वक कहा जाता है कि केवल गरीबी हट जाने पर ही जनता मे सास्कृतिक कार्यों के लिए उत्साह जगेगा, वे

स्वयं शिक्षा प्राप्त करेंगे एवं अपने बच्चों को शिक्षा दिलायेंगे। सामाजिक कुरीतियों को दूर करेंगे तथा परिवार-नियोजन की आवश्यकता महसूस करेंगे।

इस कथन का मन्तव्य स्पष्ट है। साम्यवादी दल जैसी राजनैतिक पार्टी पहले सत्ता मे जायेगी तथा जनता की गरीबी एव शोषण को दूर करने के लिए आर्थिक पुनर्व्यवस्था करेगी। केवल इसके बाद ही जनता इस योग्य बनेगी कि वह स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्र को अपना सके। इस प्रकार, आर्थिक दृष्टि अनिवार्य रूप से अधिनायकवादी शासन की स्थापना करने के लिए उत्सुक बनी रहती है।

5. अवसरपरक नैतिकता

मार्क्सवाद की सर्वाधिक त्रासपूर्ण स्थिति यह है कि जो बात उसके लिए वरदान सिद्ध हो सकती थी उसी की उसने अवहेलना की। शोषण के कारण आर्थिक असमानताएँ उत्पन्न होती है, उसके प्रति सवेदनशील लोगो मे स्वभाव तथा नैतिक घृणा का भाव होता है जिसकी मार्क्सवाद ने उपेक्षा की। मार्क्सवाद ने इस नैतिक व्यग्रता को "भावुकतापूर्ण समाजवाद" कह कर हँसी उड़ाई एव अपने समर्थको से "वैज्ञानिक समाजवाद" अपनाने का आग्रह किया। उस ने आग्रह किया कि वे उस सर्वहारा क्रान्ति के अग्रदूत बनें जो ऐतिहासिक रूप मे अपरिहार्य है। वह इसलिए घटित नही होगी कि पूँजीवादी शोषण नैतिक घृणा के योग्य है वरन् इसलिए कि उत्पादन के साधनो के विकसित होने के कारण पूँजीवाद का अत अवश्यम्भावी है। मार्क्सवाद ने नैतिक मूल्यो को निरर्थक ही नही वरन् निश्चित रूप से हानिकारक बताया क्योकि वे सत्ताधारी पूँजीवादी वर्ग के स्वार्थों के रक्षक हैं। यह दावा किया गया कि वर्गरहित समाज मे भिन्न प्रकार के नैतिक मूल्य होगे। इस नैतिक नास्तिवाद के कारण व्यवहार मे साम्यवादी दलो ने यह सिद्धान्त अपनाया कि सिद्धि प्राप्त करने के लिए कोई भी साधन अपना लेना होगा। साम्यवादियो की कार्य-रीति निष्करुण, संकीर्ण एव नैतिक झिझक से रहित है, यह बात विश्व भर मे फैल गयी। इस कारण साम्यवाद की विश्वसनीयता को गहरा आघात पहुँचा।

और इस बीच रूस एवं चीन मे वर्गरहित समाज की स्थापना हो जाने के बाद भी अनेक दशको का लम्बा व्यवधान हो गया है परन्तु कथित विशिष्ट एवं वर्गरहित समाज के भिन्न प्रकार के नैतिक मूल्यो का वहाँ उद्भव नही हुआ है।

6. मताग्धपूर्ण अनुगमन की प्रवृत्ति

मार्क्सीय आन्दोलन की यह विशिष्टता रही है कि जो कुछ मार्क्स एव एंगल्स ने कहा, उसका वह अक्षरश: पालन करता है एव पवित्र मूल पाठ्य से कोई भी

स्खलन उसे असह्य है। मतान्धता की इस प्रवृत्ति का, जो प्रत्येक अधिनायकवादी आन्दोलन मे निहित रहती है, साम्यवाद मे लेनिन ने प्रवर्त्तन किया। लेनिन ने रूसी साम्यवादी दल को एक अत्यधिक सत्ता-केन्द्रित क्रान्तिकारी संगठन के रूप मे परिवर्तित कर दिया। लेनिन के जीवन काल मे एव तत्पश्चात् स्टालिन व ट्राट्स्की के बीच नेतृत्व के संघर्ष मे मतान्धता की प्रवृत्ति तीव्रतर होती गयी। वर्तमान स्थिति यह है कि साम्यवादी मुहावरे मे "संशोधनवाद" आज एक साम्यवादी द्वारा किया गया सबसे बड़ा अपराध है।

कोई भी वैज्ञानिक चाहे वह कितना ही महान् हो ऐसा वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रतिपादित नही कर सकता जिसके सम्बन्ध मे हम कह सकें कि भविष्य के अर्जित ज्ञान के बावदूद भी वह अपरिवर्तनीय रहेगा। यही बात विशेष रूप से सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध मे सही कही जायेगी। किसी भी वैज्ञानिक निष्पत्ति को सनातन सत्य मानना पूर्णतया अवैज्ञानिक है। मार्क्स के कथन का मतान्ध अनुगमन एव परवर्ती अनुभव के प्रकाश मे उसके संशोधन के प्रति असहिष्णुता की प्रवृत्ति ने मार्क्सवाद को नये कठमुल्लेपन मे बदल दिया है, एक नये धर्म मे जो कि वैज्ञानिक चेतना के विपरीत है।

लोकतन्त्रीय समाजवाद

लोकतन्त्रीय समाजवाद विचारधारा नही है, वह अधिक से अधिक एक उद्देश्य कहा जा सकता है। लोकतन्त्रीय समाजवाद के प्रति विश्वास रखने वाला व्यक्ति मार्क्सवादी, गान्धीवादी, उदारवादी, नवमानवतावादी अथवा केवल उपयोगितावादी इनमे से कोई भी हो सकता है। एक अलग विचारधारा के प्रकार, एक विशिष्ट विचार-प्रणाली के रूप मे लोकतन्त्रीय समाजवाद का विवेचन करना सम्भव नही है।

एक उद्देश्य के रूप मे लोकतन्त्रीय समाजवाद अस्पष्ट है क्योकि समाजवाद का भिन्न भिन्न लोगो की दृष्टि मे विभिन्न अर्थ हैं। कुछ विचारकों के अनुसार समाजवाद मे सभी उत्पादन, वितरण एव विनिमय के साधनो का राष्ट्रीयकरण होना अनिवार्य है। अन्य लोग समाजवाद को केवल संस्थागत व्यवहार तक ही सीमित नही मानते। उनकी धारणा है कि लोकतन्त्रीय समाजवाद की अर्थ-व्यवस्था मे कुछ विशिष्ट मूल्य यथा, स्वातन्त्र्य, समानता एव बन्धुत्व यथार्थ रूप मे चरितार्थ होते हैं। उनके अनुसार इन मूल्यो की प्रतिष्ठा मे राष्ट्रीयकरण कहाँ तक उपयोगी है, इसका निर्णय प्रयोग एव अनुभव के आधार पर करना होगा।

समाजवाद का द्वितीय रूप, यदि इसे समाजवाद की संज्ञा देना उचित समझा जाये,

नवमानववादी आदर्श समाज की परिकल्पना मे अपनायी गयी आर्थिक दृष्टि के निकटतर है। तथापि नवमानववाद का सामाजिक आदर्श लोकतन्त्रीय समाजवाद के कथित स्वरूप की अपेक्षा अधिक सर्वतोमुखी है।

गान्धीवाद

गान्धी ने स्वय अपने विचारो को एक सर्वतोमुखी सामाजिक दर्शन का रूप देने का कभी प्रयास नही किया न उनकी इस प्रकार की मशा थी। अपने वैयक्तिक जीवन मे वे प्रचलित हिन्दू वेदान्त दर्शन से प्रेरित थे जो व्यक्ति के लिए मोक्ष या निर्वाण अर्थात् इस जगत् में नही वरन् जगत् से मुक्ति -- आत्मा की जड काया से मुक्ति तथा आवागमन के बन्धन से मुक्ति को प्रधानता देता है। गान्धी-दर्शन के इस पक्ष के सम्बन्ध मे इतना कहना पर्याप्त होगा कि यह अवास्तविक एव अवैज्ञानिक है तथा सभी हिन्दू जो इसके प्रति अत्यन्त श्रद्धा प्रकट करते हैं अपने सम्पूर्ण जीवन भर इसके विपरीत आचरण करते है। गान्धी उन कतिपय व्यक्तियो मे से थे जो अपने उपदेश के अनुसार आचरण भी करते थे और इस कारण उनका सम्मान उचित ही किया जाता है।

तथापि गान्धी के व्यक्तिगत दर्शन एव उनके सामाजिक दृष्टिकोण मे स्पष्ट असगति थी। व्यक्तिगत रूप मे वे निग्रह व त्याग मे विश्वास करते थे क्योकि उनकी मान्यता थी कि शारीरिक सुख आत्मा के बन्धन के कारण बनते है। फिर भी, सामाजिक क्षेत्र मे वे लोगो की निर्धनता दूर करने के लिए प्रयत्नशील बने रहे जिस से उनकी शारीरिक जरूरतें पूरी हो। यह असगति गाधी-दर्शन का अन्तस्थ रोग है।

गान्धी का श्रेष्ठ गुण यह था कि उन्होने इस बात पर बल दिया कि राजनीति को नैतिकता से अलग नही माना जाये। सत्य एव अहिसा नैतिक सिद्धान्त थे जिनका उन्होने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे प्रवेश कराया। किन्तु वे बुद्धिवादी नही थे तथा उन्होने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए जो प्रयास किया उसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के रचनात्मक तत्त्व का स्पष्ट एव निर्भ्रान्त समावेश नही था। गान्धी की नैतिकता उनके धार्मिक विश्वास पर आधारित थी। राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेने वाले जो लोग धर्मविश्वासी नही थे वे इन नैतिक सिद्धान्तो के प्रति केवल मौखिक सहानुभूति प्रदान करते थे। गान्धी के निधन के बाद उनके अनुयायी, चाहे वे इस पार्टी मे हो या उसने अभी तक भारत की शासन व्यवस्था चला रहे है। इनके सम्बन्ध मे इतना भर कहना पर्याप्त होगा कि इन्होने व्यक्तिगत अथवा सगठित रूप मे नैतिक व्यवहार का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत नही किया। कतिपय गान्धीवादी दलगत राजनीति से विलग रहे तथा उन्होने जनता मे रह कर

गान्धीवादी सिद्धान्तो के अनुसार देशसेवा करने का निर्णय लिया। इनमे अधिकाश व्यक्ति नैतिक दृष्टि से उज्ज्वल चरित्र वाले हैं एवं उन मे कही अधिक श्रेष्ठतम जयप्रकाश नारायण आकर्षक व्यक्तित्व एवं निष्कलंक नैतिक चरित्र के धनी व्यक्ति थे। उनमे स्वातन्त्र्य के रचनात्मक आदर्श के लिए एक ज्वलन्त पिपासा थी जो गान्धीवाद के आश्लेष मे बँधने से पूर्व ही उनमे जमी हुई थी। जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा कि वह गान्धीवाद एव नवमानववाद के मध्यवर्ती मार्ग मे स्थित हैं।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को गान्धी ने सघर्ष के लिए नया हथियार प्रदान किया था–असहयोग आन्दोलन अथवा अहिंसात्मक प्रतिरोध। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष के लिए यह एक उपयुक्त साधन था। इग्लैण्ड मे लोकतन्त्रीय शासन होने के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद एक सीमा तक ही दमनपूर्ण था जिस से अधिक वह नृशस नही हो सकता था। जैसा कि विगत अध्याय मे दर्शाया गया है, भारत को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता मिलने का श्रेय गान्धी के नेतृत्व मे चलने वाले असहयोग आन्दोलन को इतना नही था जितना फासिस्ट-विरोधी युद्ध के परिणाम स्वरूप विश्व तथा स्वयं इग्लैण्ड में आये आर्थिक व राजनैतिक परिवर्तनों को था। एक निर्मम एव सिद्धान्तहीन अधिनायकवादी शासन के सामने अहिंसात्मक प्रतिरोध सफल नही हो सकता यह बात उस समय स्पष्ट हो गयी जब भारत में इन्दिरा गान्धी ने 1975 मे आपातकाल की घोषणा की। तथापि राज्यसत्ता द्वारा उठाये गये किसी गलत कदम के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए अहिंसात्मक प्रतिरोध आज भी एक उपयोगी अस्त्र है।

भारतीय राजनीति को गान्धीवाद की एक स्थायी देन उसके द्वारा राजनैतिक एवं आर्थिक विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता पर बल देना है। यह गान्धीवाद एव नवमानववाद दोनो का समान लक्षण है।

गान्धी ने पूँजीपतियों को सलाह दी कि उन्हे अपने धन को जनता का न्यास समझना चाहिए। वे जमीदारी प्रथा की समाप्ति एव उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के विरोधी थे। किन्तु, न्यास के सिद्धान्त का पूँजीपतियो पर कोई प्रभाव नही पड़ा तथा उसका व्यावहारिक उपयोग नही रहा।

भारत के कतिपय बुद्धिजीवियों मे इस बात का फैशन चल पडा है कि वे गान्धीवाद के कुछ रचनात्मक पक्षो यथा, गान्धी के राजनैतिक एवं आर्थिक विकेन्द्रीकरण सिद्धान्त पर बल देकर उनके अनेक विचारो को, जो कदापि समर्थन-योग्य नहीं हैं, भुला देते हैं तथा गान्धीवाद को अधुनातन दर्शन घोषित करते हैं। इस प्रकार की गलत व्याख्या से कोई उपयोगी उद्देश्य पूरा नही होता। गान्धीवाद सत्य को

सर्वोच्च मूल्य मानता रहा है, उसकी व्याख्या तो सच्चाई पूर्वक की जानी चाहिए। गान्धी को आधुनिक विज्ञान, आधुनिक सभ्यता, आधुनिक उद्योग, आधुनिक चिकित्सा पद्धति से घृणा थी। उन्होने धर्मनिरपेक्षता एवं बुद्धिवाद की आधुनिक परम्परा को प्रोत्साहन नही दिया। उन्होने बैलगाडी की अर्थनीति वाले सरल ग्रामीण जीवन की प्रशंसा की। वे गहरे धार्मिक मनुष्य थे जिनकी ईश्वर से सगुण रूप में आस्था थी। उनके लिए नैतिकता अपनी "अन्तरात्मा की आवाज" के आदेशों का पालन करना था जिसे कि वे ईश्वर की आवाज मानते थे। आधुनिक दर्शन का आधार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, बुद्धिवाद एवं धर्म निरपेक्षता होना आवश्यक है, गान्धीवाद का इनमें से किसी से भी मेल नही बैठता।

गान्धीवाद को सम्पूर्ण रूप में स्वीकार करने अथवा उसे नकारने के बदले यह उचित होगा कि गान्धी के रचनात्मक एव शाश्वत गुण वाले उपदेशो को अपनाये व्यक्तिगत एव सार्वजनिक जीवन में नैतिकता, साध्य की पवित्रता के साथ साधनो की पवित्रता, राजनैतिक एवं आर्थिक विकेन्द्रीकरण तथा उच्च आदर्श की प्राप्ति के लिए अमिट साहस दर्शाना गान्धी के जीवन एव विचारो के प्रेरक गुण हैं।

चार

नवमानववाद का प्रवर्तक

सशस्त्र क्रान्तिकारी से साम्यवादी

नवमानववाद के प्रवर्तक एम एन राय अनेक दृष्टियो से अप्रतिम व्यक्ति थे। एक कर्मठ व्यक्ति एव चिन्तक दोनो रूपो मे थे असाधारण थे। दोनो क्षेत्रो मे उन्होने प्रखर जीवन व्यतीत किया। एक कर्मण्य मनुष्य के रूप मे वे निष्ठावान एव समर्पित क्रान्तिकारी थे। एक चिन्तक के रूप मे वे एक गहन एव मौलिक सामाजिक दार्शनिक प्रतिष्ठित हुए। उनके मानसिक रचाव मे स्वप्नदर्शिता एवं बौद्धिकता का सुन्दर समन्वय था। राय के अनुभव एव निरन्तर विकासमान विचारो ने उनके राजनैतिक जीवन को स्पष्टत तीन रगो मे आलेखित किया। उनकी जीवन-यात्रा का प्रारम्भ उग्र राष्ट्रवादी के रूप मे हुआ, वे उतने ही उग्र साम्यवादी बने और यात्रा के अन्तिम पडाव मे वे एक सर्जनशील सक्रिय नवमानववादी थे।

एम एन. राय का जन्म बगाल के चौबीस परगना जिले के अरवलिया गाव मे 21 मार्च 1887 को एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ। उनका जन्म का नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य था। नरेन्द्र– इसी नाम से वे उन दिनो जाने जाते थे-अभी 14 वर्ष के स्कूल के विद्यार्थी ही थे कि उन का सम्पर्क भूमिगत क्रान्तिकारियो से हो गया। वे "अनुशीलन समिति" के सदस्य बने और जब इस सस्था पर कानूनी पाबन्दी लगा दी गयी तब उन्होने जतीन मुखर्जी के नेतृत्व मे गठित सुप्रसिद्ध "युगान्तर दल" को सगठित करने मे सहायता दी। जतीन मुखर्जी अपने साथियो एव अनुयायियो मे 'बाघा" जतीन के नाम से पुकारे जाते थे। भूमिगत बने रहने के समय नरेन अनेक राजनैतिक डकैतियो एवं षड्यन्त्रो मे लिप्त हो गये। सर्वप्रथम 1907 मे उन्हें एक डकैती के सम्बन्ध मे बन्दी बनाया गया किन्तु वे रिहा कर दिए गए। बाद मे उन्हें 1909 मे हावडा षड्यन्त्र प्रकरण मे बन्दी बनाया गया। जतीन मुखर्जी एव अन्य लोगों के साथ वे प्राय. एक वर्ष तक विचाराधीन बन्दी बने रहे किन्तु अन्ततः विमुक्त कर दिए गए। हावडा षड्यन्त्र प्रकरण मे विचाराधीन बन्दी रहने के समय ही जतीन मुखर्जी,

नरेन एव अन्य साथियो ने भारत मे ब्रिटिश शासन को सशस्त्र विद्रोह द्वारा समाप्त करने की योजना बनायी। इस उद्देश्य से वे भारत के विभिन्न भागो मे सयासी का वेप धारण कर घूमे। उनका संगठन "युगान्तर पार्टी" के नाम से लोकप्रिय हो गया। नरेन पार्टी के संगठनकर्ता ही नही वरन् धनसग्राहक भी थे। धनसग्रह करने के लिए उन्हें अनेक राजनैतिक डकैतियाँ आयोजित करनी पड़ी।

अगस्त 1914 मे प्रथम विश्व-युद्ध छिडा तब इस अवसर पर नरेन एव जतीन मुखर्जी अनेक वार कलकत्ता में जर्मन कौसल जनरल से मिले और इस प्रश्न पर विचार-विमर्श किया कि भारत मे सशस्त्र विद्रोह करने के लिए जर्मन सहायता मिलने की क्या सम्भावना है। अन्ततः इस वात पर सहमति हो गयी कि भारतीय क्रान्तिकारियो के एक प्रतिनिधि को डच ईस्ट इन्डीज (आजकल इन्डोनेशिया) मे वटाविया भेजा जाय और वह वहाँ जाकर भारतीय क्रान्ति के लिए जर्मन शस्त्र प्राप्त करने की योजना बनाये। नरेन को प्रतिनिधि चुना गया और वे अप्रैल, 1915 मे शस्त्रों की खोज मे बटाविया पहुँचे। वहाँ जर्मन कौसल जनरल से विचार-विमर्श करने पर यह सहमति हुई कि "मैवरिक" नामक माल जहाज मे जर्मन शस्त्र भेजे जायेंगे। यह जहाज सुन्दरवन पहुँचेगा और वहाँ शस्त्रो को उतारा जायेगा। नरेन भारत लौट आये तथा वे शस्त्रो को प्राप्त करने एव उन्हें विभिन्न केन्द्रो पर भेजने की विस्तृत योजनाएँ बनाने मे सलग्न हो गये। फिर भी, कुछ कारण से मैवरिक जहाज एव शस्त्रों का सामान भारत नही पहुँचा।

तब नरेन को जर्मनो के साथ नयी योजनाओ पर विचार-विमर्श करने के लिये पुनः वटाविया भेजने का निश्चय किया गया। नरेन दुवारा वटाविया गये। इस बार उन्होने दृढ निश्चय कर लिया था कि वे कीमती हथियारो को लिए बिना नही लौटेगे। वटाविया मे उन्होने एक योजना बनायी जिसके अनुसार एक जर्मन जहाज के जरिये शस्त्रो को अण्डमान द्वीप समूह पहुँचाया जाना था जहाँ से उन्हें उड़ीसा तट पर ले जाया जाता। किन्तु जर्मनों का पर्याप्त सहयोग नही मिल सका। अतः नरेन शस्त्रो की खोज मे जापान गये एव वहाँ से पुलिस को नजरो से बच कर वे चीन पहुँचे। हानकाव मे जर्मन कौसल की उपस्थिति मे नरेन ने एक चीनी नेता से शस्त्रो की बिक्री सम्बन्धी पक्का समझौता किया जिसके अनुसार उन्हें भारतीय सीमा पर आसाम के आदिवासी क्षेत्र मे शस्त्र सौंपे जाने थे। इस समझौते के वाद नरेन पुनः पीकिंग लौटे। वहाँ पर वे जर्मन राजदूत से मिले और उससे आवश्यक धन प्रदान करने के लिए अनुनय की

जिससे कि चीनी नेता से शस्त्र खरीदे जा सकें। जर्मन राजदूत इस बात पर सहमत थे कि योजना व्यवहार्य है किन्तु उन्होने कहा कि धन पाने के लिए नरेन को जर्मनी जाकर बर्लिन मे जनरल स्टाफ से मिलना होगा।

अब तक नरेन को यह अहसास होने लगा था कि जर्मन लोग सैनिक सहायता प्रदान करने की आवश्यकता को गम्भीरता से नही ले रहे है। उन्हे अपने नेता जतीन मुखर्जी के निधन का भी समाचार मिला कि वे बगाल मे सुन्दरवन मे पुलिस से हुई मुठभेड मे मारे गये। इससे सशस्त्र विद्रोह के सफल होने की आशाए क्षीण हो गयीं। फिर भी जैसा कि पीकिंग मे जर्मन राजदूत ने सुझाया था, नरेन ने बर्लिन जाने का निश्चय किया। उन्होने जैसे-तैसे प्रशान्त महासागर पार किया तथा 14 जून, 1916 को सैन फ्रान्सिस्को उतरे।

नरेन के सैन फ्रान्सिस्को आगमन की खबर किसी प्रकार स्थानीय अखबारो मे प्रकाशित हो गयी अत: उन पर पुलिस की दृष्टि पड़े बिना नही रही। वे सैन फ्रान्सिस्को मे स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी गतिविधियाँ नही चला सकते थे अत: वे निकटवर्ती नगर पालो अल्तो चले गये जहाँ स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय स्थित था। यहाँ उन्होने अपना नया नाम, एम एन. राय–मानवेन्द्रनाथ राय अगीकार किया।

शस्त्रो की खोज का मार्ग अन्धगली मे खो जाने पर राय ने समाजवाद के आधारभूत ग्रन्थो तथा विशेष रूप से कार्ल मार्क्स के ग्रन्थो का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन आरम्भ किया। शीघ्र ही उन्होने समाजवाद को "सिवाय उसके भौतिकवादी दर्शन के" स्वीकार कर लिया। तथापि वे अधिक दिनो तक अमेरिका मे रुके नही रह सके। विश्वयुद्ध मे जून, 1917 में अमेरिका सम्मिलित हुआ तथा इसके पश्चात् शीघ्र ही सैन फ्रान्सिस्को मे अनेक लोगो के विरुद्ध, जिनमे राय भी सम्मिलित थे "हिन्दू जर्मन कान्सपिरेशी केस" चलाया गया। राय को बन्दी बनाया गया किन्तु न्यायालय द्वारा निर्णय किये जाने तक उन्हें जमानत पर रिहा कर दिया गया। वे किसी प्रकार पुलिस की निगरानी से बच निकले तथा पड़ोसी देश मैक्सिको मे प्रवेश करने मे सफल हुए।

राय जब मैक्सिको पहुँचे तब न तो उनकी जेब मे पैसे थे और न वहाँ उनका कोई साथी था। तथापि वे जुलाई 1917 से दिसम्बर, 1919— अढ़ाई वर्ष तक मैक्सिको मे रहे और इस काल मे उनका जीवन अत्यन्त व्यस्त रहा। वे मैक्सिको नगर के प्रमुख दैनिक पत्र "एल पुब्लो" (जनता) के सम्पादक से मिले तथा भारत पर एक लेखमाला लिखी जिसे स्पेनिश भाषा मे अनूदित कर इस दैनिक मे प्रकाशित किया गया। राय ने शीघ्र ही स्पेनिश भाषा सीख ली तथा

अपने मैक्सिको प्रवास मे उन्होने दो पुस्तकें स्पेनिश में लिखकर प्रकाशित करायी। उन्होने मेक्सिको की समाजवादी पार्टी की सदस्यता ग्रहण की जो उस समय एक बहुत छोटा एवं नगण्य दल था। राय उसके प्रचार मन्त्री नियुक्त किये गये उस समय मैक्सिको में समाजवादी पार्टी जैसी राजनैतिक पार्टी के विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ थी। उस समय मैक्सिको पर सयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा आक्रमण की आशका वनी थी तथा मैक्सिको की जनता समाजवादी पार्टी के साम्राज्यवादी विरोधी रवैये का स्वागत करती थी। मैक्सिको के राष्ट्रपति करजा भी ऐसी पार्टी का समर्थन पाने को उत्सुक थे जिससे उनकी सरकार का स्थायित्व सुदृढ़ वनता। राय प्रचार मन्त्री के रूप में अत्यन्त सक्रिय बन गये। इससे समाजवादी पार्टी की सदस्य संख्या शीघ्रता से बढ़ने लगी। दिसम्बर 1918 मे मैक्सिको नगर मे एक अत्यन्त सफल समाजवादी सम्मेलन सम्पन्न हुआ तथा इस सम्मेलन मे मैक्सिको समाजवादी पार्टी का औपचारिक रूप से उद्घाटन किया गया। राय पार्टी के महामन्त्री चुने गये। तदुपरान्त छः महीने की अवधि के भीतर ही पार्टी के एक सदस्य को मैक्सिको की सरकार मे श्रम मन्त्री नियुक्त किया गया।

1919 के वसन्त मे सुप्रसिद्ध साम्यवादी नेता माइकेल बोरोडिन का मैक्सिको नगर में आगमन हुआ। बोरोडिन राय से मिले तथा राय के यहाँ अतिथि बन कर रहे। दोनो के बीच गहरा तर्क-वितर्क एव विचार-विमर्श हुआ जिसकी परिणति यह हुई कि राय ने भौतिकवादी दर्शन अपना लिया और इस प्रकार वे समग्रतः साम्यवादी बन गये। इसी बीच विश्व भर की तरह रूसी क्रान्ति की खबर सम्पूर्ण मैक्सिको में फैल गयी। फलतः अब यह माँग उठायी गयी कि मैक्सिको समाजवादी पार्टी को साम्यवादी पार्टी घोषित कर दिया जाय। राय ने पार्टी के महामन्त्री के रूप मे उसका एक असाधारण सम्मेलन बुलाया जिसमे पार्टी को "मैक्सिको की साम्यवादी पार्टी" घोषित कर दिया गया। इस प्रकार राय सोवियत सघ के बाहर सर्वप्रथम साम्यवादी पार्टी के सस्थापक बने। सम्मेलन ने जुलाई 1920 मे आयोजित द्वितीय कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल सम्मेलन में राय के नेतृत्व मे एक प्रतिनिधि मण्डल भेजने का निर्णय लिया।

इसी बीच बोरोडिन की संस्तुति पर राय को द्वितीय कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल सम्मेलन मे भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया। राय ने इस निमन्त्रण को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। इस समय सोवियत सघ हस्तक्षेप के युद्ध (वार ऑफ इन्टरवेन्शन) मे उलझा हुआ था अतः मास्को की यात्रा सकटमय तथा समयसाध्य थी। राय मैक्सिको से स्पेन गये, वहाँ से बर्लिन जहाँ वे चार महीने ठहरे। बर्लिन से जून, 1920 में वे मास्को पहुँचे।

नवमानववाद का प्रवर्तक-2

साम्यवादी दौर में

द्वितीय कम्युनिस्ट इन्टरनेशन सम्मेलन 16 जुलाई से 17 अगस्त 1920 तक चला। सम्मेलन आरम्भ होने से पूर्व राय लेनिन से विचार-विमर्श करने के लिए अनेक बार मिल चुके थे। द्वितीय सम्मेलन के विचारणीय विषयो मे एक प्रमुख प्रश्न विभिन्न औपनिवेशिक देशो के राष्ट्रीय आन्दोलनो एव उनमे स्थानीय पूंजीपतियो के योगदान से सम्बन्धित था। इस प्रश्न पर लेनिन ने एक आलेख तैयार किया जिसका शीर्षक था "थीसिस ऑन नेशनल एण्ड कॉलोनियल क्वेश्चन" (राष्ट्रीय एव औपनिवेशिक प्रश्न सम्बन्धी प्रस्थापना)। लेनिन ने इसे राय को दिखाया। राय ने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन मे स्थानीय पूंजीपति वर्ग के योगदान के सम्बन्ध मे लेनिन के विचारो से अपना मतभेद प्रकट किया। राय का यह मत था कि पूंजीपति वर्ग औपनिवेशिक देशो मे अविचल रूप से क्रान्तिकारी वर्ग नही बना रह सकता। यह वर्ग साम्राज्यवाद के प्रति समझौतापूर्ण नीति अपनायेगा। राय का मत था कि औपनिवेशिक देशो मे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन मजदूरो एव किसानो के प्रभाव को बढा कर साम्यवादियो के नेतृत्व मे चलाया जाय। इसके विपरीत लेनिन इस पक्ष मे थे कि साम्यवादियो को स्थानीय पूंजीपतियो के नेतृत्व मे चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनो का समर्थन करना चाहिए। तथापि लेनिन ने राय से कहा कि औपनिवेशिक देशो, यथा-भारत एवं चीन की परिस्थितियो के बारे मे मेरी जानकारी बहुत सीमित है। उन्होने कहा कि राष्ट्रीय एव औपनिवेशिक प्रश्न पर राय वैकल्पिक प्रस्थापना तैयार कर सकते हैं। राय ने पूरक प्रस्थापना तैयार की। जब उन्हे लेनिन को दिखाया गया तो उन्होंने सुझाया कि एक ओर मेरी तथा दूसरी ओर राय की दोनों ही प्रस्थापनाएँ सम्मेलन के सम्मुख स्वीकृति के लिए प्रस्तुत कर दी जायें। यही किया गया तथा द्वितीय कम्युनिस्ट इटरनेशनल सम्मेलन ने दोनों प्रस्थापनाओं को पारित कर दिया।

राय ने जिस मुद्दे पर अपना मतभेद व्यक्त किया वह इस दृष्टि से अत्यन्त महत्व-

पूर्ण था कि औपनिवेशिक देशों में साम्यवादी किस नीति का पालन करें। यह प्रश्न भावी कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल (कामिन्टर्न) महासभाओं एवं व्यवस्थापिका सभा (एग्जीक्युटिव कमेटी) की सभाओं में परेशानी पैदा करता रहा। अब पुनरावलोकन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारत एवं चीन सदृश औपनिवेशिक देशों में जहाँ अर्द्धविकसित पूँजीवादी वर्ग थे, इतिहास ने राय द्वारा प्रतिपादित विश्लेषण को सत्य प्रमाणित किया है।

कामिन्टर्न की व्यवस्थापिका सभा ने द्वितीय अधिवेशन के पश्चात् एक छोटी केन्द्रीय समिति (पोलिट्ब्यूरो) स्थापित की जो कार्यकारी विभाग का रूप थी। राय इस समिति के सदस्य थे। एक केन्द्रीय एशियाई विभाग (सेन्ट्रल एशियाटिक ब्यूरो) की स्थापना भी की गयी। राय दो अन्य सदस्यों के साथ इसके सदस्य थे। इस विभाग का अधिकांश उत्तरदायित्व राय को ही उठाना पड़ा। भारत में क्रान्ति का परिचालन करने के लिए राय ने निश्चय किया कि केन्द्रीय एशियाई विभाग की कार्यवाही का केन्द्र जहाँ तक सम्भव हो भारत की सीमा के निकटतम रखा जाय। रूसी एशियाई क्षेत्र के दूरस्थ स्थल यथा, तुर्किस्तान एवं बुखारो रूसी क्रान्ति के बाद अभी भी साम्यवादी नियन्त्रण में लाये जाने थे। राय लाल सेना (रूसी सेना) की टुकड़ी के साथ गये जिसने बुखारो जाकर उस पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया। तदुपरान्त राय ने ताशकन्द में एक "क्रान्तिकारी समिति" की स्थापना की। राय अफगानिस्तान को आधार बना कर भारत में क्रान्तिकारी गतिविधियाँ बढ़ाना चाहते थे। किन्तु अफगान सरकार के विरोध के कारण उन्हें अपनी योजना का परित्याग करना पड़ा। फिर भी राय ने ताशकन्द में भारतीयों के प्रशिक्षण के लिए "इंडियन पोलिटिकल एण्ड मिलट्री स्कूल" (भारतीय राजनैतिक एवं सैनिक विद्यालय) की स्थापना की। भारत से जो अनेक मुसलमान तुर्की में "खिलाफ़त" के लिए संघर्ष में भाग लेने जाना चाहते थे वे ताशकन्द आकर भारतीय विद्यालय में प्रशिक्षण लेते। विद्यालय के कुछ सदस्यों की प्रबल माँग पर ताशकन्द में 17 अक्टूबर, 1920 को "भारत के साम्यवादी दल" की स्थापना हुई। बाद में ताशकन्द के भारतीय विद्यालय को बन्द कर दिया गया तथा मास्को में "कम्युनिस्ट युनिवर्सिटी ऑफ द टोइलर्स ऑफ द ईस्ट" (पूर्व के श्रमजीवियों का साम्यवादी विश्वविद्यालय) स्थापित किया गया।

राय की विशेष रुचि भारत में साम्राज्यवाद-विरोधी क्रान्तिकारी आन्दोलन को तीव्र करने में थी अतः उन्होंने अपना स्थायी निवास अप्रेल 1922 में मास्को से बर्लिन बदल लिया। इस समय तक उन्होंने अपनी प्रमुख कृति "इंडिया इन

ट्राजिशन" लिख कर प्रकाशित करा दी थी। पुस्तक की अनेक प्रतियाँ छुपे तौर पर भारत लायी गयी। यद्यपि पुस्तक पर कानूनी पाबन्दी लगा दी गयी एव अनेक प्रतियाँ जब्त कर ली गयी फिर भी कुछ अपने गन्तव्य पर पहुँच गयी।

बर्लिन मे रहते समय राय निरन्तर प्रयत्नशील रहे कि वे भारत मे साम्यवादियो का एक समूह बना सके तथा भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्तिकारी मार्ग पर चलने को तत्पर कर सकें। उन्होने "इम्प्रेकर" (इटरनेशनल प्रेस कारस्पोडेंस) मे अनेक लेख लिखे। उन्होने "वैन्गार्ड आफ इडियन इंडिपेन्डेन्स" नामक एक पाक्षिक का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया। जब भारतीय सरकार ने इस पत्र पर कानूनी पाबन्दी लगा दी तो उन्होने इसका नाम "अडवान्स गार्ड" बदल दिया तथा इसी कारण आगे चल कर इस पत्र का नाम "मासेज" रखा गया। राय ने अनेक प्रशिक्षित साम्यवादियो को भारत भेजने का प्रबन्ध किया किन्तु उनमे से अधिकाश को पुलिस बन्दी बना लिया करती। राय अनेक जननेताओ से विस्तृत पत्र-व्यवहार करते थे। उनके अधिकाश पत्र पुलिस द्वारा बीच मे खोल लिए जाते, पत्रो के फोटो लेकर उन्हे अकित ठिकानो पर भेज दिया जाता। उन्होने भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के वार्षिक अधिवेशनो के निर्णयो, यथा, 1921 मे अहमदाबाद काग्रेस तथा 1922 के गया काग्रेस को भी प्रभावित करने का प्रयत्न किया। राय की क्रान्तिकारी गतिविधियो के कारण उन्हे जर्मनी से निष्कासित कर दिया गया। तब उन्होने अपना निवास स्थान ज्यूरिख बदल दिया। वहाँ से एनेसी और एनेसी से पेरिस बदला। इसमे से प्रत्येक स्थान पर जहाँ वे रहे उन्होंने अपने पाक्षिक पत्र के प्रकाशन का प्रबन्ध किया। उनका भारत मे डागे, मुजफ्फर अहमद, सिंगरावेलु, शौकत उस्मानी एव अन्य लोगो से पत्र-व्यवहार जारी रहा। वे उनसे भूमिगत साम्यवादी पार्टी बनाने एवं खुले तौर पर "पीपुल्स पार्टी" जिसका अभिप्रेत किसानो व मजदूरो की आर्थिक माँगो का स्वर मुखर करना था, बनाने का आग्रह करते रहे।

इन गतिविधियों को समाप्त करने के लिए भारत सरकार ने राय एवं अन्य साम्यवादियों के विरुद्ध 1924 मे कानपुर षड्यन्त्र अभियोग चलाया। यद्यपि इस अभियोग मे राय अपराधी न 1 थे किन्तु विदेश मे रहने के कारण उनके विरुद्ध कार्यवाही नहीं की जा सकी। तथापि अन्य अपराधियो-मुजफ्फर अहमद, शौकत उस्मानी, डागे एव नलिनी गुप्ता के विरुद्ध मुकदमा चला एव उनमे से प्रत्येक को चार वर्ष का कठोर कारावास दिया गया।

कानपुर षड्यन्त्र के कारण अनुभव का एक उज्ज्वल पक्ष भी था। इस अभियोग म दिय गये तर्कों से यह स्पष्ट हो गया कि केवल साम्यवादी विचार रखने मात्र से

किसी व्यक्ति के विरुद्ध मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। इस स्पष्टीकरण से प्रेरित होकर सत्यभक्त नामक एक वामपंथी काग्रेसी ने दिसम्बर, 1925 में कानपुर में साम्यवादियों का सम्मेलन आयोजित किया। एक सम्मेलन ने भारत की धरती पर भारत की साम्यवादी पार्टी का आरम्भ किया। राय ने पार्टी की स्थापना का हार्दिक स्वागत किया।

राय 1926 के अन्त तक कम्युनिस्ट इटरनेशनल मे अपनी प्रगति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गये। कामिन्टर्न की चारो नीति-निर्धारक परिषदों-प्रेसिडियम, पोलिटिकल सेक्रेट्रेरिएट, एग्जिक्यूटिव कमेटी तथा वर्ल्ड काग्रेस के वे सदस्य चुने गये। तथापि उस समय तक यह निर्णय ले लिया गया था कि राय भारत में साम्यवादी आन्दोलन का राजनैतिक एव वैचारिक धरातल पर निर्देशन करते रहेंगे तथा संगठन के विकास की देखरेख इंग्लैण्ड की साम्यवादी पार्टी करेगी।

कामिन्टर्न की व्यवस्थापिका सभा की नवम्बर-दिसम्बर 1926 मे मास्को मे हुई प्लेनम (भारी सख्या मे उपस्थित सदस्यो की सभा) ने चीन की स्थिति पर विचार-विमर्श किया। राय ने आग्रह किया कि चीनी क्रान्ति को किसान आन्दोलन के रूप में विकसित किया जाये तथा इसका आधार किसानो की आर्थिक मांगों को बनाए जाए। राय के दृष्टिकोण का अनुमोदन किया गया तथा उनके द्वारा लिखी प्रस्थापना के आलेख को व्यवस्थापिका सभा द्वारा पारित कर दिया गया। यह निर्णय किया गया कि राय को चीन भेजा जाये जहाँ वे इस थीसिस के परिपालन पर समुचित निगरानी रखें। राय फरवरी, 1927 मे केन्टन पहुँचे। हानकाव पहुँचने के लिए उन्हें कई सप्ताह प्रतीक्षा करनी पड़ी। बारोडिन कामिन्टर्न के दूसरे प्रतिनिधि थे, जिन्हें चीन भेजा गया।

इस बीच कोमिताग के समित्र साम्यवादियो पर चाग-काई-शेक ने शिघाई व अन्य नगरो मे 12 अप्रैल, 1927 को आकस्मिक प्रबल आक्रमण किया जिसके फलस्वरूप हजारो साम्यवादी मारे गए। वू-हान स्थित कोमिताग के दल, जिसे अब वामपंथी कोमिताग के रूप मे जाना जाता है, ने इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप चाग काई-शेक को पार्टी से "निष्कासित" कर दिया। इस परिस्थिति में कामिन्टर्न की व्यवस्थापिका सभा की आठवी प्लेनम ने चीनी साम्यवादियो को सलाह दी कि वे किसान-वर्ग मे क्रान्तिकारी भूमि सुधार कार्यक्रम अपना कर अपनी शक्ति बढ़ायें तथा वामपथी कोमिताग से मित्रता बनाये रखें। चूंकि वामपथी कोमिताग का नेतृत्व भी अधिकाशतः सामान्तों एव सैनिक अफसरो के हाथों मे था अतः कोमिताग की व्यवस्थापिका सभा की यह सलाह कि साम्यवादी क्रान्तिकारी भूमि सुधारों की माग करते हुए वामपंथी कोमिताग से मित्रता रखें, अव्यवहारिक सिद्ध

हुई। राय ने यह पक्ष ग्रहण किया कि चीनी साम्यवादियो को चाहिए कि वे किसानों की माँगों का समर्थन करें एव उनको हथियार प्रदान करें, जन आधार तैयार करें फिर चाहे वामपथी कोमिताग के नेताओ से सम्बन्ध-विच्छेद भी करना पड़े। इसके विपरीत बोरोडिन की इच्छा थी कि जहाँ तक हो सके वामपथी कोमिताग से मित्रता रखी जाय चाहे वे किसान व मजदूर आन्दोलन को हतोत्साहित भी करते हो। राय ने इस प्रश्न का समाधान मास्को से माँगा किन्तु उन्हे स्टालिन से तार मिला जिसमें आठवें प्लेनम की सम्मति की पुनरावृत्ति मात्र थी कि एक ओर वामपथी कोमिताग से मैत्री रखना एवं दूसरी ओर शक्तिशाली किसान आन्दोलन को प्रोत्साहन देना—इन दोनो विपरीत उद्देश्यों मे सामंजस्य स्थापित किया जाये। फलत. राय द्वारा प्रतिपादित भूमि-सुधार आन्दोलन को सक्रिय नही बनाया गया। जुलाई 1927 मे वामपथी कोमिताग की वू-हान सरकार एव चाग-काई-शेक की नानकिंग सरकार मे साम्यवादियो को निष्कासित करने के आधार पर पूर्नमिलन हुवा। साम्यवादियो को निष्कासित कर दिया गया तथा रूसी सलाहकारो को जिनमे राय एव बोरोडिन भी सम्मिलित थे मास्को लौटने के लिए वाध्य होना पड़ा। यह महत्वपूर्ण है कि जब अनेक वर्षों बाद माओ त्से तुग के नेतृत्व मे चीनी साम्यवादी दल ने चीन में क्रान्ति को सफल बनाया तब अपने सार रूप मे वह एक किसान-आन्दोलन की सफलता थी।

राय जब मास्को लौटे तो उन्होंने स्वय को अजीब स्थिति मे पाया। राय ने यद्यपि चीन मे स्टालिन द्वारा स्वीकृत नीति का पालन किया था किन्तु अब स्टालिन उनसे मिलने तथा चीन मे जो कुछ घटित हुआ उसके सम्बन्ध में उनके विचार सुनने के लिए भी तैयार नही थे। राय अक्टूबर 1927 मे मास्को से वर्लिन चले गये तथा फरवरी 1928 मे पुन: मास्को लौटे जबकि कामिन्टर्न की व्यवस्थापिका सभा की नवी प्लेनम की बैठक थी। उन्हे बैठक मे उपस्थित भी नही होने दिया गया। अभी यह बैठक चल ही रही थी कि राय अपने बाये कान मे अत्यधिक पीड़ा के कारण शैया पर लेटे रहने को वाध्य हो गये। उनके रोग को कर्णमूलास्थिशोथ (पेस्टाअडिट्स) बताया गया। उन्हे क्रेमलिन अस्पताल भी नही भेजा गया जहाँ प्राय: कामिन्टर्न के सदस्यो को इलाज के लिए भरती किया जाता था, बल्कि मास्को के बाहर एक छोटे अस्पताल मे रखा गया। अत: उन्होंने अपने एक विश्वस्त मित्र को लिखा जो मास्को आये तथा बोरोडिन एव बुखारिन की सहायता से राय को चोरी छिपे रूस से बाहर ले गये। राय को बर्लिन ले जाया गया जहाँ पर उनका कर्णमूलास्थिशोथ का आपरेशन हुआ। आपरेशन के उपरान्त स्वास्थ्य लाभ करते समय उन्होंने वृहद् ग्रन्थ "रिवोल्यूशन एण्ड काउन्टर रिवोल्यूशन इन चाइना" लिखा।

कामिन्टर्न के मई-जून, 1928 के छठे अधिवेशन तथा कामिन्टर्न की व्यवस्थापिका सभा की जुलाई 1929 की प्लेनम में स्टालिन ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन की नीतियो मे कुछ आधारभूत परिवर्तन उपस्थित कर यह निश्चय किया गया कि औपनिवेशिक देशों को पूँजीवादी राष्ट्रीय पार्टियों से कोई सम्बन्ध नही रखना चाहिए। इसका आशय यह था कि भारत में साम्यवादियो को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना चाहिए। यह भी निश्चय किया गया कि यूरोप की समाजवादी पार्टियाँ प्रतिक्रियावादी है अत. भर्त्सना के योग्य हैं तथा साम्यवादियों को उनका विरोध करना चाहिए। इसका निहितार्थ यह था कि उगते हुए फासिस्टवाद का विरोध करने के लिए बने साम्यवादियो एव समाजवादियो के सगठित मोर्चे में दरार डाली जाय। राय इन दोनों नीतियो के विरोधी थे। उनका अभिमत था कि भारत मे साम्यवादियों को राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत सक्रिय बने रहना चाहिए तथा किसानो एवं मजदूरो की माँगो को आगे लाकर राष्ट्रीय आन्दोलन का क्रान्तिकारी रूपान्तरण करना चाहिए। वे यूरोप मे साम्यवादियों एवं समाजवादियों के संगठित मोर्चे के बने रहने के भी पक्षपाती थे जिससे उगते फासिस्टवाद का विरोध सफलकाम बन सके। राय ने इन विषयों पर "विरोधी जर्मन समाजवादी पार्टी (अपोजिशन कम्युनिस्ट पार्टी आफ जर्मनी)" के अखबारो मे लिखा। जर्मनी की इस पार्टी का नेतृत्व हाइनरिख ब्राडलर एवं आगस्ट थेल्हिमर कर रहे थे एवं वे इससे पूर्व ही स्टालिन के कोपभाजन बन चुके थे। कामिन्टर्न की व्यवस्थापिका सभा की ओर से सितम्बर, 1929 मे 'इम्प्रेकर' (इन्टरनेशनल प्रेस कारस्पॉन्डेंस) मे यह घोषित किया गया। "राय ने ब्रान्डलर अखबारो मे लेख लिख कर तथा ब्रान्डलर संगठनों को समर्थन देकर स्वय को कम्युनिस्ट इटरनेशनल की बिरादरी से बाहर कर लिया है तथा अब उन्हे कम्युनिस्ट इटरनेशनल से निष्कासित समझा जायेगा।"

यह वह काल था जब स्टालिन उन सभी साम्यवादी नेताओ को समाप्त कर देने मे लगे थे जो अपनी स्वतन्त्र सम्मति रखते हो। कामिन्टर्न से अपने निष्कासन के सम्बन्ध मे राय की यह टिप्पणी सर्वथा उपयुक्त थी . "मेरा प्रमुख अपराध यह था कि मैंने स्वतन्त्र विचार रखने के अधिकार का दावा किया।"

नवमानववाद का प्रवर्तक : 3

अपने देश लौट कर

राय ने अब दृढ़ निश्चय कर लिया कि वे लौट कर भारत जायेंगे यद्यपि इस बात में सन्देह नही था कि भारत में उन्हे बन्दी बनाया जायेगा तथा उन पर ब्रिटिश सम्राट के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का अभियोग चलाया जायेगा जो आरोप 1924 के कानपुर षडयन्त्र प्रकरण में उनके विरुद्ध लगाया गया था। ब्रान्डलर एवं अन्य मित्रों ने अत्यधिक आग्रह किया कि राय भारत लौटने के अपने निर्णय को बदल दें किन्तु इससे राय विचलित नही हुए। उन्होंने बर्लिन में अपने कुछ भारतीय मित्रों को तैयार किया कि भारत में वे जो कार्य करना चाहते हैं उसमें सहायक बनें। उन्होंने अपने चार सहयोगियों-तय्यब शेख, वृजेशसिंह, सुन्दर कवाड़ी एवं डॉ अनादि भादुरी को अपने भारत आगमन का आधार बनाने के लिए पहले भारत भेजा इस्ताम्बुल एवं बगदाद होते हुए वे स्वयं अज्ञात रूप में 11 दिसम्बर, 1930 को कराची पहुँचे।

राय भारत में अपनी गिरफ्तारी के पूर्व सात महीने तक भूमिगत बने रहे। इस काल में लोग उन्हें "डाक्टर महमूद" के नाम से जानते थे। उन्होंने अनेक युवा क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं से सम्पर्क स्थापित किया तथा उनकी गतिविधियों का मार्ग-दर्शन किया। इस अल्प अवधि में ही, जिस नाम से उनकी चर्चा किया जाता था "रायवादियों" ने विशेष रूप से मजदूर आन्दोलन में अपना काफी प्रभाव बढ़ा लिया। इस अवधि में जिन कुछ युवा कार्यकर्ताओं यथा वी बी. कार्णिक तथा मणिबेन कारा आदि से उन्होंने सम्पर्क किया, वे भविष्य में देश के अत्यन्त प्रभावशाली नेता बने। राय कांग्रेस के कराची अधिवेशन में भी उपस्थित रहे, वे जवाहरलाल नेहरू से मिले तथा उन्होंने मौलिक अधिकारों एवं राष्ट्रीय आर्थिक कार्यक्रम सम्बन्धी प्रस्तावों को स्थापित करने में सहायता की जिनमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पहलीबार सामाजिक-आर्थिक सुधारपरक नीति अपनायी। अन्ततः राय को बम्बई में 26 जुलाई, 1931 को बन्दी बना लिया गया।

राय 21 जुलाई, 1931 से 20 नवम्बर, 1936 तक जेल में रहे। उन पर

खुले न्यायालय के बदले जेल मे ही अभियोग चलाया गया। उन्होने अपनी पैरवी स्वय की। उन्हे अपने विरुद्ध लगाये गये आरोप के प्रतिवाद का वक्तव्य भी पूरा नही देने दिया गया। उनके द्वारा तैयार किया गया प्रतिवादी वक्तव्य चोरी-छुपे जेल से बाहर ले जाया गया तथा "माई डिफेन्स" शीर्षक से उसका पुस्तक रूप मे प्रकाशन हुआ। राय ने अपने पक्ष के समर्थन मे मुख्य रूप से यह कहा कि भारत मे ब्रिटिश सरकार "कानून द्वारा स्थापित" सरकार नही है तथा "दमन एव शोषण के शिकार भारतीयो के लिए एक ही उचित कानून है विद्रोह का कानून, स्वतन्त्रता के लिए क्रान्तिकारी संघर्ष का भव्य कानून।" राय के विरुद्ध अभियोग की सुनवाई न्याय सभा (जूरी) द्वारा नही हुई वरन् अभिनिर्धारको (असेसर्स) की सहायता के आधार पर हुई। चार मे से दो अभिनिर्धारकों ने उन्हे अपराधी नही माना। तथापि न्यायाधीश ने उन्हे दोषी ठहराया तथा बारह वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड प्रदान किया। इलाहाबाद उच्च न्यायालय में अपील करने पर यह दण्ड छः वर्ष का कर दिया गया। जेल मे जिन परिस्थितियो मे उन्हें रखा गया वे अन्य राजनैतिक बन्दियो की परिस्थितियो से कही अधिक कठोर थी। उन्हे जेल मे "बी" श्रेणी के कैदियो के समान रखा गया तथा उनको प्रतिमाह एक से अधिक पत्र लिखने की अनुमति नही थी। उन्हे मित्रो से जेल मे मुलाकात करने की भी इजाजत नही थी।

फिर भी जेल मे बन्दी रहने पर भी उनके राजनैतिक कार्य पर प्रतिबन्ध कारगर नही हुआ। ऐलन गोटस्चाक (जो राय के जेल से रिहा होने पर भारत आई एव उन्होने राय से विवाह किया) को जेल से प्रति माह उन्होने जो पत्र लिखे उनसे प्रकट होता है कि उन्होने जेल मे विपुल अध्ययन किया। उन्हें अपने लेखन कार्य के लिए किसी एक समय मे एक साथ 1000 पृष्ठो की एक जिल्द लेने की अनुमति थी। उन्होने जेल मे इस प्रकार की नौ जिल्दें लिख डाली। बाद मे, इस लिखित सामग्री मे से कुछ का पुस्तक रूप मे प्रकाशन हुआ जिनमे "फासिज्म" "हिस्टोरिकल रोल ऑफ इस्लाम", "मैटीरियलिज्म" "हिरेसेज ऑफ ट्वन्टियथ सेंचुरी" तथा "आइडियल आफ इडियन वोमनहुड" ग्रन्थ सम्मिलित थे। वे बहुत-सा राजनैतिक साहित्य जेल से बाहर चोरी-छुपे रूप मे भेजने मे भी कठिनाई अनुभव नही करते थे। यह इसलिए सम्भव हो पाता था क्योकि जिस जेल मे वे भेजे जाते, वहाँ के वार्डन एव अधीनस्थ अधिकारी उनके मित्र बन जाते। उनके बन्दी-जीवन के समय उनके अनुयायियो ने उनकी अनेक पुस्तिकाएँ जो उन्होने चोरी-छुपे रूप से बाहर भेजी, प्रकाशित की। इनमे "अवर टास्क इन इंडिया", "चाइना इन रिवोल्ट", "विदर काग्रेस" तथा "लैटर्स टु द काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी" पुस्तिकाएँ उल्लेखनीय हैं।

राय जब 20 नवम्बर, 1936 को जेल से रिहा हुए तब उन्हे पहली बार यह अवसर मिला कि वे स्वय के निरीक्षण मे भारत की राष्ट्रीय लोकतन्त्रीय क्रान्ति के सम्बन्ध मे अपने विकसित विचारो को क्रियान्वित करने के लिए प्रयत्नशील बनें। जेल से रिहा होने के तुरन्त बाद उन्होने जनता के प्रति सार्वजनिक अपील प्रकाशित की जिसमे उन्होने लोगो से लाखो की संख्या मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण करने का आग्रह किया। साथ ही उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया कि राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं लोकतन्त्रीय प्रक्रिया के माध्यम से ही शक्तिशाली बनाया जा सकता है। उन्होने आग्रह किया कि ग्राम एव तालुका कांग्रेस कमेटियो को सगठित करके भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को नीचे से ठोस आधार पर निर्मित करना चाहिए तथा इन कमेटियों के माध्यम से लोकतन्त्रीय स्वतन्त्रता एव भूमि सुधार के सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम हाथ मे लेकर उन्हे सक्रिय बनाना चाहिए। उनका यह विचार था कि ग्राम एव तालुका कमेटियो का जाल फैलाकर कांग्रेस संगठन को राज्य के भीतर एक दूसरे समानान्तर राज्य के रूप मे विकसित किया जाय। यह योजना थी कि कांग्रेस एक वैकल्पिक राज्य के रूप मे उपयुक्त समय पर स्वतन्त्र भारत का सविधान निर्माण करने के लिए सविधान-सभा को आहूत करेगी और यह आह्वान भारत मे लोकतन्त्रीय स्वातन्त्र्य क्रान्ति के आरम्भ का सकेत होगा।

इस कार्यक्रम के आधार पर राय के साथियो एव अनुयायियो ने देश मे अनेक ग्रामीण एव नागरिक केन्द्रो मे कार्य आरम्भ किया। उन्हे शीघ्र ही सफलता मिलने लगी तथा दो वर्ष के अल्प-काल मे वे ऐसी शक्ति बन गये जो प्रतिस्पर्द्धापूर्ण प्रतीत होने लगी। कांग्रेस के नेताओ मे अधिकाश को किसानो एव मजदूरो की परिवर्तनकारी मागो पर आधारित कार्यक्रम पसन्द नही था। राय के मत मे कांग्रेस मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए सगठन मे वैकल्पिक क्रान्तिकारी नेतृत्व विकसित करना आवश्यक था। इस उद्देश्य से उन्होने अपने अनुयायियो का कांग्रेस के अन्तर्गत एक दल बनाया जो "लीग आफ रैडिकल कांग्रेस मैन" कहलाया। किन्तु इस अत्यन्त सफल कार्यक्रम मे द्वितीय विश्व-युद्ध की घोषणा होने पर गतिरोध आ गया। युद्ध सम्बन्धी नीति के कारण राय एव उनके अनुयायियो ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

द्वितीय विश्व युद्ध 1 सितम्बर, 1946 को आरम्भ हुआ। उसके शीघ्र पश्चात् राय ने 'इंडिया एण्ड वार" (भारत एव युद्ध) नामक प्रस्थापना (थीसिस) प्रस्तुत की जो रैडिकल कांग्रेस मैन लीग द्वारा अक्टूबर के मध्य मे अंगीकार की गयी एव पुस्तक रूप मे प्रकाशित हुई। यह एक जगमगाता हुआ प्रतिभा मंडित

प्रलेख था जिसमे राय ने अपने विचारो को प्रतिपादित करते हुए दर्शाया कि यह युद्ध साम्राज्यवादी युद्ध नही है, साम्राज्यवाद ने इस युद्ध को टालने का भरसक प्रयत्न किया है एवं यह परस्पर विनाशकारी युद्ध संयोगवश अपने मिथ्या अनुमान के कारण क्षिप्रकारिता मे छिड़ा है। उन्होने यह भी व्यक्त किया कि यदि युद्ध अन्त तक लड़ा गया तो वह "दोनो सम्बन्धित पक्षो को निश्चय ही कमजोर बनायेगा और इस प्रकार क्रान्ति के प्लावनकारी सिंहद्वार खोल देगा।" स्मरणीय है कि जब नाजी-सोवियत अनाक्रमण सधि के अनुसरण मे पोलेण्ड के कुछ भाग को नाजी जर्मनी ने तथा अन्य कुछ भाग को सोवियत सघ ने अधिकृत कर लिया तब अनेक महीनो युद्ध "कृत्रिम" स्थिति मे बना रहा। फिर जब नाजी सेनाओ ने अप्रैल, 1940 मे फ्रास पर आक्रमण किया एव वे विजय पर विजय प्राप्त कर आगे बढ़ती गयी तो राय इस निर्णय पर पहुँचे कि अब यह फासिस्ट विरोधी युद्ध बन गया है तथा सम्पूर्ण विश्व मे लोकतन्त्र की प्राण-रक्षा के लिए किसी भी कीमत पर मित्र राष्ट्रो द्वारा किये जाने वाले युद्ध—प्रयत्नो मे सहायता करना अनिवार्य हो गया है। राय ने यह उद्घोषणा की "यदि फासिस्टवाद सम्पूर्ण यूरोप पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने मे सफल हो गया तो क्रान्ति को अन्तिम विदा, भारतीय स्वतन्त्रता को अन्तिम विदा।" उन्होने अत्यन्त विश्वासयुक्त भविष्यवाणी की "फासिस्टवाद की पराजय साम्राज्यवाद को कमजोर बना देगी" और भारत को लोकतन्त्रीय स्वतन्त्रता के निकट लायेगी।

भारतीय जनता परम्पागत रूप से अग्रेजो की विरोधी रही। अन्तर्राष्ट्रीय खतरो का उसे कोई अहसास नही था। अस्तु, आश्चर्य नही कि उन दिनो नाजी सफलताओ का समाचार सुन कर भारतीय नगरो एव गावो मे खुशी की लहर-सी दौड जाया करती थी। राय जानते थे कि ऐसी परिस्थितियो मे युद्ध कार्यो मे सहायता देना, जिसका उन्हे खुला प्रचार करना था, निश्चय ही अलोकप्रिय बनना होगा। यह राय के चरित्र का वैशिष्ट्य था कि उन्होने अपने सिद्धान्तो के लिए अपनी लोकप्रियता की बलि देने का निश्चय किया तथा स्वय को फासिस्ट-विरोधी युद्ध मे विजय के उद्देश्य के प्रति मन-प्राण से समर्पित कर दिया।

अपने इस निर्णय के कारण राय को भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के नेताओ से सघर्ष मे आना पड़ा। काग्रेस के नेताओ का मत था कि वे भारतीय जनता को युद्ध प्रयत्नो का समर्थन करने के लिए तब तक नही कह सकते जब तक कि ब्रिटिश सरकार भारत मे ऐसी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करने पर सहमत न हो जाये जो अपनी प्रतिरक्षा एव विदेश-नीति निर्धारित करने मे स्वतन्त्र हो। राय ने

इस सशर्त समर्थन के प्रस्ताव को अस्वीकार किया क्योंकि उसका अर्थ यही होता। यदि शर्त को पूरा नहीं किया गया तो युद्ध-प्रयत्नों में सहायता का विरोध किया जायेगा। राय का तर्क था यदि हमारी लोकतन्त्रीय स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि फासिस्ट-विरोधी युद्ध सफल हो तो हम यह नहीं कह सकते कि हम अपनी अमुक शर्त पूरी होने पर ही उसकी सफलता के लिए सहयोग देंगे। इस मतभेद के कारण रास्ते अलग-अलग बन गये। रेडिकल कांग्रेसमैन लीग द्वारा आमन्त्रित कुछ फासिस्ट-विरोधी सभाओं पर कांग्रेस नेताओं ने रोक लगा दी, इस पर राय एवं उनके अनुयायियों ने कांग्रेस को त्याग दिया एवं दिसम्बर, 1940 में अपनी अलग–"रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी" स्थापित की।

युद्ध का सही तौर पर फसिस्ट विरोधी स्वरूप निरूपित कर राय ने विश्वासपूर्वक पूर्वानुमान किया तथा खुले तौर पर भविष्यवाणी की कि नाजी-सोवियत अनाक्रमण संधि के बावजूद रूस को युद्ध में सम्मिलित होना पड़ेगा एवं वह मित्र राष्ट्रों का सहयोगी बनेगा। यह उस समय सिद्ध हो गया जब 21 जुलाई, 1941 को हिटलर ने रूस की पूर्वी सीमा पर दुर्धर्ष आक्रमण कर दिया। युद्ध के इस मोड़ से भी युद्ध के वास्तविक स्वरूप के प्रति भारतीय राष्ट्रीय नेताओं की आँखें नहीं खुली। दिसम्बर, 1941 में जापान धुरी राष्ट्रों की ओर से युद्ध में संलग्न हुआ तथा जापानी सेनाएँ अगस्त, 1942 में भारत की पूर्वी सीमा पर आ पहुँची। सुभाषचन्द्र बोस जापान से मिल गये थे, वे टोकियो आकाशवाणी से प्रतिदिन भारतीय क्षितिज पर "उगते सूरज" का स्वागत करने के लिए अपने अनुयायियों को प्रेरणा दे रहे थे। इस विषम स्थिति में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 9 अगस्त, 1942 को "भारत छोड़ो" आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। यदि यह आन्दोलन सफल हो जाता तो सम्भावना यही थी कि यह जापान की फासिस्ट सेना के लिए "भारत आओ" आन्दोलन बन जाता।

सौभाग्यवश "भारत छोड़ो" आन्दोलन प्राय तीन महीने की अवधि में समाप्त प्राय हो गया। इस समय तक रूसी सीमा पर स्तालिनग्राड में नाजी सेनाओं को सफलतापूर्वक रोक दिया गया। दिसम्बर, 1942 में लखनऊ में रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के अखिल भारतीय सम्मेलन में राय ने घोषित किया कि न केवल युद्ध में फासिस्ट शक्तियों का पराजित होना सुनिश्चित हो गया है वरन् फासिस्ट-विरोधी युद्ध के कारण ग्रेट ब्रिटेन एवं मित्र देशों में जो सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन उपस्थित हुए हैं उनके परिणामस्वरूप भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।

यह दोनों अनुमान सत्य सिद्ध हुए। इतिहासकार इस बात पर सहमत हैं कि द्वितीय विश्व-युद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय फासिस्टवाद की पराजय के कारण स्वतन्त्रता

को प्रोत्साहन देने वाली शक्तियो का उदय हुआ, अधिकांशतः उनके परिणाम-स्वरूप भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। वास्तव मे भारत ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व भर में उपनिवेशवाद की समाप्ति का यही एक कारण था।

राय को ज्योही यह स्पष्ट हो गया कि विश्व-युद्ध मे फासिस्ट शक्तियो की पराजय सन्निकट है उन्होने भारत के युद्धोपरान्त पुनर्निर्माण पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया। उन्होने दो आलेख तैयार कराये, पहला, "पीपुल्स प्लान फोर इकानामिक डवलपमेंट आफ इंडिया" (जनयोजना) तथा दूसरा "ड्राफ्ट कान्सटिट्यूशन आफ फ्री इंडिया" (स्वतंत्र भारत के संविधान का मसौदा)। इन आलेखो द्वारा राय ने देश की आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं को हल करने की दिशा मे अपना मौलिक योगदान दिया। राय ने तद्युगीन प्रचलित आर्थिक चिन्तन के विपरीत "पीपुल्स प्लान" मे कृषि उत्पादन एवं लघु उद्योगों को प्रधानता दी। "पीपुल्स प्लान" मे उत्पादन का उद्देश्य लाभ के लिए न मानकर उपभोग के लिए माना गया। आर्थिक योजना का उद्देश्य जनता की आधारभूत आवश्यकताओ की पूर्ति करना माना जो भोजन, आवास, शिक्षा एवं चिकित्सा की सुविधाएँ प्रदान करना था। "ड्राफ्ट कास्टिट्यूशन आफ फ्री इंडिया" मे भारत के "राज्य" की परिकल्पना एक ऐसी संरचना के रूप मे की गयी जिसमें केन्द्र-सत्ता देश भर मे फैली जन-समितियों के जाल पर आधारित हो तथा जन-समितियो को व्यापक अधिकार प्राप्त हों यथा, कानून निर्माण मे पहल करना, विचाराधीन विधेयको पर सम्मति प्रदान करना, प्रतिनिधियों का प्रत्याह्वान करना तथा महत्वपूर्ण राष्ट्रीय मसलो पर जनमत-संग्रह करना। परवर्ती काल मे जयप्रकाश नारायण ने "लोक-समितियो" के जिस विचार को लोकप्रिय बनाया वह प्रमुखतया राय के "ड्राफ्ट कास्टिट्यूशन आफ फ्री इंडिया" से लिया गया था।

राय के वैचारिक विकास-क्रम मे नवमानववादी चिन्तन के अनुस्थापन का समारम्भ रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के सक्रिय कार्यकर्त्ताओ के एक महत्वपूर्ण अध्ययन शिविर द्वारा हुआ जो कि देहरादून के पास गढ़ी मे 8 मई से 18 मई, 1946 तक आयोजित किया गया था। इस शिविर मे 182 से भी अधिक सदस्य उपस्थित हुए थे। राय ने शिविर मे अपने भाषणों मे इंगित किया कि साम्यवाद अब कोई अप्रत्यक्षीकृत स्वप्नलोक नही है, सोवियत रूस मे जो कुछ घटित हो रहा है उससे घोर के पाँव प्रत्यक्ष दिखायी देने लगे हैं। अब उसकी अविश्वसनीय ध्वजा की छाया मे मुक्तिदायी क्रान्ति किसी प्रकार सम्भव नही है। हमें उच्चतर आदर्श की प्राप्ति के लिए कार्यरत होना होगा और यह आदर्श है मानव स्वाधीनता की प्राप्ति। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि साम्यवाद के सिद्धान्त एवं व्यवहार

के ह्रास का कारण मानव-प्रगति मे विचारो के सर्वोपरि महत्व को न समझ पाना है। उन्होने दृढतापूर्वक कहा कि भौतिकवाद मानव-इतिहास के विकास मे विचारो के योगदान को असगत नही दर्शाता क्योकि विचारो का उद्गम मानव के भौतिक अस्तित्व मे ही होता है। गान्धी शिविर मे दिये गए उनके भाषणो का सकलन "न्यू आरिअन्टेशन" नामक ग्रन्थ मे हुआ है।

रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का अखिल भारतीय सम्मेलन दिसम्बर, 1946 मे बम्बई मे आयोजित किया गया। इस सम्मेलन के पूर्व राय ने अपने कुछ सहयोगियो से विचार-विमर्श किया तथा जिस दर्शन का वे प्रतिपादन कर रहे थे उसे उन्होने स्पष्ट रूप प्रदान किया। उन्होने कुछ सिद्धान्त-सूत्रों के रूप मे इस दर्शन का सार प्रस्तुत किया जो नवमानववाद के 22 सिद्धान्त-सूत्रों के रूप मे प्रचलित हुए। इनमे नवमानववादी दर्शन के वैयक्तिक एव सामाजिक पक्षो के सिद्धान्तो की झलक मिलती है। ये मनुष्य के जैविक विकास मे ही उसके आधारभूत मूल्यो, स्वाधीनता, बुद्धिपरकता एव नैतिकता का स्रोत मानते हैं। ये राजनैतिक एव आर्थिक स्वतन्त्रता की अविभाज्यता पर बल देते है एव इगित करते है कि स्वतन्त्रता के आदर्श को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। यह 22 सिद्धान्त-सूत्र रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के बम्बई सम्मेलन मे पारित किये गए। सम्मेलन मे 22 सिद्धान्त-सूत्रों से सम्बन्धित राय के भाषणो को "बियान्ड कॉम्यूनिज्म" शीर्षक पुस्तक मे प्रकाशित किया गया।

बम्बई सम्मेलन के पश्चात् राय के कुछ सहयोगियो ने उनसे अनुरोध किया कि वह नवनिर्मित दर्शन सम्बन्धी घोषणापत्र प्रस्तुत करें। मई, 1947 मे आलेख तैयार करके–"न्यू ह्यूमेनिज्म-अ-मैनिफेस्टो" (नवमानववाद-एक घोषणापत्र) शीर्षक से उसका प्रकाशन किया गया। इस घोषणापत्र मे सामयिक विचारधाराओं की अक्षमताएँ, साम्यवादी सिद्धान्त एव व्यवहार का ह्रास तथा नवमानववादी दर्शन का प्रारूप प्रस्तुत किया गया। इस दर्शन को आगे चलकर रैडिकल ह्यूमेनिज्म नवमानववाद-या क्रान्तिकारी मानववाद की सज्ञा से अभिहित किया गया।

1946 मे गद्दी कैम्प के अवसर तक राय ने साम्यवाद को पूर्णतः त्याग दिया था तथापि वे अपने को धर्मद्रोही मार्क्सवादी मानते थे। आगे चलकर उनके विचारो के विकास ने यह स्पष्ट कर दिया कि मार्क्सवाद से उनकी विपथगामिता इतनी आधारभूत थी कि अब किसी भांति उन्हे मार्क्सवादी नही ठहराया जा सकता। तथापि उन्होंने मार्क्स एव उनके पथप्रदर्शक कार्य के प्रति गहरी श्रद्धा बनाये रखी।

नवमानववाद के 22 सिद्धान्त-सूत्रों एव उनके घोषणापत्र मे प्रतिपादित सिद्धान्तो पर विचार-विमर्श के उपरान्त राय इस निर्णय पर पहुँचे कि दलगत राजनीति एव

लोकतन्त्र के आदर्श मे ही एक असंगति निहित है तथा दलीय राजनीति का सत्ता हथियाने के रूप में परिणत हो जाना बहुत सम्भव है। राय का यह मत था कि लोकतन्त्र मे राजनैतिक सत्ता जनता की प्राथमिक संस्थाओ, जैसे कि जन-समितियो मे निहित होनी चाहिए एवं किसी राजनैतिक पार्टी द्वारा उसे हथिया लेना सर्वथा अवाछनीय है। इसके अतिरिक्त उनका यह दृष्टिकोण था कि भारत जैसे देशो में जहाँ मतदाताओं का अधिकांश भाग अशिक्षित है, यह अवश्यम्भावी है कि दलगत राजनीति सत्ता की सिद्धान्तहीन अन्धी दौड़ में परिणत हो जाये। रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के सदस्यों के अनेक शिविरो तथा सभाओ मे इन बिन्दुओ पर गम्भीर विचार-विमर्श किया गया एव अन्ततः दिसम्बर, 1948 मे कलकत्ता मे हुए अखिल भारतीय सम्मेलन मे पार्टी को समाप्त करने का निर्णय ले लिया गया। राजनैतिक पार्टियो एवं सत्ता की राजनीति से सम्बन्धित उनके भाषणो एव लेखो का बाद मे "पालिटिक्स, पावर एण्ड पार्टीज" शीर्षक पुस्तक के रूप मे प्रकाशन हुआ। रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के भग होने पर राय के अनुयायियो ने "रैडिकल ह्यूमेनिस्ट मूवमेंट" (नवमानवतावादी आन्दोलन) प्रारम्भ किया जो आगे चलकर "रैडिकल ह्यूमेनिस्ट एशोसियेशन" बना।

नवमानववादी आन्दोलन के तत्वावधान मे अनेक सम्मेलन एव शिविर आयोजित किये गए जिनमे नवमानववाद के सिद्धान्तो को और अधिक स्पष्ट किया गया। राय ने इन सम्मेलनो मे जो नये विचार प्रस्तुत किये उनमे एक सहकारी अर्थनीति की अवधारणा से सम्बन्धित था। सहकारी अर्थनीति मे उत्पादन के साधनों पर न तो पूँजीवादी वर्ग का स्वामित्व होता है और न राज्य का। उन पर स्वय उत्पादको का अधिकार होता है। राय का मत था कि सहकारी अर्थनीति पूँजीवादी अर्थनीति एव राज्य के स्वामित्व की अर्थनीति दोनो से श्रेष्ठतर है।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे राय ने दो जिल्दो मे "रीजन, रोमाण्टिसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन" पुस्तक लिखी। इसकी प्रथम जिल्द उनके जीवनकाल मे प्रकाशित हो गयी थी तथा दूसरी जिल्द मृत्योपरान्त प्रकाशित हुई। इसमें मानव-प्रगति में विचारो का योगदान दर्शाने की दृष्टि से पाश्चात्य विचारो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। राय ने निष्कर्ष रूप मे लिखा 'स्वच्छन्दवाद का बुद्धिजन्य संस्कार करने से तथा बुद्धिवाद का साहसिक कर्म की स्वच्छन्द चेतना के साथ संस्पर्श होने से क्रान्तियों की सफलता का मार्ग प्रशस्त बनता है।"

इस काल मे राय ने अपने संस्मरण भी लिखे जिन्हें वे पूरा नही कर सके। यह संस्मरण उस समय से प्रारम्भ होते हैं जब 1915 मे वे शस्त्रो की खोज मे जावा

गये। उन्होंने करीब 1921 तक के अपने राजनैतिक अनुभवों का विवरण लिखा किन्तु तभी 25 जनवरी, 1954 को हृदय-गति रुक जाने से उनका निधन हो गया।

राय एक बौद्धिक विराट पुरुष थे। वे मौलिक विचारों के अक्षय स्रोत थे। उन्होंने जीवन भर अपनी बौद्धिक शक्तियों को स्वतन्त्रता का आदर्श प्राप्त करने में लगाया। अपने संस्मरणों को पूरा लिख कर उन्होंने इस पुस्तक का शीर्षक "स्वातन्त्र्य की खोज में" देना चाहा था। मानवी स्वतन्त्रता उनके समग्र जीवन की प्रेरणा एवं ज्वलन्त पिपासा थी।

इस अध्याय के एक वृहद् अंश को सेमरन राय के "द रेस्टलेस ब्राह्मिन" जान पेट्रिक हेथकोक्स के "कम्यूनिज्म एण्ड नेशनलिज्म इन इंडिया" तथा वी. बी. कार्णिक के "एम. एन. राय-पोलिटिकल बायोग्राफी" ग्रन्थों से चयनित किया गया है।

दूसरा खण्ड : मौलिक दृष्टिकोण

एकतत्त्ववादी प्रकृतिवाद : विज्ञान का दर्शन

मौलिक मानववाद (रेडिकल ह्यूमनिज्म) को वैज्ञानिक मानववाद भी कहा जा सकता है। इसके निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाकर मानव के विवेक, उसके अन्य मानवों से सम्बन्ध और संसार मे उसके स्थान को समझने का प्रयास किया जाता है।

जिस दृष्टिकोण को विज्ञान के लिए अपनाया जाता है उसका उपयोग दर्शन के लिए भी किया जाता है। इसको भौतिकवाद अथवा एकतत्त्वात्मक प्रकृतिवाद कहा जाता है। भूत अथवा पदार्थ अविनाशी तो नही है लेकिन उसको ऊर्जा मे परिवर्तित किया जा सकता है। अतः भौतिकवादी दर्शन को एकतत्त्वात्मक प्रकृतिवाद कहना अधिक संगत है।

तीन स्वीकृत सिद्धान्त

भौतिकवाद अथवा एकतत्त्वात्मक प्रकृतिवाद के तीन स्वीकृत सिद्धान्त हैं और यही सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार माने जाते हैं। ये सिद्धान्त हैं—प्रकृतिवाद, कारण-कार्य के आधार पर निश्चयवाद और एकतत्त्ववाद।

प्रकृतिवाद प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार करता है और उसका दावा है कि प्रत्येक वस्तु प्रकृति के अंश के रूप में ही अस्तित्व मे है। यह देखा जा सकता है कि सामने जो एक मेज रखी है वह परमाणुओ का ऐसा संचय है जो निरन्तर गतिशील है। यह माना जाता है कि परमाणु अस्तित्व मे है और उनके अति सूक्ष्म कण एक दूसरे के चारो ओर निरन्तर घूमते हैं। इन अति सूक्ष्म कणो का भी अस्तित्व है और उनमें ऊर्जा शक्ति है। यह ऊर्जा शक्ति का भी अस्तित्व है। प्रकृतिवाद का तात्पर्य यही है कि वह अस्तित्व के यथार्थ को स्वीकार करता है। यदि संसार के सभी तत्वों को पूरी तौर से जाना जा सकता है तो उसके अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता। प्रकृतिवाद दृश्यमान अनुभूत ससार को भ्रम अथवा "माया" नही मानता है।

कारण-कार्य निश्चयवाद का तात्पर्य यह है कि विश्व नियमबद्ध और अनुशासित है। प्रकृति के नियम निश्चयात्मक हैं। कोई भी घटना बिना कारण घटित

नही होती । ऐसा नही होता कि जो पाषाण आज कठोर है वह कल अपने आप कोमल हो जायेगा जब तक कि इस प्रकार के परिवर्तन के लिए कोई कारण न हो । यदि कोई अस्वभाविक घटना होती है तो कारण-कार्य निश्चयवाद यह मान लेगा कि घटना का कोई कारण अवश्य होगा चाहे वह कारण तत्काल मालूम हो अथवा नही ।

एकतत्वात्मक प्रकृतिवाद मूलतः भौतिकवादी दृष्टिकोण है जिसमे एक तत्त्व के रूप मे प्रकृति को स्वीकार किया जाता है । इस सिद्धान्त मे समस्त अस्तित्व का आधार एक मात्र भूत अथवा पदार्थ को स्वीकार किया जाता है । वह विश्व के अस्तित्व को द्वैत नही मानता और समस्त अस्तित्व के आधार को एक तत्त्व मानता है । एक तत्त्वामक प्रकृतिवाद जड और चेतन के द्वैत को अस्वीकार करता है । वह प्रकृति से परे किसी आधिभौतिक सत्ता को स्वीकार नहीं करता है । प्रकृतिवाद के अनुसार जिस वस्तु का भी अस्तित्व है वह प्रकृति का अश है । यदि भविष्य मे इन्द्रियेतर को चाहे वह दूर सदेश हो या परा दृश्य-अनुभव और अनुसधान के बाद वैज्ञानिक रूप से स्वीकार कर लिया जायेगा, जैसा अब तक स्वीकार नही किया गया है, तो उसे भी प्रकृतिवाद स्वीकार कर लेगा । इन अनुभवो को भी अस्तित्व का अग मान लिया जायेगा और उन दृश्यमान वस्तुओ को समझने के लिए आवश्यक अनुसधान किया जा सकेगा और उसको समझा जा सकेगा । (ई सी. एम. हनसेन की पुस्तक 'ई. पी. एस. एण्ड पैरा साईकोलाजी,' प्रकाशक–प्रोमेथिएक बुक्स, न्यूयार्क 1980)

विज्ञान और दर्शन

यह बात सहज रूप से समझी जा सकती है कि प्रकृतिवाद, कारण-कार्य-निश्चयवाद और एक तत्ववाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार हैं । यदि कोई वैज्ञानिक असामान्य दृश्यगत वस्तु को देखता है तो वह उस वस्तु के अस्तित्व को अस्वीकार नही करता, उसे भ्रम नही मानता वरन् वह उसे स्वीकार कर लेता है । वह ऐसे दृश्यगत वस्तु के कारणों को ढूंढने का प्रयास करता है । अनुभव, अनुसधान और प्रयोग के द्वारा वह नये दृश्यगत वस्तु की व्याख्या करने का प्रयास करता है और उसके तत्त्वों की अधिक जाँच करता है । वैज्ञानिक ज्ञान अनुभव और तर्क के समन्वय से प्राप्त होता है । तर्क के द्वारा कारण-कार्य (निष्कर्ष) के सम्बन्धो को स्थिर करना ही निश्चयवाद है । वैज्ञानिक यह मानकर चलता है कि एक कारण अथवा अनेक कारणों से दृश्यमान वस्तु प्रकट हुई है । वह इसको भी विश्व के भौतिक रूप का अग मानता है । प्रकृति से परे किसी आधिभौतिक शक्ति के आधार को स्वीकार कर लेने से उसके सम्बन्ध मे वैज्ञानिकों खोज नही

की जा सकती। चाहे कितनी असामान्य और असम्भव-सी लगने वाली दृश्यगत वस्तु हो, वैज्ञानिक उसके प्राकृतिक कारण ढूंढने का प्रयास करता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर वह अपनी जाँच-पड़ताल और शोध कार्य करने का प्रयास करता है। एकतत्त्ववाद (प्रकृतिवाद) का यही तीसरा मान्य सिद्धान्त है। इसको वैज्ञानिक दृष्टिकोण मे भी स्वीकार किया जाता है।

कारण-कार्य निश्चयवाद और एकतत्त्ववाद दोनो सिद्धान्त अनिवार्य रूप से एक साथ रहते हैं। यदि कोई वस्तु दूसरी वस्तु को प्रभावित करती है तो उनमें परस्पर कुछ समानता होनी चाहिए। दो एक दम भिन्न वस्तुयें एक दूसरे को प्रभावित नही करती। यदि विश्व मे दो प्रकार के तत्त्व हैं जैसे जड़ पदार्थ (अथवा ऊर्जा) और अध्यात्म शक्ति तो दोनो मे समानता होनी चाहिए जिससे वे परस्पर एक दूसरे को प्रभावित कर सकें। यदि उनमे समानता है तो वे एक ही अस्तित्व के अश है और उनमे द्वैत को देखने का प्रयास काल्पनिक अथवा अनुमान ही कहा जायेगा। इससे स्पष्ट है कि ससार का अस्तित्व एकतत्त्वात्मक ही है।

मानव सभ्यता के समस्त इतिहास मे इस बात का साक्ष्य मिलता है जब-जब मानव आश्चर्यजनक दृश्य और वस्तु का कारण नही समझ सका तो उसने उसके पीछे किसी अदृश्य शक्ति की कल्पना की। जब मानव आँधी और बिजली के कारणो को नही जानता था तो उसने जुपीटर (बृहस्पति) अथवा इन्द्र देवता की कल्पना की। उस दशा मे मानव ने सभी प्राकृतिक दृश्य और वस्तुओं के कारण के रूप मे विभिन्न देवी-देवताओ की कल्पना की। वायु, वर्षा, धूप और समुद्र की लहरो के पीछे देवी देवताओ की कल्पना की गयी। विज्ञान की प्रगति से अज्ञात क्षेत्रो के सम्बन्ध मे नवीन ज्ञान आलोकित किया। सामान्य कल्पना है कि देवी-देवता अज्ञात क्षेत्रो मे निवास करते है जो वैज्ञानिक ज्ञान की परिधि के बाहर हैं। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ आधिभौतिक शक्तियाँ पीछे हटती जा रही हैं। इससे एकतत्त्ववाद (प्रकृतिवाद) का सिद्धान्त प्रमाणित होता है। प्रकृतिवाद और कारण कार्य निश्चयवाद भी मानव अनुभवों से प्रमाणित हुए हे। जहाँ आधिभौतिक शक्तियो के पक्ष मे निश्चित प्रमाण उपलब्ध नही हैं वहीं भौतिकवाद और एकतत्त्वात्मक प्रकृतिवाद विज्ञान के सम्पूर्ण इतिहास से सिद्ध हुए हैं।

शब्दकोश के अनुसार "दर्शन" का अर्थ है ज्ञान और विवेक की खोज। यह परिभाषा विज्ञान की भी है। विभिन्न विज्ञान यथार्थ और अस्तित्व के भिन्न-भिन्न रूपों का अध्ययन करते हैं लेकिन दर्शन सम्पूर्ण अस्तित्व को समझने का प्रयास करता है। इसी कारण दर्शन को विज्ञानो का विज्ञान कहा जाता है।

भौतिकवाद और एकतत्त्वात्मक प्रकृतिवाद को विज्ञान का दर्शन अथवा ज्ञान का दर्शन कहना उचित है। इसमे यह निष्कर्ष निकलता है कि दर्शन जीवन के यथार्थ के सम्बन्ध मे केवल कल्पनाएँ नही वरन् वह भौतिकवाद, एकात्मक प्रकृतिवाद के आधार पर अस्तित्व के यथार्थ की व्याख्या करता है। यह एक मात्र दर्शन का अभिप्राय है।

कारण-कार्य निश्चयवाद और पूर्व निश्चय

यदि समस्त विश्व नियमवद्ध प्रक्रिया है और यदि कोई विकास बिना कारण के नही होता और यदि मानव चेतना पर भी कारण-कार्य निश्चयवाद का नियम लागू होता है तो इसका अर्थ यही होगा कि विश्व का सम्पूर्ण विकास इस नियम के अधीन निश्चित है। आज जिन वस्तुओं का अस्तित्व है उनके आधार पर भविष्य निर्धारित होगा। इसका यह भी अर्थ है कि ससार का भविष्य कारण-कार्य निश्चय के आधार पर निश्चित है और इतिहास के विकास चक्र मे मानव शतरज के मोहरो के समान है। क्या मानव की चेतना स्वतन्त्र है और यदि ऐसा है तो किस सीमा तक, इस प्रश्न पर आगे विचार किया जायेगा यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है कि कारण-कार्य निश्चयवाद के अनुसार पूर्व निश्चय और पूर्व निर्धारित लक्ष्य दोनो बातो को लिया जा सकता है।

इस तथ्य को भी नही भूलना चाहिए कि कारण-कार्य निश्चयवाद मे आकस्मिक घटनाओं की सम्भावना को भी स्वीकार किया जाता है क्योंकि सामान्य रूप से कारण-कार्य सम्बन्धो के होते हुए भी ऐसी स्थिति भी आ सकती है जबकि आकस्मिक घटना के घटित हो जाने के बाद उसके कारणो का पता चले।

इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण विचारणीय है जिससे निश्चयवाद और आकस्मिकता दोनो के साथ रहने की बात सामने आती है। मान लीजिए एक व्यक्ति पहाड़ के रास्ते से पैदल जा रहा है और उसी समय पहाड की चोटी से एक पत्थर लुढ़कता हुआ रास्ते पर गिरता है। व्यक्ति का उस रास्ते पर चलना कारण-कार्य निश्चयवाद के आधार पर निश्चित है। हो सकता है कि वह अपने रोगी मित्र को देखने के लिए जा रहा हो। पहाड की चोटी से पत्थर का गिरना भी कारण-कार्य निश्चयवाद के आधार पर घटित होता है। वायु और वर्षा से पत्थर चोटी पर पुराना न रह गया हो और गुरुत्वाकर्षण से वह नीचे गिर गया हो। यहाँ दोनो घटनाये मनुष्य का पहाडी रास्ते पर चलना और पहाडी की चोटी से पत्थर का गिरना अपने-अपने कारणो से निर्धारित है। लेकिन दोनो घटनाओं के एक साथ घटित होने का प्रत्यक्ष कारण नहीं भी हो सकता है। दोनो घटनाओं के एक साथ घटित होने को आकस्मिक घटना ही कहा जा सकता है।

ऐसी घटनायें दैनिक जीवन में घटित होती है। यहाँ पूर्व निर्धारित लक्ष्य नही है यद्यपि ससार नियमबद्ध है। आवश्यकता और आकस्मिकता दोनों भविष्य निर्धारित करने मे योग देते हैं। मानव चेतना इतिहास के निर्माण मे शक्तिशाली सहायक है, इस बात को आगे दिखलाया जायेगा।

अस्तित्व का रहस्य

मानव मात्र की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह कारण-कार्य सम्बन्ध के आधार पर सोचता है। इस विचारक्रम से वह इस विश्वास पर पहुँचता है कि इस विशाल विश्व जिस मे असंख्य नीहारिकाएँ हैं और जिनमे से प्रत्येक में लाखों तारे हैं और उनमे हमारी पृथ्वी एक नीहारिका का एक छोटा सा ग्रह है जिसे किसी निर्माता ने बनाया है। इसी सिद्धान्त के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का तर्क प्रस्तुत किया जाता है।

तर्क और विवेक की इस शक्ति के आधार पर हम यह प्रश्न उठा सकते हैं–यदि ईश्वर ने विश्व की रचना की तो उसकी रचना किसने की ? सामान्य रूप मे यह उत्तर दिया जाता है कि ईश्वर 'स्वयभू' है, तो फिर यदि ईश्वर 'स्वयभू' हो सकता है तो वह विश्व भी 'स्वयभू' क्यों नही हो सकता ?

विवेक के अनुसार हर वस्तु का कारण होना चाहिए। लेकिन जिसका अस्तित्व नही है उससे अस्तित्व उत्पन्न नही हो सकता। हम चाहे जितने पुरातन युग की कल्पना करें, उस समय भी कुछ न कुछ अस्तित्व था, यह आवश्यक नही है कि वह आधुनिक विश्व के रूप मे रहा हो। अतः हम यह मान लेते हैं कि या तो यह विश्व अथवा अध्यात्मिक शक्ति जिसे ईश्वर कहा जाता है उनमें से एक अथवा दोनों का अस्तित्व एक साथ रहा होगा।

दर्शन की मुख्य शाखाएँ

उक्त विचार क्रम से मोटे तौर से तीन प्रकार के दर्शन सामने आते हैं। प्रथम शाखा के दर्शन मे यह स्वीकार किया जाता है कि भौतिक जगत (विश्व) का अस्तित्व है। इसको मानने वाला दर्शन भौतिकवाद अथवा एकतत्त्वात्मक प्रकृति वाद कहा जाता है। दूसरी शाखा के दर्शन मे ससार मे ऐसी आधिभौतिक आत्मिक शक्ति की सत्ता स्वीकार करता है जो सब मे व्याप्त है। उसे वेदान्त, अध्यात्मवाद अथवा भाववाद (आइडियलिज्म) कहा जाता है। तीसरी शाखा के दर्शन मे यह माना जाता है कि भौतिक जगत और अध्यात्मिक सत्ता दोनों का अस्तित्व है। इसको द्वैतवादी दर्शन कहा जाता है।

द्वैतवादी दर्शन तर्क पर खरा नही उतरता क्योंकि विवेक के आधार पर यह नहीं

माना जा सकता कि दो भिन्न प्रकार की वस्तुएँ चेतन और जड़ (भूत-पदार्थ) जिनमें कोई बात समान नही है, एक-दूसरे को प्रभावित करती है। यदि आध्यात्मिक सत्ता भौतिक जगत को प्रभावित नही करती तो उसकी एक दम उपेक्षा की जा सकती है। यदि उनमे से कोई दूसरे को प्रभावित करती हैं तो उनमे कुछ समान गुण होने चाहिए। ऐसी दशा मे हमे एकतत्त्वात्मक विश्व की भौतिकवादी कल्पना को स्वीकार करना पडेगा।

एकतत्त्वात्मक अध्यात्मवाद के दो रूप मिलते हैं। भारत का वेदान्त दर्शन भी इसका एक रूप है जो भारतीय षट् दर्शनों मे अन्तिम है। दूसरा रूप हमे पश्चिमी एकतत्त्वात्मक अध्यात्मवाद मे मिलता है जिसका प्रतिनिधि स्पिनोजा का विश्वदेवतावाद करता है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार केवल ब्रह्म की सत्ता है और समस्त विश्व-सृष्टि ब्रह्मकृत भ्रम अथवा माया है। मनुष्य की आत्मा ब्रह्म का अश है अतः वह भी सत्य है। मनुष्य की आत्मा अनजाने कारणो से माया के भ्रम से व्याप्त हो जाती है और वह ससार को सत्य मान कर उसके भौतिक सुख-साधनो मे भ्रमित होती है। जीवन का लक्ष्य माया के बन्धनो को जीतकर ब्रह्मलीन होना है। भक्ति, त्याग ज्ञान इस लक्ष्य की पूर्ति मे सहायक बताये जाते है। इस दर्शन मे मानव जीवन के दु:ख दैन्य को कम करने का उपाय नही बताया जाता लेकिन इन दु:खो से बचने का एक मात्र उपाय "ब्रह्म" प्राप्ति के लक्ष्य को अपनाना है। इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण नही है कि किसी मनुष्य ने जीवित अवस्था अथवा मरणोपरान्त "ब्रह्म" की प्राप्ति की है। इस प्रकार के लक्ष्य प्राप्ति का दावा जानबूझकर किया गया अथवा अनजाने मिथ्या प्रचार भी हो सकता है। जो व्यक्ति ब्रह्म मे लीन होने के लिए भक्ति, त्याग, तपस्या अथवा अन्य उपाय अपनाता है वह वास्तव मे यह नही जानता कि उसका लक्ष्य क्या है। ब्रह्म निराकार, अरूप और निर्गुण कहा जाता है। ऐसी स्थिति मे यह सम्भव है कि जो व्यक्ति ब्रह्म मे लीन होने के लक्ष्य को पाने के लिए अनेक वर्षों तक भक्ति, साधना, त्याग-तपस्या करता है वह ऐसी मनःस्थिति अपने मे उत्पन्न कर ले जिससे उसे यह आभास होने लगे कि उसने ब्रह्मप्राप्ति का लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार ब्रह्मलीन होने की लक्ष्य प्राप्ति मे आत्मप्रवचना अथवा आत्ममोह हो। जो भी हो ब्रह्मप्राप्ति के लक्ष्य को पाने मे लीन व्यक्तियो ने ससार के मानवजीवन को सुधारने के लिए बहुत कम काम किया है।

स्पिनोजा प्रकृति और ईश्वर अथवा ब्रह्म मे अन्तर नही करता है। उसके अनुसार प्रकृति और ब्रह्म दोनो एक ही हैं। बहुदेववाद को कभी-कभी छद्म भौतिक-

वाद कहकर उसकी आलोचना की है। बहुदेववाद मे यदि एकतत्त्ववाद और कारण-कार्य निश्चयवाद (विवेक एव तर्क) के लक्षणो में स्वीकार कर लिया जाय और उस अर्थ मे उसको सत्य स्वीकार किया जाय तो उसके ईश्वर और प्रकृति मे कोई अन्तर नही रह जाता है। फिर भी दोनो मे महत्वपूर्ण अन्तर है। बहुदेववाद मे ईश्वर और प्रकृति को एक मानने पर भी उसमे ईश्वर-प्रकृति का एक अपना लक्ष्य माना जाता है। इस प्रकार का लक्ष्य एकतत्त्ववादी प्रकृतिवाद के साथ सगत अथवा उचित नही माना जा सकता। ससार मे जितना कष्ट और निर्दयता हमे दिखायी देती है उसको ईश्वरीय लक्ष्य के आधार पर स्वीकार नही किया जा सकता। हमें तो इस सृष्टि का एक ही उद्देश्य मालूम होता है जिसमे सभी जीव, जिनमे मानव प्राणी भी शामिल है, निरन्तर संघर्षशील है।

एकतत्त्वात्म प्रकृतिवाद सृष्टि के रहस्य को उद्घाटित करने मे सहायक न भी हो तो भी उसके द्वारा हम भूत काल से सृष्टि के विकास को समझ सकते है। हम अपनी वर्तमान स्थिति को समझ सकते है और अच्छे भविष्य के लिए प्रयत्नशील हो सकते हैं।

छः

मानव : प्रकृति का हिस्सा

एकतत्त्वात्मक प्रकृतिवाद का तात्पर्य है कि प्राणी जगत, जिसमे मानव भी सम्मिलित है, का विकास जड पदार्थ से हुआ होगा। इस कथन की पुष्टि आधुनिक विज्ञान भी करता है।

जीवन का आरम्भ

वैज्ञानिको का अनुमान है कि पृथ्वी करीब 5 अरब वर्ष पुरानी है। पृथ्वी के जड़ीभूत पदार्थों के अध्ययन से यह पता चला है कि करीब एक अरब वर्ष से पृथ्वी पर जीवन है। इसका अर्थ यह है कि पृथ्वी पर जीवन आरम्भ होने से करीब 4 अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी अस्तित्व मे आ चुकी थी (यह तथ्य और आगे वर्णित तथ्य प्रोफेसर अर्ल ए एवॉस जूनियन की पुस्तक "एडवेंचर्स आफ माइड" के 'हाऊ लाइफ बिगेन' के आधार पर लिये गये है। इस पुस्तक का सम्पादक रिचर्ड ट्रूएलसेन और जान कोब्लर ने विटेज बुक–प्रकाशन के लिए किया है। दूसरा–जड़ीभूत पदार्थों के नये अध्ययनो से पता चला है कि जीवन का आरम्भ "इससे भी पहले हो चुका था लेकिन उससे मुख्य तर्क पर प्रभाव नही पडता है"–'दि इक्नामिस्ट' (लदन, 7-13 मार्च, 1981, पृष्ठ-94)

वैज्ञानिको ने पृथ्वी पर जीवन के आरम्भ होने के सम्बन्ध मे कुछ मान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। पृथ्वी के अस्तित्व मे आने के समय यहाँ के वातावरण का अनुमान लगाया गया है जिसमे जीवन का विकास हुआ होगा। अनेक मामलो मे उस समय की पृथ्वी आज की पृथ्वी से बहुत भिन्न रही होगी। पहली बात तो यह है कि उस समय पृथ्वी प्राण वायु से मुक्त थी और वातावरण मे ज्यादातर उद्जन, अमोनिया और मिथेन नामक गैस थी। इस समय पृथ्वी पर जो प्राणवायु है उसका बहुत सा भाग घनीभूत होकर पृथ्वी के तल से करीब 20 मील ऊपर एक चादर-सी बन गयी है। यह चादर सूर्य की मारक किरणो (अल्ट्रा वायलेट रेडिएशन) से रक्षा करती है। अति प्राचीनकाल मे भी पृथ्वी के चारो ओर घनीभूत प्राणवायु का घेरा नही था और उस समय सूर्य के अति सूक्ष्म मारक किरणो का प्रभाव पड़ता था। उस समय पृथ्वी का तापक्रम अधिक था और समुद्र का जल भी गर्म था। वैज्ञानिको का अनुमान है कि उन अवस्थाओं ने

आलात द्रव्य अथवा कोयले के मोलिक्यूल (सूक्ष्म कण) उत्पन्न हुए होगे जिनके बाद जीवन उत्पन्न हुआ होगा ।

पिछले वर्षों मे अनेक प्रयोगों के द्वारा पृथ्वी की अति प्राचीनकालीन अवस्थाओ को उत्पन्न किया गया है । इन प्रयोगो से उक्त मान्य सिद्धान्तो की पुष्टि होती है । उदाहरण के लिए शिकागो विश्वविद्यालय के दो रसायनवैज्ञानिकों-स्टेनले मिलर और हेराल्ड उरे ने यह सिद्ध किया है कि उद्‌जन, मिथेल, अमोनिया और जल के मिश्रण को बिजली से उद्वेलित किया जाय तो मिश्रित आलात द्रव्य को उत्पन्न किया जा सकता है । इस प्रकार के मिश्रित आलात जीवन तत्त्व अथवा पदार्थ को जीवन के विकास की पूर्व स्थिति कहा जा सकता है ।

एक अन्य प्रक्रिया से मिश्रित आलात द्रव्य से जीवन के अश को विकसित किया जा सकता है । इस प्रक्रिया को स्वचालित प्रक्रिया कहा जा सकता है । इसके द्वारा स्वय उत्पन्न होने वाले अणु अशो अर्थात् ऐसे अणु अशो (मोलिक्यूल) के कृत्रिम रूप विकसित हो सकते है । इससे अनेक प्रकार के एक से अनेक जीवाणु उत्पन्न करने की क्षमता विकसित होती है । इस प्रकार के स्वयजनित जीवाणु–अणु अशों के बाद ही जीवन का विकास होता है ।

जिन अवस्थाओ मे जड तत्त्वो से जीवाणु तत्त्वो का विकास हुआ वे अवस्थाएँ काफ़ी समय से नही रह गयी । नवीन विकास का मुख्य कारण यह था कि पृथ्वी के वातावरण मे प्राणवायु धीरे-धीरे बढ़ गयी । विभिन्न प्रकार के वानस्पतिक विकास से जो दुर्गन्ध दूर करने वाला तत्त्व उत्पन्न होता है उससे पृथ्वी पर प्राण वायु उत्पन्न हुई थी । वनस्पति सूर्य की रश्मियों के प्रभाव से जल तत्त्व से प्राणवायु को विभाजित करने मे सहायक होती है । इस प्रकार उत्पन्न प्राणवायु पृथ्वी के वातावरण मे जमा हो जाती है और उसका घनीभूत घेरा पृथ्वी को चारो ओर से घेरकर उसे सूर्य की मारक किरणों से सुरक्षित करता है । इन परिस्थितियों मे प्राणवायु से साँस लेने वाले जीव उत्पन्न होते हैं । इसके साथ ही वह परिस्थिति समाप्त हो गयी जब जड-जगत से जीव जगत उत्पन्न होता है । इसके बाद वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं से अलग जीवन की उत्पत्ति की प्रक्रिया शुरू हो गयी थी ।

जैविक विकास

जड पदार्थ से जीवन उत्पन्न होने के बाद विभिन्न प्रकार के पशुओं और जीव-जन्तुओं के विकास की व्याख्या की जा सकती है । इस सिद्धान्त को जैविक विकास कहा जा सकता है । चार्ल्स डारविन ने 1859 में "ओरीजिन ऑफ़ स्पेसीज" (जीव का विकास) नामक पुस्तक प्रकाशित की थी । उसने अपनी पुस्तक मे यह सिद्ध किया था कि विभिन्न प्रकार की वनस्पति और जीव-जन्तु

प्राकृतिक चयन के आधार पर विकसित होते हैं। जीव के सभी रूप अस्तित्व के संघर्ष में लीन हैं और वे ही जीवित रह पाते हैं जो पर्यावरण के अनुरूप अपने को बदलने की क्षमता रखते है।

यद्यपि डारविन ने जीवन के विविध रूपों के अस्तित्व के संघर्ष का उल्लेख किया है लेकिन वह इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं बता सका कि वे क्या कारण हैं जिनके आधार पर कुछ जीव नष्ट होने से बचे रहे जबकि दूसरे नष्ट हो गये। कहा जाता है कि डारविन ने यह तो बतलाया कि विभिन्न जीव किस प्रकार जीवित रहे लेकिन वे कैसे उत्पन्न हुये, उसने इस बात को नहीं बतलाया। बाद में वंशानुक्रम के नियमों के अध्ययन से, जिन्हें मेन्डेल ने अपने प्रयोगों से सिद्ध किया, उक्त समस्या को काफी हद तक सुलझाया गया है। मेन्डेल ने वनस्पति जगत के सम्बन्ध में अपने प्रयोग उसी समय किये थे जब डारविन अपनी पुस्तक "दि आरीजिन ऑफ स्पेसीज" लिख रहा था। मेन्डेल के बाद के अनुसन्धानों से यह पता चला है कि वंशानुक्रम धागे के समान सूक्ष्म तत्वों से आगे चलता है। उन्हें "क्रोमोसोम" (जीवकोश) कहा जाता है जो प्रत्येक वनस्पति और प्राणी-जीव के शरीर के प्रत्येक कोश में विद्यमान रहता है। प्रत्येक जीव-कोश में अनेक जीवाणु होते हैं जो भिन्न प्रकार के दोहरे मोलिक्यूल होते हैं। जीवाणु वंशानुक्रम के चरित्र को आगे ले जाने में सहायक होते हैं। वैज्ञानिक इस प्रकार के जीवाणुओं को जीव-कोश से अलग करने में सफल हो चुके हैं। उन्नत अवस्था के पेड़ों और उन्नत अवस्था के जीवों के शरीरों में "जीवकोशों" के जोड़े विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार के "जीवकोशों" के जोड़े एक या दो सौ तक होते हैं। मानव शरीर में जीवकोशों के 23 जोड़े रहते हैं।

अब यह प्रमाणित हो गया है कि जीवन की विभिन्न श्रेणियों अथवा योनियों, जीवाणुओं-जीवकोशों और जीवों के परिवर्तन से उत्पन्न होती है। इस प्रकार के परिवर्तन भिन्न-भिन्न प्रकार के विकीरण से रासायनिक तत्त्वों और उनके सकरीकरण से उत्पन्न होते हैं। अगण्य परिवर्तनों के द्वारा वंशानुक्रम की पीढ़ियाँ उत्पन्न होती हैं। वे प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल अपने को ढाल लेती हैं।

वनस्पति जगत और प्राणी जगत में प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल बन कर जीवित रहने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कुछ अरक्षित जन्तुओं में ऐसी प्रवृत्ति मिलती है जिसके द्वारा वे नकल करके अधिक शक्तिशाली जन्तुओं के आक्रमण से अपने को बचा लेते हैं। लाखों वर्षों के अनुभवों के आधार पर वातावरण के अनुकूल अपने को बनाने की प्रवृत्ति, आत्म रक्षा की आदत विकसित हुई होगी। यह सत्य है कि जीवों के विकास और उनकी योनियों के बढ़ने की

प्रक्रिया के दौरान असंख्य वनस्पति और जीव नष्ट हो गये होंगे और उनमें से कम ही जीवित रहे हैं। इस प्रकार जीवन के विविध रूपो में वे ही आज जीवित हैं जो प्राकृतिक चयन के नियम से सुरक्षित रह सके हैं।

वैज्ञानिकों ने विभिन्न वनस्पति और जीवों के प्राकृतिक चयन के बाद भिन्न-भिन्न रूपों के विकास का अध्ययन किया है लेकिन वे इस बात का अध्ययन नहीं कर सके हैं कि जीव-जन्तुओं की विभिन्न इन्द्रियों जैसे—चक्षु, कान और मस्तिष्क द्वारा उनके नियन्त्रण का विकास कैसे हुआ। जीव-जन्तु वनस्पति जगत से इस अर्थ में भिन्न है कि वे स्वेच्छा से एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकते हैं। इससे उनकी रक्षा की सम्भावना बढ़ जाती है और वे अपने लिए उत्पन्न खतरे को पहचान सकते और उस से अपना बचाव कर सकते हैं। इस प्रकार आँख और मस्तिष्क की शक्ति से उनके जीवित रहने की सम्भावना बढ़ जाती है। यही बात श्रवण, घ्राण, स्वाद और स्पर्श के अवयवों और उनकी शक्ति के सम्बन्ध में कही जा सकती है। शरीर की पाचन क्रिया भी एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जो जीवन की रक्षा करती है।

यह भी दिखायी देता है कि पृथ्वी पर जीवन का जो रूप विद्यमान है वह विकास के द्वारा जीवित रहा है। उच्च जीव-जन्तुओं और उनके प्रजनन के विकास से उसका वंश चलता रहता है। उच्च श्रेणी के जीवों में लिंग-भेद से प्रजनन और जीवन का क्रम चलता रहता है और यह जीव-जगत का मुख्य प्रेरणा का स्रोत बन गया है और उसका सम्बन्ध जीवन के क्रम को बनाये रखने से है।

मनुष्य विकास का उत्पाद

इस बात में किसी प्रकार के सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि मानव, जीव जगत के विकास क्रम से उत्पन्न हुआ। मानव अन्य जीवों की अपेक्षा इस अर्थ में विशिष्ट है कि उसका मस्तिष्क दूसरे जीवों के मस्तिष्क से अधिक भारी और उसकी चिन्तन-शक्ति उन से अधिक विकसित है। फिर भी मानव जीव अथवा प्राणी जगत का हिस्सा है।

चार्ल्स डारविन ने अपनी पुस्तक "दि ओरीजिन आफ स्पेसीज" के प्रकाशन के 12 वर्ष बाद 1871 में अपनी दूसरी बड़ी पुस्तक "दि डिसेंट आफ मेन" प्रकाशित की। अपनी पुस्तक के अन्त में अपने निष्कर्ष का उल्लेख करते हुए उसने लिखा : 'मुख्य निष्कर्ष, जिसे अनेक प्रकृतिवादी स्वीकार करते हैं जो अपने निष्कर्ष पर गम्भीर चिन्तन के बाद पहुँचे हैं, यह है कि मनुष्य का विकास जीवन की उससे निचली ऊँचाई से हुआ। जिस आधार पर यह निष्कर्ष

निकला है वह कभी नष्ट नही होगा क्योंकि मानव और उससे नीचे के स्तर के प्राणियो का शारीरिक विकास और उनकी बनावट की अगणित बातें, ऊँचे से ऊँचे और नीचे से नीचे स्तर की एक समान है और मनुष्य प्राणियो की बहुत सी बातो को रूढ के रूप मे बनाये हुए हैं। इन बातो को एकदम उलटा नही कहा जा सकता और न उनके सम्बन्ध मे विवाद ही उठाया जा सकता है।" डारविन ने मनुष्य और कुत्तो के भ्रूणो मे समानता दिखलाते हुए बतलाया कि उनके शिर, अवयव और पूरे ढांचे में समानता है जो अन्य स्तनीय जन्तुओ के भी समान है। भिन्न-भिन्न प्रयोगो से अवयवो की विशिष्टता उत्पन्न होती है। कुछ मांस-पेशियाँ मनुष्य मे विकसित नही होती जो चतुष्पादी प्राणियों मे होती है। इस प्रकार की अनेक बातो के आधार पर सहज निष्कर्ष निकलता है कि "मनुष्य अन्य स्तनपायी प्राणियों के समान ही विकसित हुआ है।"

एक आश्चर्यजनक समानता वनस्पतियो मे प्राप्त हरित तत्त्व और मनुष्य के रक्त मे प्राप्त लाल रंग के होमोग्लोबिन नामक तत्त्वों मे प्राप्त होती है। उनको रासायनिक चचेरे भाई की संज्ञा दी गयी है। यह समानता मानव और वनस्पति जगत के समान उत्तराधिकार को सिद्ध करती है।

यह तथ्य कि मनुष्य प्रकृति का हिस्सा है मौलिक मानववाद के दर्शन के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके आधार पर मानव के स्वभाव को समझने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है। मानव जीवन के इस विकास क्रम के आधार पर हम मानव चेतना की आधारभूत बातो, उसके ऊपरी प्रभावो को भली प्रकार समझ सकते है। इस प्रकार हम मानव के स्वभाव और उसकी स्वतन्त्रता की इच्छा के स्रोत, उसकी तत्त्व की खोज की प्रवृत्ति, उसके विवेक, उसकी सामाजिक और समाज-विरोधी भावनाओ और उस की चेतना तथा उस के नैतिक गुणो को जान सकते है। प्राणियो के विकास और उसमे मानव के स्थान के इतिहास से हम मानव-विकास की दिशा की सम्भावनाओ की कल्पना कर सकते हैं।

इस बात को जानने की आवश्यकता है कि भाषा के विकास के बाद मानव जीवन के विकास मे भिन्न मोड आया है। भाषा और ज्ञान का प्रभाव समाज और व्यक्ति पर अधिक पडने लगा। प्राणीजगत की यह विशेषता है कि वह वातावरण के अनुकूल अपने को ढाले, उसके स्थान पर मानव ने वातावरण को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न आरम्भ किया। इस प्रकार मानव का प्राणी-विकास अब केवल प्रकृति के अन्ध प्राकृतिक चयन पर आश्रित नही रहा। मानव समाज और उसकी सांस्कृतिक परम्परा मानव के विकास को प्रभावित करती है।

उसका विकास अब मात्र उत्पत्ति विषयक न रहकर "मनोवैज्ञानिक" (जूलियन हक्सले) अथवा "सामाजिक-उत्पत्ति" (सी-एच. वैडिंगटन) से भी प्रभावित होता है। मानव के स्वभाव और उसकी प्रकृति को जानने के लिए यह काफी महत्वपूर्ण है।

(चार्ल्स डारविन– "दि डिसेंट आफ मैन", प्रकाशक– ब्रिटैनिका ग्रेट बुक्स सस्करण 49, पृष्ठ–590, प्रो. एर्ल ए. एवॉस जूनियर "हाऊ लाईफ बिगेन" सी एच. वैडिंगटन का लेख "दि ह्यूमन एनीमल" दि ह्यूमनिस्ट फ्रेम मे प्रकाशित, सम्पादक सर जूलियन हक्सले)

शरीर और आत्मा

शरीर और आत्मा की द्वैत भावना जड़ और चेतन की द्वैत भावना से मिलती जुलती है। विज्ञान इस प्रकार की द्वैत भावना की पुष्टि नही करता है। विज्ञान का साक्ष्य उसके एक दम प्रतिकूल है।

मानव चेतना को मानव शरीर से अलग करने का प्रत्येक प्रयास विफल रहा है। इसके विपरीत यह देखा गया है कि यदि शरीर मे सुधार किया जाता है तो मानव चेतना मे भी सुधार हो जाता है। मानव चेतना मानव मस्तिष्क का क्रिया कलाप है जो शरीर का ही एक अग है। यही कारण है कि चेतना शरीर को और शरीर चेतना को प्रभावित करता है। कुछ औषध मस्तिष्क के तन्तुओ को प्रभावित करते हैं जिससे उसके पदार्थ मे अन्तर आ जाता है।

मानव शरीर किसी भी प्राणी के शरीर की भाँति एक उपजाऊ कोष से विकसित होता है। शारीरिक विकास की प्रक्रिया मे दूसरे कोश बनते हैं और फिर उनके स्थान पर नये कोश बनते है। कोशो के इन परिवर्तनो के बावजूद व्यक्तित्व की चेतना बनी रहती है और वह चेतना पुराने कोशों से नये कोशो को हस्तान्तरित होती रहती है। कोशो का ऐसा कोई दावा नही हैं जिसे आत्मा का निवास माना जा सके। स्मृति मस्तिष्क के कोशो की असंख्य विद्युतधाराओ के चक्र मे व्याप्त रहती है। मस्तिष्क की बनावट के अध्ययन से पता चलता है कि मस्तिष्क के विभिन्न क्रियाकलाप उसके विविध भागो मे केन्द्रित रहते है। इस बात का कोई आधार नही है कि आत्मा मस्तिष्क से अलग रहती है। मस्तिष्क भी शरीर के मृत होने पर मर जाता है और उसके बाद किसी प्रकार की चेतना नही रह जाती।

वैज्ञानिक साक्ष्य के अभाव मे भी शरीर से अलग आत्मा के अस्तित्व का विश्वास इसलिए बना रहता है क्योकि हमारी इच्छा जीवित रहने की होती है और हम

जिन्हे चाहते है उनको जीवित रहने की हमारी इच्छा होती है। इसी कारण हम परम्परागत रूप से आत्मा की अमरता को मानते रहते है क्योकि हम यह स्वीकार करने के लिए तैयार नही होते कि हमारा व्यक्तित्व शरीर की मृत्यु के साथ ही नष्ट हो जायेगा।

शरीर और आत्मा की द्वैत भावना को मानने से भी कोई हानि नही होती यदि वह मात्र हमारी स्व-इच्छा अथवा कल्पना होती। लेकिन इसे स्वीकार करने से व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हानिकारक परिणाम निकलते हैं। आत्मा के कल्याण के लिए व्यक्ति उपवास, ब्रह्मचर्य और विभिन्न प्रकार के त्याग करके अपने ऊपर अत्याचार करता है। इस प्रकार का व्यवहार अवैधानिक और अस्वास्थ्यकर होता है जो मानव शरीर के स्वभाव के प्रतिकूल है। व्यक्ति को विवेक के आधार पर अपने सन्तुलित जीवन की आवश्यकता है, उसको आत्मा के मोक्ष के प्रयास के लिए कष्ट देने की आवश्यकता नही है।

शरीर और आत्मा की द्वैत भावना को स्वीकार करने से उसके खराब सामाजिक परिणाम निकलते हैं। हिन्दू धर्म के विश्वास के अनुसार कर्म और पुनर्जन्म दोनो एक ही गुँथे हुए विचार है जिनसे बाद मे शरीर और आत्मा के द्वैत विचार से अमरता का विश्वास उत्पन्न माना जाता है। हिन्दू कर्म सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान मानव जीवन का दुख दैन्य उसके पूर्व जन्म के कर्मों अथवा कुकर्मों का फल है। इसके द्वारा उसे सामाजिक शोषण, दमन और अत्याचार को भोगने के लिए राजी होना पड़ता है। कर्म सिद्धान्त से समाज मे व्याप्त सामाजिक-अन्याय को बल मिलता है।

पुनर्जन्म मे विश्वास करने वाले लोग भारत और विकासशील देशो मे आबादी की विस्फोटक वृद्धि की क्या व्याख्या करते है, यह जानना दिलचस्पी की बात होगी। पिछले 40 वर्षों मे भारत की आबादी दुगुनी हो गयी हैं और अगले बीस वर्षों मे इसकी भी दुगुनी हो जायेगी। आबादी की वृद्धि के भौतिक कारण आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के विकास, मृत्युदर की कमी और जन्म दर का अधिक रहना है। लेकिन आत्मा मे विश्वास करने वाले व्यक्ति को इस बात की व्याख्या करनी पड़ेगी कि पुनर्जन्म लेने वाली आत्माओ की इतनी अधिक सख्या कैसे हो गयी। आबादी मे बढ़ते हुए शरीरो के लिए अतिरिक्त आत्माओं की आवश्यकता पडी होगी। क्या निम्नकोटि के प्राणियो की बड़ी सख्या मे मृत्यु होने से उनकी आत्माओ के लिए मानव शरीर बढ़े हैं? निम्नकोटि के प्राणियो ने ऐसी क्या तपस्या की है जिससे उनकी उन्नति हो गयी और उन्हे मानव शरीर मिल गया?

अथवा क्या ईश्वर ने तीसरे विश्व के विकाससील देशो को सजा देने के लिए उनकी आबादी बढ़ा दी है जहाँ पहले से लोग भुखमरी की स्थिति मे रहते हैं।

ईश्वर और धर्म में विश्वास

ईश्वर और धर्म मे आस्था उन मनोवैज्ञानिक शक्तिओं से आधार प्राप्त करती है जिनसे आत्मा के अस्तित्व में आस्था उत्पन्न मानी जाती है।

मानव जीवन अनिश्चितता, आकस्मिक घटनाओं, दुर्भाग्य और कष्टो से भरा रहता है। व्यक्ति को जीवन की इस प्रकार की स्थितियो का सामना करने के लिए कुछ सहारा चाहिए। ईश्वर और धर्म से उसे मनोवैज्ञानिक आधार मिलता है। मानव ईश्वर मे इसलिये विश्वास करने लगता है क्योकि उसे स्वय अपने मे विश्वास नही होता है। जिस व्यक्ति मे आत्म-विश्वास का अभाव है वह विवेक और तर्क के आधार पर अपने उस मनोवैज्ञानिक सम्बल को छोड़ने के लिए तैयार नही होगा जो उसे ईश्वर और धर्म मे आस्था से मिलता है।

ईश्वर से प्रार्थना करना, उसकी पूजा अर्चना करना धर्म का तत्त्व है। फिर भी यदि आस्थावान व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास करता है तो भी देवता की पूजा करना उसके लिए तर्कहीन है। ईश्वर, यदि उसका अस्तित्व है तो उसे न्यायकर्ता होना चाहिए और ऐसा करने मे उसे कोई पक्षपात अथवा भेदभाव नही करना चाहिए। साधारण न्यायाधीश से भी यह अपेक्षा की जाती है कि वह इतने छोटे विचार का न हो कि यदि कोई उसकी झूठी प्रशसा करे अथवा उसे भेट दे तो वह उसका पक्ष ले ले। उसे तो वाद के गुण-दोष के आधार पर न्याय करना चाहिए। तो फिर क्या ईश्वर से यह अपेक्षा नही की जा सकती कि वह विभिन्न व्यक्तियो के गुण-दोष के आधार पर उन पर अपनी कृपा करे और प्रार्थना और पूजा अर्चना से प्रभावित न हो। इस प्रकार ईश्वर मे आस्था और प्रार्थना तथा पूजा-अर्चना का कोई सम्बन्ध नहीं है जो धर्म का तत्त्व माना जाता है।

व्यक्ति और समाज : मानव मर्यादा

"हिस्ट्री आफ वेस्टर्न फिलासफी" नामक अपनी पुस्तक की प्रस्तावना मे बर्ट्रेंड रसेल ने यह विचार व्यक्त किया है कि ईसा पूर्व 600 वर्ष से आधुनिक समय तक दार्शनिको को दो श्रेणियो मे विभाजित किया गया है : अनुशासनपालक और स्वतन्त्रताप्रिय। प्रथम श्रेणी सामाजिक एकता पर जोर देती थी और दूसरी व्यक्ति स्वातन्त्र्य को मानती थी। रसेल का कहना है कि उदारवाद (लिबर-लिज्म) न समाप्त होने वाली जडीभूत भावना से छुटकारा पाने का प्रयास था। उसने आगे कहा कि यह तो भविष्य ही निश्चित करेगा कि वह प्रयास सफल हो गया अथवा नही।

पहले (तीसरे अध्याय) हमने उन कारणो पर विचार किया है जिनके कारण उदारवाद, यद्यपि वह यूरोपीय पुनर्जागरण की मानववादी आकांक्षा से उत्पन्न हुआ था, एक सिद्धान्त के रूप मे अपर्याप्त ही सिद्ध हुआ। मौलिक मानववाद उक्त जडीभूत वर्गीकरण से छुटकारा पाने का प्रयास करता है। रसेल ने यह भी दिखाया है कि सहयोगात्मक जीवन व्यक्ति की स्वतन्त्रता से सगत ही नही उसके लिए आवश्यक है।

व्यक्ति की प्रधानता

इस बात पर बल देना आवश्यक है कि व्यक्ति और समाज मे व्यक्ति को प्रधानता दी जाती है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति एक जीवित शरीर वाला प्राणी है लेकिन समाज वैसा नही है। व्यक्ति मे चेतना होती है और वह कष्ट-दर्द, प्रगति और अवनति का अनुभव कर सकता है। उसके मस्तिष्क मे ऐसे कोश होते है जो विचार और अनुभव को सँजोते है। लेकिन समाज मे ऐसे अवयव अथवा कोश नही है। समाज आनन्द और प्रगति का अनुभव नही कर पाता है। सामाजिक आनन्द और सामाजिक प्रगति का तब तक कोई अर्थ नही है जब तक समाज को बनाने वाले व्यक्ति आनन्द और प्रगति का अनुभव न करें। इस प्रकार व्यक्ति के आधार पर सामाजिक प्रगति को आँका जा सकता है।

इस प्रकार के विचार से कि मानव ही समाज की मर्यादा अथवा उसका परिमाण है, इस मानववादी सिद्धान्त की पुष्टि होती है। जब किसी भी सामाजिक (राज-

नीतिक एवं आर्थिक) संस्था के अच्छे या बूरे होने का प्रश्न उठता है तो यही देखना पड़ता है कि उससे समाज के व्यक्ति की भलाई होती है अथवा नही। इस परिमाण को सभी सस्थाओ, राजनीतिक सस्थाओं पर लागू किया जा सकता है चाहे वह संसदीय लोकतन्त्र हो या फासिस्ट व्यवस्था, मिश्रित अर्थ व्यवस्था हो अथवा उत्पादन के सभी साधनो के सम्पूर्ण राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था अथवा वह कोई सामाजिक व्यवस्था हो जैसे कि भारत की जाति-व्यवस्था। इन सभी के लिए माप व्यक्ति की भलाई होना चाहिए न कि उनकी सामाजिक इकाइयाँ जैसे जाति, समुदाय, राष्ट्र अथवा वर्ग जो व्यक्ति की भलाई से सम्बद्ध न होकर अपने को सामाजिक इकाइयाँ मानती है। व्यक्ति की भलाई का क्या तात्पर्य है यह एक विवादास्पद प्रश्न हो सकता है। मौलिक मानववाद के व्यक्तिगत दर्शन पर विचार करते समय हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे। लेकिन व्यक्ति की मर्यादा और परिमाण मुख्य बात है जो शरीरगत चेतना सम्पन्न व्यक्ति पर लागू होती है उसके समष्टि पर नही।

यहाँ समाज के महत्व को व्यक्ति से कम करने की बात नही है। व्यक्ति के जीवन के लिए के लिए यह आवश्यक है कि वह समाज मे रहता हो। व्यक्ति के अस्तित्व के अतिरिक्त समाज से व्यक्ति को भाषा मिलती है और वह समाज के ज्ञान और संस्कृति के उत्तराधिकार मे अपना हिस्सा प्राप्त करता है। समाज की उपयोगिता उस सीमा तक लाभप्रद है जब तक वह व्यक्ति के हितो की रक्षा करता है और उन्हे आगे बढ़ाता है। इस प्रकार व्यक्ति का हित लक्ष्य है और समाज उसकी प्राप्ति का साधन।

जब यह कहा जाता है कि समाज व्यक्ति के लिए है तो उसका अभिप्राय यह नही है कि समाज केवल एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियो के एक समूह के लिए है। सामाजिक अस्तित्व के लिए वह अपरिहार्य आवश्यकता है कि उसमे मनुष्य की समानता का सिद्धान्त भी निहित हो। यदि एक व्यक्ति अपने आप में अपना लक्ष्य है और उसके लिए अन्य कोई उच्च लक्ष्य नही है तो उसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति भी अपने लिए अपना लक्ष्य होना चाहिए। समाज मे सहयोगात्मक जीवन होना चाहिए जिसमे कर्तव्य और अधिकार सम्मिलित है तो उन सबको सभी व्यक्तियो के हित मे समान रूप से योगदान करना चाहिए।

सामाजिक नियम और व्यक्ति चेतना

अनेक समाजशास्त्रियो ने यह मत व्यक्त किया है कि मानव की व्यक्तिगत चेतना समाज से उत्पन्न होती है और सामाजिक नियम व्यक्ति के विचार और कार्यों को प्रभावित करते है। इसमे कुछ अतिशयोक्ति है। यदि व्यक्तिगत चेतना समाज

से उत्पन्न हो और सामाजिक नियमो से वह नियन्त्रित हो तो प्रत्येक समाज एक बन्द-व्यवस्था हो जायेगी और उसमे सामाजिक सुधार के लिए कोई अवसर नही रह जायेगा।

सामन्तवादी और प्रारम्भिक पूंजीवादी समाजो मे जब सामाजिक नियम अत्यधिक कठोर थे और परिवारो पर पैतृक प्रमुत्व था, उस समय भी अनेक व्यक्तियो ने पुरानी परम्पराओ और मान्य सिद्धान्तो के विरूद्ध विद्रोह किया था और वे सामाजिक सुधारो के नेता बन गये थे। यद्यपि उन्हे अपने समय मे चिन्तित होना पडा और उन्हें दडित किया गया लेकिन उनके विचारो को दूसरे लोगो ने अपनाया और समय की गति मे पूरे समाज मे उदारता आयी। रूढ़ि तोडने वाले स्वतन्त्र विचार के व्यक्तियों ने समाज मे सदैव रचनात्मक भूमिका निबाही है।

अधिकाश आधुनिक उदार समाजो मे वह बात लागू नही होती कि व्यक्तिगत चेतना समाज से उत्पन्न होती है। ऐसे समाजो मे तो उससे उल्टी बात ही देखने मे आती है। व्यक्तिवाद के विकास और नवीन उदारता के कारण सामाजिक नियम ढीले पड गये है और अभिभावक और अध्यापक अपनी सन्तानो और शिष्यो मे परम्परागत भूमिका का निर्वाह करने मे अपने को असमर्थ पाते है। प्रौद्योगिकी के विकास से समाज की जटिलताएँ बढ़ती जाती हैं और व्यक्तिवाद तथा उदारता के कारण हमारे युग का नैतिक सकट उत्पन्न हो गया है। इस संकट का हल अधिकारवादी पारिवारिक व्यवस्था को पुनः लादने से नही निकलेगा और न शिक्षासस्थाओं और समाज मे पूरे कठोर नियमों को लागू करना सम्भव हो सकेगा। इस समय इस बात की आवश्यकता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता और नैतिक अखडता—आचरण—मे समन्वय स्थापित किया जाय। वाह्य शक्ति द्वारा नैतिक आचरण लादा नही जा सकता अतः उसे आत्मनुशासन और आत्मसंयम से विकसित किया जाना चाहिए। आज स्वतन्त्रता और नैतिकता दोनो का सहअस्तित्व रहना चाहिए। आगे हम यह देखेंगे कि मौलिक मानववाद से इस समस्या का कैसे निदान किया जा सकता है।

व्यक्तिवाद और समष्टिवाद

यद्यपि मानव स्वय अपना लक्ष्य है फिर भी वह प्रायः अपने व्यक्तित्व को राष्ट्र अथवा समुदाय अथवा वर्ग की समष्टि मे समाहित कर देता है। समष्टि के अस्तित्व मे एक अहकार बताया जाता है और व्यक्ति को उसके मच पर बलिदान कर दिया जाता है। मानव अपने आपका लक्ष्य बनने के बजाय समष्टि के उच्च आदर्शो के लिए साधन बन जाता है। समष्टि में जनता के बलिदान का लाभ प्रायः विशेष अधिकार सम्पन्न अल्पसख्यक लोगो को मिलता है।

यूरोप में फासिज्म-अधिनायकवाद का पिछले वर्षों में उदय समष्टि का ऐसा ही रूप था। हम वहाँ अधिनायकवाद के राजनीतिक सिद्धान्त अथवा अधिनायकवादी राज्य के स्वरूप की बात नही करते हैं लेकिन उन मनोवैज्ञानिक कारणों की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं जिन से उसको विनाशकारी शक्ति मिलती है। डा. एरिक्क फ्राम ने अपनी पुस्तक 'फियर आफ फ्रीडम' में उन मनोवैज्ञानिक कारणों की सबसे अच्छी व्याख्या की है।

समष्टि के विकास में जो मनोवैज्ञानिक कारण सहायक होता है वह मानव-व्यक्ति की यह असमर्थता की भावना है कि वह जीवन की अनिश्चितताओं का सामना स्वय अपने पर भरोसा रख कर नही कर सकता है। आत्मविश्वास के इस अभाव के भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं। यूरोपीय नवजागरण के पूर्व वाले समाजों ने और उन समाजो मे जहाँ उस तरह का नवजागरण नही हुवा और जिन- जिन समाजो मे नवजागरण और विवेकशील व्यक्तिवाद के आन्दोलन की जड़ें नहीं जमी वहाँ मानव की असहायता की स्थिति बनी रही जो अन्धविश्वास और पुरातनवादी धर्मों से प्रभावित रहती है। पुनर्जागरण के बाद पूँजीवादी समाज में सामन्त काल की श्रखलाओ से मुक्त होने पर भी मानव की स्वतन्त्रता से जीवन की अनिश्चितता उत्पन्न हो गयी। पूँजीवादी समाज मे मानव की स्वतन्त्रता का अर्थ रोजगार पाने की स्वतन्त्रता है और उसके न मिलने पर भुखमरी का सामना करने की स्वतन्त्रता है। औद्योगिक संकट के समय में बेकारी के भय से मानव निरन्तर त्रस्त रहता है और भुखमरी के परिणामस्वरूप उसकी असहायता की भावना बढ़ जाती है। तीसरे विश्व के पिछड़े देशो मे, जो आंशिक रूप से औद्योगिक बने हैं, उक्त दोनों प्रकार की असुविधाएँ रहती है।

जहाँ मानव-व्यक्ति की असहायता की ऐसी भावना रहती है वहाँ समष्टि की सफलता के अनुकूल वातावरण बन जाता है। ऐसे समाज मे व्यक्ति को आसानी से इस मनोवैज्ञानिक स्थिति से प्रभावित किया जा सकता है कि यदि वह समष्टि राष्ट्र में अपने व्यक्तित्व को समाहित कर देगा तो उसे सुरक्षा और शक्ति प्राप्त हो जायेगी। वह अपने आप कमजोर है लेकिन समूह के शक्तिशाली होने से वह भी अपने को शक्तिशाली समझने लगता है। और अपनी इस मनोवैज्ञानिक भावना को बनाये रखने के लिए उसे राष्ट्र को सबल बनाने मे अपना योग देना पड़ता है। डॉक्टर एरिक फ्राम ने कहा है कि समष्टि की भावना का आधार व्यक्ति का अपना आन्तरिक समर्पण है और बाह्य आक्रमण के भय से वह समष्टि मे मिलकर अपनी सुरक्षा की भावना को दृढ करता है। अनुशासन (चाहे वह एक पार्टी का हो या, एक नेता या, एक राष्ट्र का) के नाम पर व्यक्ति

समष्टि के समक्ष आत्मसमर्पण करता है और उसके साथ ही समष्टि के यश का रक्षक और सैनिक बन जाता है। हिटलर के अधीन जर्मनी मे अधिकांश लोगो ने अधिनायकवादी राष्ट्र के समक्ष आत्मसमर्पण ही नही किया वरन् अपने राष्ट्र को ससार मे महानतम शक्तिशाली बनाने के लिए अपने को बलिदान भी कर दिया। इस प्रक्रिया मे उन्होने करोड़ो निरपराध व्यक्तियो को मौत के घाट उतारा, उनका विनाश किया और उन्हे अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाया।

समष्टि की मनोवैज्ञानिक भावना के समान ही धर्म की भी मनोवैज्ञानिक भावना होती है। धर्म मे मानव से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ईश्वर के समक्ष सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करे। एक धर्म का ईश्वर दूसरे धर्म के ईश्वर से अधिक शक्तिशाली होना चाहिए। इस प्रकार समष्टिगत प्रतिस्पर्धा का जन्म होता है और उसके उदाहरण इतिहास मे वर्णित धर्मयुद्धो मे मिलते है। कभी-कभी ईश्वर के स्थान पर धर्म का सगठित रूप चर्च जैसी सस्थाएँ लेकर व्यक्ति के आत्म-समर्पण का केन्द्र बन जाती है। यूरोप मे कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट नामक ईसाई सम्प्रदायो और भारत मे हिन्दुओ और मुसलमानो के समष्टिगत व्यक्तित्वो के संघर्ष मे दिखायी देता है।

समष्टिवाद केवल राष्ट्र और धार्मिक समष्टिगत व्यक्तित्वो तक ही सीमित नही रहता है। यह भावना वर्ग, समुदाय, आदिम जाति, राजनीतिक पार्टी और साधारण सगठन मे भी भिन्न-भिन्न स्तर मे विकसित हो सकती है। समाज अथवा सामाजिक इकाईयो के व्यक्तियो मे आत्मविश्वास के अभाव से समष्टि भावना बलवती होती है।

समष्टिवाद और सहयोग

समष्टिवाद का विकल्प समाज से अलग अकेला व्यक्ति नही है। आज के जटिल समाज मे, अकेला व्यक्ति बहुत कम सफलता प्राप्त कर सकता है। उसे अपने जीवन की आवश्यकताओ और आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए दूसरो के साथ की जरूरत पड़ती है। यदि वह स्वतन्त्रताप्रिय और स्वतन्त्र विचारक व्यक्ति है तो उसका समाज मे अन्य व्यक्तियो से सहयोगात्मक साथ हो सकता है समष्टिगत नही। सहयोग के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता और आत्मानुशासन दोनों होना जरूरी है।

समष्टिवाद और सहयोग का अन्तर प्रत्येक सामाजिक सगठन के लिए आवश्यक आधार से सम्बन्धित है। एक सामाजिक सगठन समष्टिवादी हो जाता है जब उसमे शामिल व्यक्ति उसमे अपना व्यक्तित्व विलीन कर देते हैं और सगठन मे

अपने को आत्मसात् कर देते है। जब सामाजिक संगठन सहयोग पर आधारित होता है तो उसमे शामिल व्यक्ति अपने आत्मविश्वास की भावना बनाये रखकर एक समान उद्देश्य के लिए परस्पर सहयोग करते है। सहयोग मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता, सम्मान, मर्यादा बनी रहती है लेकिन समष्टिवादी समाज मे उसका आत्मसमर्पण हो जाने से इन बातों का लोप हो जाता है।

सार्वभौमिक मानववाद

मानव सभी वस्तुओं का परिमाण अथवा माप है, इस सिद्धान्त में विश्वास के कारण मौलिक मानववाद व्यक्ति को सर्वोपरि मानता है। मौलिक मानववाद मे व्यक्तिवाद का अर्थ विवेकसम्पन्न और स्वेच्छा से नैतिक आचरण करने वाले व्यक्ति से है। ऐसा व्यक्ति समान उद्देश्य के लिए सोद्देश्यीय सहयोग करने के लिए तत्पर रहता है।

ऐसे व्यक्तिवाद और इस प्रकार की सार्वभौमिक भावना में एक प्राकृतिक सम्बन्ध है। वह दूसरे की भावनाओ का वैसे ही आदर करता है जैसा कि वह अपनी भावनाओ का करता है। जिस व्यक्ति को अपने राष्ट्र और समुदाय का सदस्य होने का गौरव होता है वह दूसरे व्यक्ति के साथ अपने राष्ट्र अथवा समुदाय का सदस्य होने अथवा न होने के आधार पर भिन्न व्यवहार करता है। लेकिन जो व्यक्ति किसी समष्टि मे अपने को समाहित नही मानता और अपने अकेले व्यक्तित्व का सम्मान करता है वह अन्य व्यक्तियो के साथ ही इसी आधार पर उसके व्यक्तित्व के आधार पर आदर करता है। वह उसके राष्ट्र, समुदाय, वर्ग अथवा जाति का भेदभाव नही करता है। विवेकसम्पन्न व्यक्तिवाद और सार्वभौमिक मानववाद एक साथ रह सकते है क्योकि दोनो का मौलिक दृष्टिकोण मानववादी होता है।

तीसरा खण्ड : व्यक्तिगत दर्शन

स्वतन्त्रता : मौलिक मूल्यमर्यादा

मौलिक मानववाद स्वतन्त्रता को आधारभूत मानवमूल्य अथवा मर्यादा मानता है। अन्य सभी मानवमूल्य विवेकानुसार उसी से उद्भूत होते हैं। इस अर्थ में स्वतन्त्रता सभी मानव मूल्यों का मूल आधार है।

हमने पाँचवे अध्याय मे कहा है कि मौलिक मानववाद संसार में मनुष्य और उसके अन्य मनुष्यों से सम्बन्ध और उसके स्थान को समझने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उत्पन्न हुआ है। हमारा इस कथन से कि स्वतन्त्रता मानवजीवन का आधारभूत मूल्य है और वह सभी मानवमूल्यों का स्रोत है यह प्रश्न उठता है कि क्या मानवमूल्यों का भी कोई विज्ञान हो सकता है अथवा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाकर मानवमूल्य विकसित किया जा सकता है ?

विज्ञान और मानवमूल्य

जो लोग यह मानते हैं कि विज्ञान और मानवमूल्य दो भिन्न श्रेणियों में आते हैं और उनका कोई पारस्परिक प्रभाव नही पड़ता है उनका कहना है कि वैज्ञानिक फैसले किसी वस्तु के अस्तित्व मे होने अथवा न होने के आधार पर किये जाते हैं और मानवमूल्यों के फैसले अच्छाई और बुराई और 'क्या होना चाहिए और क्या नही होना चाहिए' के आधार पर किये जाते हैं। विज्ञान के द्वारा आप उससे उत्पन्न तथ्य जान सकते हैं लेकिन मानवमूल्य के सम्बन्ध में ऐसा अनुमान नही निकाला जा सकता है। किसी के अस्तित्व मे होने अथवा न होने से उसके अच्छा अथवा बुरा होने का फैसला नहीं किया जा सकता। अतः विज्ञान मानव मूल्यों के सम्बन्ध में कुछ भी नही कर सकता।

इस द्वैत विचारतथ्य और मानवमूल्यों के द्वैत के आधार पर कहा जाता है कि विज्ञान को मानवमूल्यों से मुक्त रहना चाहिए। सभी विज्ञानों के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण को अपनाने की बात कही जाती है जिनमें समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, और राजनीतिशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानों को सम्मिलित माना जाता है। यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाय तो उससे अजीब निष्कर्ष निकलेंगे। इसका यह अर्थ होगा कि चिकित्सा विज्ञान इस निष्कर्ष पर तो पहुँचे कि सन्तुलित

आहार से स्वास्थ्य अच्छा रहता है लेकिन वह यह न कहे कि मनुष्य को सन्तुलित आहार लेना चाहिए। चिकित्सा विज्ञान मानव-स्वास्थ्य का अध्ययन तथ्यात्मक आधार पर करे लेकिन उसमे मानवमूल्य का ध्यान न रखे। इसी प्रकार राजनीति विज्ञान लोकतन्त्र की परिभाषा करे और उसकी सफलता के लिए आवश्यक बातो का विश्लेषण करे लेकिन वह अन्य राजनीतिक सगठनो की तुलना मे लोकतन्त्र की अच्छाइयाँ न बताये।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण को मानवमूल्यो से मुक्त रखने की बात एक भ्रान्ति है। मानवमूल्य मानव के लिए कल्याणकारी और लाभकारक होता है। यह प्रश्न उठता है कि मानव मूल्य किसके कल्याण और किसके हित मे है? मानवमूल्य का सम्बन्ध जीवित प्राणी से है और उसकी सार्थकता मानव-व्यक्ति के लिए है। आप यह कह सकते है कि कुछ बातें पेड़-पौधो और पशुओं के लिए लाभकारी हो सकती है लेकिन पहाड और नदियों के लिए नही। शिकार करने वाले पशुओं के लिए यह लाभजनक होगा कि ससार मे ऐसे पशु हों जिनका वह शिकार कर सके और उन्हे खा सके लेकिन उन निरीह पशुओ के लिए यह लाभकारी नही होगा कि वे शिकार करने वाले पशुओ के पास रहे।

जब हम मानवमूल्यो और मर्यादाओं की बात करते हैं तो उसका सम्बन्ध मानव से होता है और उनके कल्याण और हित को ध्यान मे रखकर उनकी बात की जाती है। अच्छी जलवायु वह है जिसमे रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणु नही है। अतः ऐसी जलवायु अच्छी होगी जो मानव के लिए कल्याणकारी हो और जिसमे उसकी वृद्धि हो सकती है। मानवमूल्य वही है जो मानवजीवन के लिए मूल्यवान हो। पशुजीवन के लिए भी जो मूल्यवान है वह उपयोगिता और प्रेम की दृष्टि से मानवजीवन के लिए कल्याणकारी हो सकता है।

अत इस बात को समझ लिया जाय कि जब हम मूल्यो की बात करते है तो उसका तात्पर्य मानव के लिए कल्याणकारी मूल्यो से है। इस बात मे मतभेद हो सकता है कि मानव-प्राणी के लिए क्या कल्याणकारी है? मानव शरीर की बनावट, शरीरविज्ञान, स्नायुविज्ञान, मनोविज्ञान और सामाजिक विज्ञानो की सहायता से हम यह जान सकते है कि मानव प्राणी के लिए कल्याणकारी मूल्य कौन से है?

विभिन्न प्रकार के मानव मूल्य है। कुछ का सम्बन्ध सफाई और तापमान से होता है जो मानव प्राणी के जीवन के लिए आवश्यक है और दूसरे मूल्यो का सम्बन्ध स्वविवेक, साहस और कार्य करने के सामर्थ्य से होता है जो व्यक्ति के जीवन की सफलता से सम्बन्धित होते हैं। तीसरी श्रेणी के मूल्यो मे दया,

ईमानदारी, सत्य आदि गुण है जो मनुष्य के सामाजिक जीवन मे सहयोग की प्रवृत्ति के लिए आवश्यक है। अन्तिम श्रेणी के गुणो को नैतिक मूल्य कहा जाता है।

विभिन्न प्रकार के मूल्यो का महत्त्व इसलिए है कि वे मानवजीवन के अस्तित्व के लिए मूल्यवान है। सफाई और तापमान, स्वविवेक और साहस, दया और ईमानदारी आदि सभी मानवजीवन के अस्तित्व के लिए कल्याणकारी है। कोई भी मूल्य अपने-आप मे अच्छा नही है जब तक उसका सम्बन्ध मानव के कल्याण से न हो। जब हम यह कहते हैं कि मूल्य तभी सार्थक है जब वे मानवकल्याण के मूल्य हो तो उसका अर्थ यही होगा कि मानव-व्यक्ति ही मौलिकमूल्य है।

अस्तित्व की आकांक्षा ही समस्त जीवो की मौलिक आकांक्षा होती है। जीवजगत के हिस्से के रूप मे मानव-व्यक्ति को भी जीवित रहने की आकांक्षा होती है। मानवजीवन और अस्तित्व की आकांक्षा को जीवगत तथ्यो के वैज्ञानिक ढग से सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार विज्ञान और मूल्यो की द्वैत भावना समाप्त हो जाती है जब यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवजीवन के अस्तित्व की आकांक्षा तथ्य और मानवमूल्य दोनो ही है।

मानव प्राणी की यह आकांक्षा है कि वह मानव के रूप मे जीवित रहे। मानव-जीवन से हीन जीवन मे यदि उसे निरन्तर रखा जायेगा तो वह मर जायेगा। मौलिक मानववाद के अनुसार मानव प्राणियो की आकांक्षा स्वतन्त्रता की आकांक्षा का सार है। अतः स्वतन्त्रता मौलिक मानवमूल्य है जो सभी मानवीय मूल्यो का आधार है।

स्वतन्त्रता की कल्पना

स्वतन्त्रता का अर्थ है वन्धनहीनता। स्वतन्त्रता का अर्थ है कि सभी प्रकार के प्रतिवन्ध धीरे-धीरे समाप्त हो जाये और मानव की क्षमताओ को प्रतिबन्धो से मुक्त कर उसे विकास का अवसर मिले।

राजनीतिक क्षेत्र मे और राज्य के क्षेत्र मे स्वतन्त्रता का अर्थ कुछ मौलिक अधिकारो का उपभोग है, जैसे सूचना प्राप्त करने का अधिकार और अपना मत व्यक्त करने का अधिकार, सगठन बनाने और मजदूर सघ (ट्रेड यूनियन) और राजनीतिक दल बनाने का अधिकार, सभा करने और जलूस निकालने का अधिकार। इसका यह भी अर्थ है कि उसके विरुद्ध मनमाने ढग से शक्ति का प्रयोग न किया जाय जो नियमानुसार कानून के परिपालन का सार तत्त्व है। इसके अतिरिक्त एक और मौलिक अधिकार है और वह है व्यक्ति

रूप से अपना विचार रखने का अधिकार, किसी भी धर्म को मानने अथवा न मानने और अपने विचारों का प्रचार करने का अधिकार।

सामाजिक क्षेत्र मे स्वतन्त्रता का अर्थ है तर्कहीन परम्पराओ और रूढ़ियो का अभाव। उसका सम्बन्ध विवाह, तलाक, पिता और अभिभावक के सम्बन्ध और पति-पत्नी के सम्बन्धों से भी है। युवको और पुरुषो के सम्बन्ध, विभिन्न जातियो और समुदायो के सम्बन्ध भी इस क्षेत्र मे आते हैं। कुछ लोगों में सामाजिक प्रतिबन्धों से व्यक्ति स्वतन्त्रता मे काफी सीमा तक बाधा पड़ती है जितनी राजनीति प्रतिबन्धों से भी नही पड़ती। सामान्य रूप से राजनीतिक और सामाजिक प्रतिबन्ध साथ-साथ रहते हैं। अधिनायकवादी समाज मे अधिनायकवादी राज्यसत्ता स्थापित करने की प्रवृत्ति होती है।

स्वतन्त्रता की भावना को केवल राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों मे सीमित नहीं रखा जा सकता। व्यक्ति की समानता के लिए यह आवश्यक है कि उसे आर्थिक क्षेत्र मे भी स्वतन्त्रता हो। उसे अभाव और आर्थिक असुरक्षा से भी मुक्त रहने की आवश्यकता है। वह भुखमरी के भय से भी मुक्ति चाहता है। स्वतन्त्रता की यह परिभाषा ऊपर की जा चुकी है कि स्वतन्त्रता का अर्थ सभी प्रतिबन्धों से मुक्ति और व्यक्ति की क्षमताओं के विकास का अवसर प्रदान करना है। स्वतन्त्रता की इस भावना के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता होना जरूरी है। आर्थिक अभाव और असुरक्षा की भावना मानव की क्षमता को विकसित करने मे वैसे ही बाधक है जैसे कि वह राजनीतिक और सामाजिक प्रतिबन्धो से होती है।

इस प्रकार के विचार से स्वतन्त्रता नकारात्मक भावना नही रहती। उसका अर्थ है कि व्यक्ति के ऊपर ऐसे प्रतिबन्ध न हो और व्यक्ति को ऐसा जीवनस्तर प्राप्त करने का अवसर मिले जिस से उसकी क्षमताओ का विकास हो सके। स्वतन्त्रता का अभिप्राय व्यक्ति को इस योग्य बनाना है जिसमे वह पूरी तरह से मानवप्राणी का पूरा जीवन प्राप्त कर सके।

अन्य प्राणियों की भाँति मानव भी निरन्तर अस्तित्व के संघर्ष मे लगा रहता है। प्रारम्भिक स्थिति में मानव को प्रतिकूल परिस्थितियो और प्रकृति की क्रूरता से सघर्ष करके अपने जीवन को सुरक्षित रखने के लिए सघर्ष करना पड़ता था। उसे अपने लिए भोजन प्राप्त करने और अपने जीवन की रक्षा के लिए सघर्ष करना पड़ता था। उसे अधिक गर्मी और सर्दी से अपनी रक्षा करनी पड़ती थी। सूखे की स्थिति और बाढ़ के प्रकोप से, जगली जानवरो और शिकारी जानवरो से, अपनी रक्षा करने के लिए साधनो को प्राप्त करना पड़ता था।

लेकिन उस समय वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा ऊँचे स्तर का जीवन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। वह अपनी भावनाओं और आत्मचेतना की रक्षा करने के लिए भी चिन्तित रहता था। वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए औजार बनाने का प्रयत्न करता था, भांड और बर्तन भी बनाने का प्रयत्न करता था। जहाँ वह रहता था उन कन्दराओ मे रंगों का प्रयोग करके भित्तिचित्र भी बनाता था। उसका जीवन के लिए अपना संघर्ष सदैव स्वतन्त्रता के लिए भी संघर्ष था। आज भी वह स्वतन्त्रता के लिए अपने सघर्ष मे भिन्न रूपो मे लगा हुआ है जो प्राचीन पाशविक युग और सभ्यता के युग की संक्रान्ति के बाद से निरन्तर चल रहा है। मानव का स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष प्राणी जगत के अस्तित्व के संघर्ष का वह रूप है जो मानव बुद्धि, भावना और आत्म चेतना के पहले से ऊँचे स्तर मे आने के बाद भी जारी रख रहा है। प्राणी जगत के लिए जिस प्रकार अस्तित्व का संघर्ष आधारभूत था वैसे ही मानव जीवन के लिए स्वतन्त्रता का संघर्ष उसके लिए आधारभूत है।

यही कारण हैं कि शब्दकोष मे "स्वतन्त्रता" का शब्द सबसे अधिक भावनात्मक है। स्वतन्त्रता के विचार के समान दूसरा कोई अन्य विचार सकारात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करता है। सभी मानवो की इच्छा मानव की भाँति जीवित रहना है और उन की इस इच्छा मे स्वतन्त्रता का विचार सम्मिलित है।

स्वतन्त्रता का अर्थ धीरे-धीरे सभी प्रतिबन्धो का नष्ट होना है जो उसकी व्यक्तिगत क्षमता के विचार मे विवेकशील मानव के जीवन प्राप्त करने के मार्ग मे बाधक है। मानव स्वेच्छा से ऐसे प्रतिबन्धो को स्वीकार कर लेता है जो सार्वजनिक हित मे लगाये जाते हैं। स्वतन्त्रता केवल विवेकशील मानव ही भोग सकता है। फिर भी क्योकि स्वतन्त्रता आधारभूत मानवमूल्य है अत: किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर तब तक प्रतिबन्ध नही लगाना चाहिए जब तक वे दूसरे मानव व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा से लिए आवश्यक न हो। समानता का अर्थ सभी व्यक्तियों के लिए स्वतन्त्रता की समानता है। यही कारण है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर केवल तर्कसंगत और विवेकजन्य ऐसे प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं जिनसे सभी व्यक्तियो की समानता सुरक्षित की जा सके।

मानव क्षमताएँ

हमने मानव जीवन के निम्नकोटि से भिन्न जीवन के ऊँचे स्तर के अन्तर की बात कही है। हमने विवेकसम्पन्न व्यक्ति की क्षमताओं के विकास का भी चर्चा किया है। मानव का उच्च जीवनस्तर निम्न जीवनस्तर से कैसे भिन्न है और विवेक-सम्पन्न मानव की क्या क्षमतायें हैं? इन प्रश्नो पर विचार करना आवश्यक है।

आधुनिक मनोविज्ञान कहता है कि मानव की मानसिक स्थिति निम्न कोटि के प्राणियो की मानसिक स्थिति से दो बातो मे भिन्न है। (देखिए एरिक फ्राम की पुस्तक "एनाटामी आफ ह्यूमन डेस्ट्रक्टिवनेस", 1973, पेंगुइन बुक्स पृष्ठ 300-302)

पहली बात यह है मानव के व्यवहार मे प्राणियों की सहज प्रक्रिया का प्रभाव बहुत कम रह जाता है। प्राणी जगत के विकास क्रम मे यह देखने को मिलता है कि उन्नत प्राणियों मे उनका मस्तिष्क विकसित हो जाता है और उसकी विचार-शक्ति बढ जाती है। उसके साथ ही उसकी सहज प्रक्रिया उस के व्यवहार मे घट जाती है। दूसरी बात यह है कि मानव का मस्तिष्क अधिक उन्नत होता है और उसकी विचारशक्ति बहुत बढ गयी है। तथ्य यह है कि मानव मस्तिष्क की विचार तन्तु-कोशिका अपने आदिम मानव से तीन गुना अधिक है। इसके अतिरिक्त मानव मस्तिष्क ने आत्मचेतना से अधिक नवीन गुण विकसित कर लिया है। अब मानव न केवल सोचता और अनुभव करता है वरन् उसमे यह चेतना भी है कि उसके विचार और चिन्ता क्या है? मानव की इस आत्मचेतना से उसकी सम्भावनाओ और उत्तरदायित्व के नये क्षितिज उत्पन्न हो गये है।

ऊपर यह कहा गया है कि मानव जीवन मे सहज प्रक्रिया उस के व्यवहार को बहुत कम प्रभावित करती है, इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि मानव मे सहज प्रक्रिया का लोप हो गया। (आधुनिक मनोवैज्ञानिक उस व्यवहार को "प्रवृत्ति" और "दिशा" कहते है) उक्त कथन का इतना ही तात्पर्य है कि इन बातो का मानव व्यवहार पर सीमित प्रभाव रह गया है। मानव के मस्तिष्क के विकास और उस की विचार शक्ति के बढने का ही यह परिणाम है कि उसमे आत्मचेतना अधिक हो गयी है। उसे अपनी सहज प्रक्रिया का भी ज्ञान है और वह अपनी अभिव्यक्ति और व्यवहार में उस के प्रभाव को नियन्त्रित कर सकता है। वह सहज प्रक्रिया की अच्छाई और बुराई को भी समझ सकता है और विशेष परिस्थिति मे उन पर विचार करके अच्छाई और बुराई के आधार पर अपना फैसला कर सकता है। इस प्रकार प्राणीजगत की सहज प्रक्रिया को वह अपनी आत्मचेतना से सयमित कर सकता है।

मानव मे उच्च स्तर के मस्तिष्क की शक्ति और आत्मचेतना के आधार पर उसके विकास की क्षमताएँ बहुत बढ जाती है। ये क्षमताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।

भौतिक जीवन और अस्तित्व के मामले मे मानव अन्य प्राणियो की तुलना मे अच्छा जीवन व्यतीत करता है। वह अपने लिए आरामदेह मकान बना सकता

है, उपयोगी और आकर्षक वस्त्र तैयार कर सकता है, सुस्वादु और पौष्टिक भोजन तैयार कर सकता है। रोगों की रोकथाम और चिकित्सा के लिए औषधियाँ बना सकता है और उन्नत संचार-साधन और यातायात के साधन विकसित कर सकता है।

बौद्धिक क्षेत्र मे मानव की क्षमताएँ तो असीमित है। भौतिक विज्ञान (परमाणु भौतिक विज्ञान सहित) रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, चिकित्सा और अन्य विज्ञानो मे जो अनुसन्धान हुए है वे आश्चर्यजनक है। ज्ञान के क्षेत्र की प्रत्येक प्रगति से अज्ञान का विशाल क्षेत्र प्रकट होता है और ज्ञान की प्रगति की कोई सीमा नही है।

मानव मे नैतिकता के परिष्कार की भी क्षमता है। यद्यपि वर्तमान नैतिकता जटिल आधुनिक समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की तुलना मे कम है लेकिन मानव मे नैतिकता की भावना को बढ़ाने की क्षमता है जिससे वह मानव के दुख और अन्याय को समाप्त करने मे सहायक हो सके। आधुनिक समय मे व्यक्ति की नैतिक क्षमता को और अधिक उन्नत बनाने की चरम आवश्यकता है।

सृजनात्मक कला के क्षेत्र मे भी मानव की क्षमताओ को बढाने की आवश्यकता है। साहित्य, सगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्य और नाटक के क्षेत्र मे मानव ने अभूतपूर्व विकास किया है।

ये सभी सफलताएँ मानवजीवन को समृद्ध बनाती है। मानव अपनी कलात्मक उन्नति और कलात्मक कृति की प्रक्रिया मे सन्तोष प्राप्त करता है। मानव जीवन के दोहरे विकास और समृद्धि के विश्लेषण की आवश्यकता है।

मानव प्राणियो मे निम्नकोटि के जीव जगत की भाँति उस की अनेक भावनाएँ और इच्छाएँ जीवन के अस्तित्व के लिए प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया विकसित करने मे सहायक होती है। विभिन्न अवयव, दृष्टि, आवाज, गन्ध, स्वाद और स्पर्श भी उक्त प्रक्रिया मे सहायक होते हैं। मानव जीवन मे आत्म चेतना अधिक उन्नत होने के कारण उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ सन्तोष प्राप्ति के स्वतन्त्र स्रोत बन गये है। कुछ उदाहरणो से इस वक्तव्य को स्पष्ट किया जा सकता है।

भोजन के सुस्वाद होने से सभी प्राणियो मे भोजन करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है जो मानव के समान अन्य प्राणियो मे रहती है। मानव भोजन करते समय भोजन के स्वाद का ही आनन्द नही लेता वरन् भोजन करते समय अच्छे स्वाद के महत्व को समझता है। इस प्रकार मानव के लिए स्वाद भी स्वतन्त्र रूप से सन्तोष का स्रोत बन जाता है। मानव अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने के

लिए ही नही, स्वाद का सन्तोष प्राप्त करने के लिए भोजन करता है। फलतः वह स्वाद के गुण को बढ़ाने का अनेक प्रकार से प्रयत्न करता है। कभी-कभी भूख न होने पर स्वाद की सन्तुष्टि के लिए मानव भोजन करता है। इस प्रकार स्वादिष्ट भोजन शरीर को स्वस्थ बनाने मे सहायक होने के अतिरिक्त सन्तोष का अलग स्रोत बन जाता है।

यही बात दूसरी ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध मे सत्य है। मानव पुष्प की सुगन्ध और इत्र आदि की गन्ध से सन्तोष प्राप्त करता है। प्रकृति और कलाकृतियो से, सगीत से मानव सन्तोष प्राप्त करता है। शरीर पर ताप और शीत के प्रभाव से भी वह सन्तोष प्राप्त करता है।

इसी भाँति काम की इच्छा एक ओर जीवन के अस्तित्व और पुनः उत्पादन की प्रक्रिया मे सहायक होती है साथ ही उससे स्वतन्त्र रूप से सन्तोष प्राप्त किया जा सकता है। पुरुष केवल सन्तति के लिए नहीं व्यक्तिगत तुष्टि के लिए काम की प्रवृत्ति अपनाता है।

अन्य इच्छाओ से भी मानव जीवन को समृद्ध बनाने में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका पूरी होती है। अनुसन्धान की इच्छा मानव जीवन की एक प्राकृतिक इच्छा है। इच्छा का आरम्भ सम्भवतः खाने की तलाश से होता है। यह इच्छा सभी जीवजन्तुओ की पहली इच्छा रही होगी। दूसरी इच्छाओं की पूर्ति, भोजन प्राप्त करने और उसके उपभोग करने की प्रक्रिया के समान है। इस प्रकार प्राणी जगत की स्वाभाविक इच्छा के आधार पर ही मानव की यह इच्छा विकसित होती है। मानव जब जिस बात को जानना चाहता है और उसे जानने मे मे सफलता मिलती है तो उसको अपार सन्तोष मिलता है। इसी भाँति जब वैज्ञानिक नयी खोज अथवा अनुसन्धान में सफलता प्राप्त करता है तो उसे सन्तोष प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्ति किसी भी क्षेत्र मे हो उससे सन्तोष प्राप्त होता है। इस प्रकार यह कथन कि "ज्ञान स्वतः अपनी उपलब्धि है", यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित है। व्यक्ति ज्ञान के लिए ज्ञान अर्जित करने का प्रयास करता है। उससे किसी भी क्षेत्र मे नयी खोज करने की उपलब्धि से वह ज्ञान के द्वारा मानव जाति को लाभ पहुँचाने के साथ-साथ आत्मगत सन्तोष भी प्राप्त करता है।

मनुष्य मे सहानुभूति और दया की भावना होती है। ये भावनाएँ सामाजिक और नैतिक इच्छाएँ हैं। इस प्रकार की इच्छाएँ कैसे उत्पन्न होती है, इस बात पर आगे के अध्याय (अध्याय दस) मे विचार किया जायेगा। यहाँ हमारे कहने का

इतना ही तात्पर्य है कि सामाजिक इच्छाओं को पूरा करने से भी व्यक्ति को सन्तोष प्राप्त होता है। जब कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के कष्टों का निवारण करता है अथवा दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता को पूरा करता है तो वह अपने सामाजिक इच्छा को पूरा करने और उचित लक्ष्य की प्राप्ति का सन्तोष प्राप्त करता है।

मानव की कलात्मक क्षमताओं पर विचार करते समय इस बात के मनोवैज्ञानिक साक्ष्य मिलते हैं कि मानव स्वभाव में सृजनात्मक और नया-पाने लाने की प्रवृत्ति मौजूद रहती है। इस बात का भी साक्ष्य मिलता है कि मानव मस्तिष्क मे सृजनात्मक शक्ति विधमान है। ("एरिक फ्राम" पूर्व उल्लिखित पुस्तक पृष्ठ-66) अब तक यह स्पष्ट नही हुआ है कि अस्तित्व की इच्छा का मस्तिष्क की सृजनात्मक शक्ति से क्या सम्बन्ध है? इसका कारण यह है कि मनोविज्ञान और सौन्दर्य विज्ञान नये विज्ञान है। फिर भी इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि सृजनात्मक शक्ति मानव स्वभाव मे निहित है। प्रागैतिहासिक मानव के क्रिया-कलापो और बालको मे भी इस प्रकार की सृजनात्मक शक्ति पायी जाती है। अन्य इच्छाओ की भांति सृजनात्मक इच्छा से भी स्वतन्त्र रूप से सन्तोष प्राप्त होता है। एक कलाकार कला की उत्कृष्टता से आनन्द प्राप्त करता है।

इस प्रकार मानव जीवन, निम्न स्तर के प्राणियो के अस्तित्व और स्तर से भिन्न है। मस्तिष्क के विकास के कारण मानव अधिक सुख-सुविधा सम्पन्न भौतिक जीवन प्राप्त करता है और वह बौद्धिक, नैतिक और कला के कार्यों मे लगाता है। मानव जीवन भौतिक और मानसिक सन्तोषो के द्वारा अपने को अधिक समृद्ध बना सकता है। स्वतन्त्रता सभी प्रकार के प्रतिबन्धो को समाप्त करती है जिससे व्यक्ति अपने जीवन का पूरा विकास कर सके और उसको अच्छा बना सके तथा अभीष्ट दिशाओ मे अपनी क्षमताओं को बढा सके। इस प्रकार स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष प्राणी जीवन के अस्तित्व के सघर्ष से जुड़ा है फिर भी उसका लक्ष्य उसकी अपेक्षा अधिक उन्नत है।

मानव-व्यक्ति ऐसी क्षमताओ को अपनाने मे समर्थ है जो उसके लिए और दूसरों के लिए हानिकारक हो। इस प्रकार की क्षमताओ की स्वतन्त्रता की परिभाषा मे शामिल नही किया जा सकता है। व्यक्ति अपनी शक्ति से अधिक कार्य करके और भोगलिप्सा मे पड़कर अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर सकता है। व्यक्ति दुःखवादी अथवा आत्मपीड़न की प्रवृत्ति से अपनी और दूसरो की हानि कर सकता है। ये दोनों ही अविवेकी चरित्र के लक्षण माने जाते है। विवेक सम्पन्न

व्यक्ति की क्षमताएँ उसको और दूसरे लोगों की तथा समाज की भलाई में सहायक होती है। स्वतन्त्रता इस प्रकार की सृजनात्मक और कल्याणकारी क्षमताओं पर प्रतिबन्धों को समाप्त करने के पक्ष में है।

स्वतन्त्रता की इच्छा की कुदिशा

मानव की स्वतन्त्रता की इच्छा भिन्न-भिन्न तरीको से कुदिशा की ओर मुड जाती है। इस प्रकार की दो प्रवृत्तियाँ इस समय महत्वपूर्ण हैं।

आर्थिक भलाई और सुरक्षा स्वतन्त्रता की भावना मे निहित है। व्यक्ति बहुधा इस बात को समझने मे असफल रहता है कि उसे दूसरो के साथ सहयोग के द्वारा अपनी आर्थिक भलाई और सुरक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। इसके स्थान पर वह राजनीतिक उद्धारकर्ता की कृपा पर आश्रित होकर अपनी आर्थिक भलाई और सुरक्षा पाने की लालसा अपनाता है। इस प्रकार वह आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने मे अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता खो बैठता है। यह अनुभव सिद्ध बात है कि व्यक्ति अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता का आत्मसमर्पण करके अपनी आर्थिक स्वतन्त्रता को भी सीमित कर लेता है। इतना ही नही, वह अपने विकास को, क्षमता को भी सीमित कर लेता है। इस प्रकार स्वतन्त्रता के संघर्ष को एक क्षेत्र मे सीमित करने की प्रवृत्ति हानिकारक है। आत्मनिर्भरता और सभी क्षेत्रो मे स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए सोद्देश्य सहयोग आवश्यक है।

स्वतन्त्रता की इच्छा के लिए एक दूसरी कुदिशा यह है कि इस भौतिक संसार मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के स्थान पर आध्यात्मिक और पौराणिक क्षेत्र मे मोक्ष प्राप्त करने की प्रवृत्ति को अपनाना है। हिन्दू आदर्श मे "मोक्ष" को स्वतन्त्रता माना जाता है और ब्रह्म अथवा ईश्वर की प्राप्ति सभी धर्मों मे वर्णित है। इसको भी स्वतन्त्रता के संघर्ष की कुदिशा ही कहा जायेगा। स्वतन्त्रता, जीवन के स्तर को सुधार कर और उन्नत बनाकर प्राप्त की जा सकती है, जीवन के दुःखो से पलायन करने से उसे प्राप्त नही किया जा सकता। मोक्ष और ब्रह्म अथवा ईश्वर की प्राप्ति से जीवन के दुःख और अन्याय को कायम रखने की भावना ही प्रबल होती है और स्वतन्त्रता प्राप्ति का लक्ष्य प्राप्त करने मे विफलता ही मिलती है।

मानव तर्क की उत्पत्ति और उसका मूल्य

तर्क और मानव प्रगति

विवेकवाद (तर्क पर आधारित विवेक) मौलिक मानववाद के दर्शन के अन्तर्गत स्वतन्त्रता की भावना अत्यावश्यक है। मानव की तर्क करने की क्षमता से स्वतन्त्रता के सघर्ष में उसे सहायता मिलती है।

(विवेकवाद का उपयोग यहाँ उस विवेकवादी दर्शन के अर्थ मे नही किया गया है जिसके अनुसार केवल तर्क के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया और उसके लिए ऐन्द्रिक-अनुभूति को आवश्यक नही माना जाता है। आधुनिक प्रयोग मे विवेकवाद को तर्क मे उस विश्वास के अर्थ मे लिया जा सकता है जिसके द्वारा सही निष्कर्ष निकाला जा सकता है।)

1946 मे मानवेन्द्रनाथराय और उनके सहयोगियो द्वारा प्रतिपादित मौलिक मानववाद के जिन 22 सिद्धान्तो का उल्लेख किया जा चुका है, उनका दूसरा सिद्धान्त सबसे अधिक महत्व का है, वह निम्नलिखित है:–

"स्वतन्त्रता की खोज और सत्य का अनुसन्धान मानव प्रगति की मौलिक आकांक्षा है। स्वतन्त्रता की खोज उन्नत चेतना और भावना के आधार पर प्राणी के अस्तित्व के सघर्ष के क्रम मे आती है। सत्यानुसन्धान भी उसी आकांक्षा का प्रतिफल है। प्रकृति के बढते हुए ज्ञान से मानव धीरे धीरे प्राकृतिक शक्तियो, प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण के अत्याचार से मुक्ति पाता है। सत्य ज्ञान का धन परिमाण है।"

मानव का अच्छे जीवन के लिए सघर्ष की जो मानव की स्वतन्त्रता के सघर्ष का सार है उसे युगो मे प्राप्त ज्ञान से सहायता मिलती है। ज्ञान की प्राप्ति से ही मानव प्राकृतिक शक्तियो पर विजय प्राप्त करता है और अच्छे समाज की रचना का प्रयास करता है। कृषि, पशुपालन, गृह निर्माण, वस्त्र और दूसरी उपयोगी वस्तुओ के निर्माण के ज्ञान से मानव जीवन की सुख सुविधायें बढ़ती हैं और मानव जीवन का स्तर ऊँचा होता है। अनुभव और तर्क के समन्वय से मानव को यह ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान के आधार होने के कारण तर्क प्रगति का मुख्य माध्यम है।

वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्ति मे सहायक होने के अतिरिक्त तर्क मानव प्रगति में अन्य प्रकार से भी सहायक होता है। मानव का विवेक उसके नैतिक विकास में भी सहायक होता है। तर्क और नैतिकता के सम्बन्धों पर हम अगले अध्याय पर विचार करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि मानव और समाज की उन्नति में विवेक और नैतिक मूल्यों का विकास ऐतिहासिक तथ्य है। मोरिस जिन्सबर्ग ने कहा है :- "विकास का अनिवार्य सत्य यह है कि ऐतिहासिक विकास क्रम मे मानव शनै. शनै: विवेकी बनता है और उसमे उसके विवेक के अनुसार ही नैतिकता विकसित होती है।" (मोरिस का जिन्सबर्ग का लेख "ए ह्यूमनिस्ट वे आफ हिस्ट्री", "दि ह्यूमनिस्ट फ्रेम" पत्रिका मे प्रकाशित, सम्पादक-सर जूलियन हक्सले)

मौलिक मानववाद के व्यक्तिगत और सामाजिक दर्शन मे विवेकवाद का और भी महत्व है। जो व्यक्ति मानसिक रूप से स्वतन्त्र है केवल वही राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील हो सकता है। स्वतन्त्रता के संघर्ष को आरम्भ करने के पहले यह आवश्यक है कि मानव मानसिक रूप से स्वतन्त्र हो। मानसिक स्वतन्त्रता का अर्थ है कि मानव अन्धविश्वास से मुक्त हो और उसमे आत्म विश्वास हो। मानव जिस अश मे मानसिक रूप से स्वतन्त्र होगा उसी अश मे वह स्वय अपना मार्ग निर्देशक बन सकेगा और इसके लिए उसकी तर्कशक्ति अपना मार्ग-निर्देशक बनने मे सहायक होगी। तर्क के द्वारा मानव मानसिक रूप से स्वतन्त्र होता है और इसके आधार पर उसमें नैतिक भावना विकसित होती है जो सगठित समाज मे उसे सामजस्य के साथ रहने के योग्य बनाता है और सामाजिक परिवर्तन के लिए उसे रचनात्मक कार्यकर्ता बनाता हैं।

मानव प्रकृति से विवेकी

मौलिक मानववाद (नवमानववाद) एक आशावान दर्शन है। वह यह मानता है कि मानव प्रगति का मूल माध्यम तर्क है और यह तर्क शक्ति और विवेक उसकी प्रकृति मे निहित है। वह यह स्वीकार करता है कि तर्क उसका जीवगत अथवा प्राणीगत गुण है। मौलिक मानववाद के 22 सिद्धान्तो मे से चौथे सिद्धान्त मे कहा गया है- "नियमबद्ध भौतिक प्रकृति की पृष्ठभूमि मे मानव स्वभाव से विवेकी है। तर्क उसका प्राणीगत गुण है जो उसकी इच्छा के प्रतिकूल नहीं हैं। चेतना और भावना दोनो का उद्भव प्राणगीत गुणो से होता है।" मानव की नये ज्ञान को प्राप्त करने की क्षमता से यह आशा उत्पन्न होती है कि वर्तमान चाहे जितना निराशाजनक हो, मानव अपनी आज की गलतियो से सबक सीखकर भविष्य को अच्छा बनाने की शक्ति प्राप्त करेगा।

मानव अनिवार्य रूप से और प्रकृति से विवेकी है, इस बात से काफी गलतफहमियाँ उत्पन्न की गयी हैं। इसका कारण है कि "विवेक" का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है। "मानव विवेकी प्राणी है" इस वाक्यांश का प्रयोग तीन अर्थों मे किया जा सकता है।

पहला अर्थ विवेक के वस्तुगत भाव के आधार पर किया जा सकता है, जैसे यह कहा जाता है कि सृष्टि की व्यवस्था "विवेकपूर्ण" है। यहाँ उसका अर्थ है कि वह सृष्टि के नियमबद्ध होने से "निश्चित" है। इस प्रकार जब यह कहा जाय कि "मानव विवेकी है" तो उसका अर्थ है कि वस्तुगत आधार पर मानव पर भी प्रकृति का नियम-कारण-कार्य सम्बन्ध का नियम लागू होता है और मानव के स्वभाव और आचरण का अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाकर उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार अन्य दृश्यगत वस्तुओ का अध्ययन होता है। यहाँ भी किसी आधिभौतिक शक्ति को स्वीकार नही किया जाता और यह भी स्वीकार नहीं किया जाता कि कोई वस्तु विवेकी समझ से बाहर है। मानव का वस्तुगत विवेक उसके प्रकृति का अग होने के तथ्य पर आश्रित है।

भावनात्मक दृष्टि से जब हम "मानव विवेकी प्राणी है", कहते हैं तो उसके दो भिन्न अर्थ होते हैं। जब किसी व्यक्ति को विवेकी कहते है तो यह माना जाता है कि वह व्यक्ति पूर्वाग्रहों और भावनाओ से प्रभावित न होकर तर्क को मानता है। तर्क उसके निष्कर्षों को नियन्त्रित करता है। इस अर्थ मे अभी यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि मानव के विकास की वर्तमान स्थिति मे अधिकाश मानव, वास्तविक रूप से "विवेकी" हैं। आज अधिकाश मानवों का आचरण तर्क के आधार पर नही, अविवेकी भावनाओं से नियन्त्रित है। इस सम्बन्ध मे अभी इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि मानव मे विवेकी होने की क्षमता विद्यमान है और समय के साथ विवेक से मानव स्वभाव और आचरण में उसका नियन्त्रण और प्रभाव बढ़ जायेगा।

भावनात्मक दृष्टि "मानव विवेकी प्राणी है", कहने का दूसरा अर्थ यह है कि प्रकृति का अंग होने के कारण विवेकी होना उसकी प्रकृति का निहित स्वभाव है। मानव के प्राणी जगत का अग होने के कारण विवेकी होना उसका स्वाभाविक गुण है। उसके आचारण मे किसी अश तक तर्क का प्रभाव है इससे, इस क्षमता का सम्बन्ध नही आँका जाता। यहाँ यह भी ही माना जाता है कि मानव में कारण-कार्य निश्चयवाद के अनुसार निष्कर्ष निकालने की क्षमता है। यह हो सकता है कि भावनाओं, अज्ञान और पूर्वाग्रहो के कारण वह विवेक से अलग रहकर गलत निष्कर्षों पर पहुँच जाय। गलत निष्कर्षों पर पहुँचने से यह

अर्थ नही लेना चाहिए कि उसमे विवेक की क्षमता का अभाव है और वह उसका प्रयोग नही करता है। अपने दृष्टिकोण से मानव सही निष्कर्ष निकालता है यद्यपि दूसरा व्यक्ति जो अधिक जानकार है और जो भावनात्मक प्रभावो से मुक्त है वह उसके निष्कर्षों को "गलत" अथवा अविवेकी बता सकता है।

इस प्रकार व्यक्ति का विश्वास अथवा आचरण एक समय मे "विवेकी" और "अविवेकी" एक साथ हो सकता है। यह इस बात पर आश्रित है कि वह "विवेक" का किस अर्थ मे प्रयोग करता है। मानव सभ्यता के प्रारम्भिक समय मे मानव "तूफान और गरज" और "विद्युत" को किसी देवता का कोप मानता था। हिन्दू उसे इन्द्र और यूनानी उसे ज्यूपीटर (बृहस्पति) मानते थे। मनुष्य स्वभाव से किसी भी घटना के पीछे उसके कारणो को खोजने की प्रवृत्ति के कारण इस प्रकार की कल्पनाएँ की गयी। जब इन बातो के दृश्यमान कारण नही मालूम थे तो शक्तिशाली देवताओ की कल्पना की गयी जो "तूफान और बिजली" उत्पन्न करने वाले देवता मान लिये गये। जब यह पता चल गया कि बादलो मे बिजली कैसे उत्पन्न होती है तो इन्द्र अथवा ज्यूपीटर की कल्पना अविवेकी मानी जाने लगी। पहले उसका विश्वास विवेकी माना गया था क्योकि मानव ने कारण-कार्य नियम के अनुसार उसको स्वीकार किया था लेकिन जब अन्य तथ्यो से उस बात का खडन हो गया तो उसी बात को अविवेकी माना गया।

अब हम इस प्रश्न पर विचार करेगे कि क्या भावनात्मक अर्थ मे तर्क से कारण-कार्य निश्चयवाद के आधार पर सोचना मानव का प्राकृतिक गुण है। इस प्रश्न पर विचार करते समय इस बात पर जोर देना जरूरी है कि "कारण" को मानव दृश्यगत आधार पर सोचता है। मानव मस्तिष्क मे कारण को कार्य अथवा दूसरे कारणो से सम्बद्ध मानता है। मानव मस्तिष्क इस बात को निहित विवेक के आधार पर स्वीकार करता है। उदाहरण के लिए मानव एक दिशा मे जा रहा है और उसका सर दीवाल से टकरा जाता है। इस घटना मे उसे दीवाल का देखना, उसकी कठोरता और उससे टकराकर पीडा पाने का अनुभव शामिल है। दीवाल से सर टकराने की जो पीडा उत्पन्न होती है उसे देखा तो नही जा सकता लेकिन मस्तिष्क द्वारा उसको समझा जा सकता है जबकि दीवाल और उससे सर टकराने को देखा जा सकता है। यदि मानव मे कारण-कार्य प्रतिफल को समझने की क्षमता न हो तो वह दीवाल से अपना सर टकराता रहेगा और उसके प्रतिफल को समझ नही सकेगा। इस प्रकार केवल इन्द्रियज्ञान से ज्ञान सम्भव नही है जब तक दृश्यगत वस्तु के ज्ञान को तर्क के आधार पर समझने की क्षमता न हो। डेविड ह्यूम ने पहली बार इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि प्रतिफल का

उसके कारण से सम्बन्धित होना अनिवार्य रूप से देखा नही जा सकता। इसका अर्थ है कि जहाँ तक मानव ज्ञान का सम्बन्ध है उसके अनुसार प्राकृतिक घटनाओ और उनके परिणामों की जानकारी न हो और मानव मस्तिष्क इस सम्बन्ध को उत्पन्न करने का प्रयत्न करता हो। उदाहरण के लिए हम यह देखते है कि गिलास के पानी मे जब चीनी छोडी जाती है तो वह उसमे घुल जाती है। इस आवश्यकता को हम देखकर नही कहते वरन् हमारा मस्तिष्क इस निष्कर्ष पर पहुँचने पर हमे सहायता देता है। इस प्रकार निष्कर्ष पर पहुँचने की आवश्यकता हमारे ज्ञान पर आश्रित है। हमारा आचरण हमारे ज्ञान के अनुसार होता है जिसका कोई प्रत्यक्ष कारण चाहे न भी हो। ह्यूम ने इस समस्या की ओर ध्यान तो आकृष्ट किया लेकिन उसे सुलझाने का प्रयास नही किया। उसका अनुसरण करते हुए कांट ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि मानव मस्तिष्क मे कारण उन 12 श्रेणियों मे से एक है जो उसमे होती है। कांट के अनुसार मानव ज्ञान, ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त बाह्य ज्ञान और कारण, काल और दिक् के सम्बन्ध की श्रेणियो के आधार पर मस्तिष्क से उत्पन्न होता है।

ह्यूम और कांट द्वारा उठाये गये इस प्रश्न से कि क्या ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान और उन पर मस्तिष्क की प्रक्रिया से उत्पन्न ज्ञान का बाह्य वास्तविकता से कुछ सम्बन्ध है अथवा नहीं आधुनिक ज्ञान शास्त्र की मुख्य समस्या है। यद्यपि मानव ज्ञान के सम्बन्ध मे कुछ सन्देह उत्पन्न हुआ लेकिन व्यवहार मे उसे सही देखा गया है। ज्ञान की सहायता से मानव प्रकृति को नियन्त्रित ही नही करता वरन् वह उसे रूपान्तरित करने मे सफल हुआ है। अतः ज्ञान और बाह्य वास्तविकता का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इसका कारण यह है कि मानव का ज्ञान, उसके मस्तिष्क की क्षमता और प्रकृति तथा बाह्य वास्तविकता के सम्बन्धो से प्राप्त होता है। मानव मस्तिष्क, अन्य प्राणियो के मस्तिष्क की भाँति प्रकृति मे उसके विकास की प्रक्रिया मे विकसित होता है। इस प्रकार मस्तिष्क की तर्क करने की क्षमता स्वतन्त्र गुण नही है वरन् वह मानव मस्तिष्क के प्राकृतिक गुण पर निर्भर है। कांट ने मस्तिष्क के जिन 12 श्रेणियो के गुणो की व्याख्या की है वे भी बाह्य जगत के प्रभाव से उत्पन्न चेतना की श्रेणियाँ है। इसलिए मानव का ज्ञान व अनुभव, जो वास्तविकता से सम्बन्धित हो, वास्तविकता के आधार पर निर्भर रहता है। यह ज्ञान शास्त्र की उक्त समस्या का निराकरण है।

तर्क की प्राणीगत उत्पत्ति

पिछले अध्याय (चौथे अध्याय मे हमने इस बात का उल्लेख किया है कि जीव जगत

के विकास के लाखों वर्षों मे असख्य कोटि के जीव-जन्तु उत्पन्न हुए और अस्तित्व के संघर्ष और प्राकृतिक चयन के आधार पर जीवित रहे। उन्होने प्रकृति से अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया था। जीवो के अनेक विभेदों में जो प्रकृति के अनुकूल ढल सके वे जीवित ही नहीं रहे, बल्कि विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो और उन से सम्बन्धित मस्तिष्क की शक्ति और क्षमता का विकास भी उनमे हुआ। अब, इस प्रकार निश्चयवाद के आधार पर विकसित संसार और विभिन्न ज्ञानेन्द्रियाँ और मस्तिष्क की शक्तियाँ किसी जीव के अस्तित्व मे सहायक नही हो सकती जब तक उस कोटि के जीवन में इन्द्रियज्ञानजन्य अर्जित ज्ञान सीखने की क्षमता न हो। जो नई कोटि का जीव उत्पन्न होता है उसके जीवित रहने की सम्भावना नही होगी जब तक कि उसमें बाह्य प्रभाव और अनुभव को सम्बद्ध करके उससे सीखने की क्षमता न हो। यदि पशु भूखा है और वह अपने खाद्य को समझ नही पाता तो भूखा रहकर नष्ट हो जाएगा। यदि वह जगल की आग के पास पहुँच जाता है और समझ नही पाता तो वह उसमे जल-कर नष्ट हो जायेगा। एक बार प्राणीगत विकास मे चेतना उत्पन्न हो जाने पर उसी प्रकार के प्राणी और उनकी चेतना का अस्तित्व बना रहा जो प्रकृति के निश्चय-वाद के अनुरूप थी। असख्य ऐसे प्राणी और जीव नष्ट हो गये होगे तब किसी जीवित जीव मे चेतना की क्षमता उत्पन्न हुई होगी और वह बनी रही होगी। इस प्रकार तर्क का विकास प्रकृति के निश्चयवाद के अनुसार प्राणीजगत के विकास का परिणाम है।

पशु जीवन के अध्ययन के सम्बन्ध मे बहुत सा साहित्य उपलब्ध है जिससे यह प्रकट होता हैं कि तर्क का भ्रूण रूप सभी पशुओ मे विद्यमान रहता है। इसी भ्रूण तर्क के आधार पर विभिन्न पशु अपने-अपने अनुभवो से तर्क को अपनाते हैं। विभिन्न श्रेणी के पशुओ मे तर्क की क्षमता का तुलनात्मक अध्ययन उनके आचरण की "सही और गलत" के अनुपात के आधार पर किया जा सकता है। पशुओ मे आत्मचेतना के अभाव के कारण उनकी चेतना सहज, प्रक्रिया के रूप मे प्रकट होती है। मानव की आत्मचेतना तर्क के विकास से आत्ममथन और चेतना के विकास मे सहायक होती है।

तर्क की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ भी रहस्यात्मक नही हैं। यह बात काँट के श्रेणी विभाजन मे नही आती है। यह प्राणीगत गुण है जो केवल मानव मे ही सीमित नही है। मनुष्य निस्सदेह पशु जगत के अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है उसका एकमात्र कारण उसकी विचारशक्ति और चेतना है जो मानव मे अन्य पशुओं की तुलना मे अधिक विकसित होती है। अनुभव और तर्क के समन्वय से उत्पन्न

ज्ञान ही मानव की शक्ति का स्रोत है जो तर्क से मार्ग दर्शन प्राप्त कर स्वतन्त्रता को सम्भव बनाता है।

क्या तर्क पूर्ण रूप से यान्त्रिक है ?

मानव विभिन्न लक्ष्यो को प्राप्त करने मे तर्क से सहायता पाता है। वह सन्त पुरुष को सात्विक कामो मे मदद देता है और चोर इसके प्रयोग से कुशलता से चोरी करता है। इस आधार पर बहुधा कहा जाता है कि तर्क एक यान्त्रिक प्रक्रिया है जिसका उपयोग करके व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है लेकिन उसका सम्बन्ध मानवमूल्य के अनुसार अच्छाई अथवा बुराई से नही है।

किंचित विचार करने पर यह सकुचित दृष्टि लगती है। तर्क की सहायता से मानव विभिन्न जीवन-पद्धतियो में से अपने लिए उपयुक्त पद्धति का चुनाव कर सकता है। एक साधारण उदाहरण देखा जाय। मान लिया जाय एक व्यक्ति वासनालिप्त जीवन मे सलग्न है। उसे क्षणिक सुख मिल सकता है लेकिन वह अपने स्वास्थ्य को स्थायी रूप से क्षति पहुँचाता है। स्वस्थ जीवन के लिए शारीरिक सन्तोष और स्वास्थ्य का सन्तुलन आवश्यक है। तर्क मानव को दूसरे विकल्प को चुनने मे सहायक हो सकता है जिसे उसका वैकल्पिक ज्ञान कहा जा सकता है।

लेकिन यह कहा जा सकता है कि यह पूरा उत्तर नही है। क्या तर्क मानव को अनैतिक स्वार्थ और स्वार्थ रहित अच्छे काम मे भी सहायक हो सकता है ? क्या तर्क एक चोर-बाजारी करने वाले व्यक्ति को यह बात समझा सकता है कि उसे नाजायज फायदा उठाने की प्रवृत्ति को अपने आप छोड देना चाहिए चाहे उसे पकडे जाने का भय न भी हो और उसे थोडे लाभ देने वाले ईमानदारी से व्यापार करना चाहिए ? और क्या तर्क व्यक्ति को ईमानदार और बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवहार करने मे सहायक हो सकता है ? और क्या वह अपने चरित्र को इतना शक्तिशाली बना सकता है कि वह अपने विवेकपूर्ण निर्णयों का पालन करने में सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है ? क्या व्यक्ति तर्क को छोडकर लोभ के प्रभाव को बार-बार स्वीकार नही कर लेते हैं।

इन प्रश्नो से नैतिक आचरण का आन्तरिक संघर्ष सामने आता है कि इस बात की पुष्टि मे क्या तर्क है जिनके द्वारा यह निश्चित हो सके व्यक्ति अपने स्वार्थ के अनुसार आचरण न करके स्वेच्छा से नैतिक आचरण का पालन करे। धर्म-निरपेक्षता के आधार पर नैतिकता का आचरण कैसे हो ? इस प्रश्न पर अगले अध्याय मे विचार किया जायेगा।

धर्म-निरपेक्ष नैतिकता

नैतिकता और स्वतन्त्रता

दर्शन की यह केन्द्रीय समस्या रही है कि क्या मानव स्वतन्त्र और नैतिक एक साथ हो सकता है। क्या मानव, जब उसके ऊपर कोई दबाव न हो और एकदम स्वतन्त्र हो तब भी स्वेच्छा से नैतिक आचरण कर सकता है ? यदि मानव अपनी स्वतन्त्रता पर आँच आये बिना नैतिक आचरण नही कर सकता तो यह कहा जायेगा कि नैतिक आचरण और स्वतन्त्रता एक साथ नही रह सकती, दोनो का साथ असगत है। उस दशा मे नैतिक आचरण दबाव से कराया जा सकता है। एक प्रकार का दबाव कानून द्वारा लागू किया जाता है। जब कोई व्यक्ति नैतिक आचारण करके अपराध करता है अथवा कानून का उल्लघन करता है तो उसे दडित किया जाता है। दूसरे प्रकार का दबाव धर्म का है, उसके अनुसार जो नैतिक आचरण का उल्लघन करता है उसे मृत्यु के उपरान्त सजा मिलती है। प्रश्न यह है कि क्या व्यक्ति स्वेच्छा से बिना किसी लौकिक अथवा आध्यात्मिक भय या दबाव के नैतिक आचरण कर सकता है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर एक दूसरा प्रश्न उठाकर दिया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति भय और दबाव के कारण नैतिक आचरण करता है और स्वेच्छा से वैसा नही करता तो क्या उसे नैतिक कहा जा सकता है ? क्या ऐसा आचरण जो स्वेच्छा से नैतिक दृष्टि से नही किया गया, लेकिन प्रचलित नैतिकता के अनुसार उसे नैतिक कहा जा सकता है ? उदाहरणार्थ, यदि एक व्यक्ति कानून द्वारा पकडे जाने पर सजा पाने अथवा मृत्यु के बाद पापजन्य दुख भोगने के भय से अनैतिक आचरण–चोरी–नही करता है तो क्या उसके आचरण को नैतिक कहा जा सकता है ?

उक्त प्रश्नो के नकारात्मक उत्तर मिलेगे। किसी व्यक्ति के आचरण को तब तक नैतिक नही कहा जा सकता जब तक वह स्वेच्छा और बिना किसी भौतिक अथवा धार्मिक दबाव के किया गया हो। नैतिक आचरण मे नैतिक भावना अथवा मानवमूल्य की भावना होनी चाहिए और उसके आधार पर नैतिक आचरण होना चाहिए। बिना आचरण के इरादा और बिना इरादे के किया गया आचरण

नैतिकता नही है । यदि कोई व्यक्ति किसी भिखारी को कुछ पैसे देने का इरादा रखता है लेकिन देता नही है अथवा वह कुछ पैसे गिरा देता है जो भिखारी उठा लेता है तो उसे दान नही कहा जा सकता । यदि कोई व्यक्ति नैतिक भावना से नैतिक आचरण करता है तब ही उसे नैतिक कहा जा सकता है । इसका यह अर्थ है कि जब कोई व्यक्ति दबाव मे कोई नैतिक आचरण करता है तब वह नैतिक नही होता है । शक्ति, दबाव और भय से नैतिक भावना पैदा नही की जा सकती । केवल स्वतन्त्र व्यक्ति ही नैतिक आचरण करने की क्षमता रखता है ।

अतः जिस प्रश्न का उत्तर हमे देना है वह यह नही है कि क्या स्वतन्त्रता और नैतिकता एक साथ हो सकती है विचार यह करना है कि नैतिकता की सम्भावना है अथवा नही ? हम अपने दैनिक जीवन मे यह बात देखते हैं कि लोग नैतिकता की भावना से आचरण करते हैं । इस नैतिक भावना का क्या आधार है ? क्या यह भगवत् कृपा का फल है ? क्या हमारे अन्तर्मन मे ईश्वर की इच्छा व्याप्त है ? अथवा हमारी नैतिक भावना और आत्मचेतना इस भौतिक ससार में उत्पन्न होती है ?

नैतिकता का स्रोत

मानव प्राणी–समुदाय में रहने वाला प्राणी है । इस बात के बहुत से प्रमाण है कि मानव के पूर्व का प्राणी भी समुदायो मे रहता था । (मार्गरेट नाइट के "नैतिकता-आधिभौतिक अथवा सामाजिक" लेख, "दि ह्यूमनिस्ट आउट लुक" मे प्रकाशित, सम्पादक–प्रो. ए. जे. अय्यर, पैम्बर्टन 1968) समुदाय मे परस्पर सहयोग से रहने की भावना उसके अस्तित्व की रक्षा की इच्छा से उत्पन्न हुई । सामुदायिक सहयोग से अन्य वन्य प्राणियो और प्राकृतिक आपदाओ से मानव की रक्षा होती थी । उसे अपने परिवार के लिए खाद्य बटोरने अथवा शिकार करने मे सहायता मिलती थी । सामाजिक जीवन मे ही भाषा का विकास सम्भव हुआ । भाषा से सूचना और ज्ञान का आदान-प्रदान करने मे और भावी पीढ़ियो के लिए ज्ञान की परम्परा बनाने मे सहायता मिली ।

सहकारी जीवन मानव के अस्तित्व के लिए आवश्यक था । ऐसी स्थिति मे उसके लिए यह स्वाभाविक था कि उसके मस्तिष्क में ऐसे गुण उत्पन्न हो जो उसके सामाजिक सहयोग की भावना के लिए सहायक हों । पहले हम यह देख चुके हैं कि मानव की ज्ञानेन्द्रियाँ और उसका मस्तिष्क प्राणियो के विकास क्रम की उत्पत्ति है । मानव-जीवन के अस्तित्व के लिए सहकारी ढग से रहना आवश्यक था । इससे उस की सहज प्रक्रिया और इच्छाएँ–सहानुभूति, प्रेम और सामाजिक जीवन

की भावनाए उसके मस्तिष्क मे प्राकृतिक रूप से विकसित हुई। इन्ही बातो के आधार पर नैतिक भावना उत्पन्न होती है।

इस प्रकार इस बात मे सन्देह करने की गुंजाइश नही रहती कि नैतिक भावना मानव का प्राणीगत स्वाभाविक गुण है। चाहे जितना तगडा और रूखा व्यक्ति हो यदि वह एक बच्चे को एक ट्रक से कुचलता देखता है तो वह द्रवित हुए बिना नही रह सकता। ऐसे अवसरो पर उसमे सहानुभूति की जो भावना उत्पन्न होती है वह सहज प्रक्रिया से होती है, किसी दूसरी भावना से नही। मानव की सामाजिकता इससे भी सिद्ध होती है कि उसके लिए अकेले कोठरी मे रखे जाने की सजा सबसे कठोर मानी जाती है।

नैतिक आचरण का भ्रूण रूप हमे उन उच्च कोटि के पशुओं मे मिलता है जो समुदायो में नही भी रहते है। पशुजगत मे माता द्वारा अपने शिशु की रक्षा की सहज इच्छा प्रकट होती है। यह सभी को मालूम है कि बिल्ली अपने बिलौटो के लिए आहार की व्यवस्था करती है और बाहर लाकर एक साथ खाते हुए अपने बिलौटो को खाना सिखाती है। समुदायो मे रहने वाले प्राणियों मे सामाजिक सहज इच्छाएँ स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। पशुओ के मनोविज्ञान के अध्ययन से छोटी-मोटी क्रान्ति हो गयी है। यह पाया गया है कि समुदायो मे रहने वाले प्राणियो मे सहयोग और परोपकार का आचरण अपने जोड़े के साथ ही नही वरन् अपनी सन्तति के प्रति भी होता है। (मार्गरेट नाइट के उल्लिखित लेख के आधार पर) कुछ सामुदायिक जीवो मे श्रम के विभाजन का रूप भी मिलता है– जैसे चीटी और मधुमक्खियो मे। इस प्रकार की सहयोगात्मक सहज प्रक्रिया का जो भ्रूण रूप मिलता है उसको चेतना के स्तर पर नैतिक आचरण कहा जा सकता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि नैतिकता का विकास प्राणीगत विकास क्रम से होता है, किसी धार्मिक आधार पर नही।

चार्ल्स डारविन ने अपनी पुस्तक "दि डेसेन्ट आफ मैन मे लिखा है:–

"मुझे इस बात की सम्भावना प्रतीत होती है कि किसी भी प्राणी अथवा जीव मे जो सामाजिक सहज प्रक्रिया होती है जैसे माता-पिता का सन्तति के लिए स्नेह, मानव के विकास मे बौद्धिक विकास और चेतना उत्पन्न होने पर वही नैतिक भावना बन जाती है।" (डारविन, ग्रेट बुक्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड बुक 49, एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका इन्क पृष्ठ 304)

नैतिक मूल्य प्राकृतिक सहज नैतिक प्रक्रियाओ से उत्पन्न होते हैं। पहले हम यह देख चुके है कि आत्मचेतना, अपनी भावनाओ और विचारो की चेतना, मानव

मस्तिष्क का विशिष्ट गुण है। जब कोई व्यक्ति अपने भीतर दया और प्रेम की भावना का अनुभव करता है और अपने आप से कहता है कि यह अच्छी बात है तो उस सद्वृत्ति से नैतिक मूल्य का जन्म होता है। दया, ईमानदारी, सत्य और अधिक ऊँचे स्तर पर *न्याय और समानता भी नैतिक मूल्य है।* यह वृत्तियाँ इसलिए नैतिक है क्योंकि ये सहयोगात्मक सामाजिक अस्तित्व को प्रोत्साहित करती है। नैतिकता, सहज नैतिक प्रक्रिया और मानवमूल्य से प्रभावित आचरण कही जा सकती है।

प्राणियो के विकास क्रम मे मानव में दूसरी सहज भावनाओ का विकास होता है, जैसे क्रोध और अपने कथन पर जोर डालने की प्रवृत्ति, ये भावनाएँ व्यक्तिगत अस्तित्व मे सहायक होती है। प्राय: इस प्रकार की भावनाएँ सद्वृत्तियों के विरुद्ध होती हैं। मानव प्राणी मे प्रतिस्पर्द्धा और अहकार की भावना रहती है साथ ही साथ उनमे सहयोग, परोपकार आदि की वृत्तियाँ होती है। नैतिक विकास में प्रतिस्पर्धा और अहंकार की वृत्ति को सहयोग और परोपकार की भावना के नीचे कर दिया जाता है।

व्यक्ति का नैतिक विकास और तर्क की भूमिका

जीवन के आरम्भ मे व्यक्ति का नैतिक विकास परिवार के बडे-बूढ़े और समाज के प्रभाव से होता है। बालक का आचरण अभिभावक की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति से मार्गदर्शन मे होता है। इस प्रक्रिया से बालक सामाजिक नियमो को आत्मसात कर लेता है और उनके उल्लंघन से घबड़ाता है। बड़े होने पर बाद के जीवन में सामाजिक नियमो को आत्मसात करने की प्रक्रिया जारी रहती है और समाज के बहुसख्यक व्यक्ति सामाजिक नियम के अनुसार आचरण करते हैं। कुछ सामाजिक नियम अन्यायपूर्ण अथवा व्यक्ति के लिए प्रतिबन्धात्मक होते हैं। जातिगत भेदभाव विभिन्न समाजो मे विद्यमान हैं। भारत मे जात-पाँत का भेदभाव है। *ये समाज के अन्यायपूर्ण नियम कहे जा सकते है।* युवको पर वृद्धो का प्रभुत्व और स्त्रियो पर पुरुषो का प्रभुत्व व्यक्ति पर प्रतिबन्धात्मक नियम कहे जा सकते हैं। व्यक्ति के नैतिक विकास पर समाज का प्रभाव सामान्य रूप से लाभप्रद होता है, लेकिन कभी-कभी वह हानिकारक और दमनात्मक भी हो जाता है।

अनेक ऐसे व्यक्ति होते है जो स्वतन्त्र रूप से अपनी बुद्धि को इतना विकसित कर लेते हैं कि वे चालू नैतिक विषयो की परीक्षा करके मानव मूल्यों के आधार पर उनकी उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता समझ लेते हैं। उनकी नैतिकता विकासात्मक रूप से उनके आत्मनिर्णय पर आश्रित होती है। इस प्रकार की

नैतिकता के लिए किसी वाह्य अधिकार को आत्मसात करने की आवश्यकता नही पड़ती वरन् अपनी आत्मचेतना के आधार पर अपनी नैतिकता को विकसित करना होता है। ऐसे व्यक्ति का आचरण सामाजिक स्वीकृति के स्थान पर आत्मस्वीकृति से मार्गदर्शन प्राप्त करता है। यह ऐसा तर्क है जिससे व्यक्ति अपने नैतिक गुणो का परिष्कार करता है।

सामान्य रूप से यह विश्वास किया जाता है कि तर्क व्यक्ति को नैतिक व्यक्ति के रूप मे विकसित होने मे सहायक नही होता। यह विश्वास इसलिए है कि नैतिकता को आत्मबलिदान माना जाता है। तर्क के द्वारा व्यक्ति दो विकल्पो मे से एक को चुन सकता है और यह निर्णय कर सकता है कि किस प्रकार का आचरण उसके लिए लाभप्रद है। कहा जाता है कि तर्क व्यक्ति को स्वार्थ छोडने मे सहायक नही होता और न वह उसे आत्मबलिदान के लिए प्रेरित करता है। इसी कारण से ईश्वर अथवा समाज के वाह्य अधिकार को आवश्यक माना जाता है जिससे व्यक्ति नैतिकतापूर्ण आचरण कर सके।

यह गलती इसलिए होती है कि यह मान लिया जाता है कि नैतिक आचरण मे आत्मत्याग और आत्मबलिदान निहित है। जब कोई व्यक्ति पीडित और दुःखी व्यक्ति को राहत पहुँचाता है तो देखने वाले को यह लगता है कि उसने त्याग किया है। लेकिन उसे अपने इस प्रकार के काम से अपनी स्वाभाविक प्रेम भावना को पूरा करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार के कार्य से उसे एक आत्मतुष्टि मिलती है। दूसरी ओर यदि वह पीडित व्यक्ति को आवश्यकता पडने पर सहायता देने मे असफल रहता है तो उसकी प्राकृतिक स्वाभाविक प्रेम भावना को पूरा न कर सकने पर कष्ट और बेचैनी होती है। जब देखने वाला व्यक्ति के आचरण को आत्मत्याग समझता है, उस समय वह स्वय आत्मविवेचन से अपने कार्य को आत्महित की भावना से किया हुआ कार्य मानता है। यही कारण है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि समुदाय मे रहने वाले प्राणियो मे परोपकारक व्यवहार मिलता है। नैतिक उदार आत्महित है।

हम पहले यह देख चुके है कि मानव की वे सहज प्रक्रियाएँ और भावनाएँ जो उसके प्राणीगत विकास के अस्तित्व क्रम मे विकसित होती हैं वे मानव जीवन मे स्वतन्त्र रूप से सन्तुष्टि का स्रोत बन जाती हैं। खोज की वृत्ति सत्य की खोज मे रूपान्तरित हो जाती है जिससे व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करके सन्तोष प्राप्त करता है। चाहे उसका व्यक्ति के लिए तात्कालिक उपयोग न भी हो तो भी व्यक्ति स्वतन्त्र ज्ञान प्राप्त कर उस से सन्तोष प्राप्त करता है। इसी प्रकार सृजनात्मक वृत्ति कलाकार को अपनी कला से सन्तोष देती है। इसी प्रकार व्यक्ति नैतिक

आचरण विकसित करके परोपकारी जीवन अपना सकता है, जिस से उसे अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध करने का सन्तोप होता है। इसका सबसे अच्छा वर्णन यूनानी दार्शनिक ऐपीक्यूरस ने किया है। उसने कहा, "मैं नैतिक आचरण ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए नही वरन् स्वयं अपने को प्रसन्न करने के लिए करता हूँ।"

एक बार यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि नैतिकता उदार आत्महित ही है तो यह समझा जा सकता है कि तर्क मानव के नैतिक उदात्तीकरण मे सहायक हो सकता हैं। इसके अतिरिक्त कि नैतिक इच्छाओं को पूरा करके व्यक्ति को सन्तोप के साथ उन लोगो की कृतज्ञता भी मिलती है जिनकी वह सहायता करता है। समाज मे इस प्रकार के कार्य की स्वीकृति मिलती है और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसे आत्मस्वीकृति मिलती है। स्वार्थहीन नैतिक आचरण से व्यक्ति को स्वार्थपूर्ण अनैतिक आचरण की अपेक्षा कही अधिक सन्तोष मिलता है।

मानव का नैतिक आचरण अनिवार्य रूप से मानव के अपने व्यक्तिगत विवेक की क्षमता से विकसित होता है। विरोधी इच्छाओं मे विवेक के द्वारा सद्इच्छाओं को चुना जा सकता है। व्यक्ति अपनी पिछली गलतियो और उनके दुष्परिणामो को याद करके भविष्य मे वैसी गलतियाँ करने से बचने का प्रयास करता है। यह प्रक्रिया बाल्य जीवन से शुरू हो जाती है और जीवन भर चलती है। आपको स्वयं यह स्मरण होगा जब पहले आपने कठोर शब्दों का प्रयोग किया हो अथवा कठोरता का व्यवहार किया हो और उसके परिणामस्वरूप आपको दुख हुआ हो, आप स्वयं उस प्रकार के आचरण की पुनरावृत्ति नही करना चाहेगे। इस प्रकार आत्मचेतना और चरित्र का विकास होता है।

इस प्रकार नैतिकता वस्तुगत और आत्मगत दोनो प्रकार की है। यह हम देख चुके हैं कि नैतिक आचरण मानव के सामाजिक अस्तित्व मे सहयोगात्मक वृत्ति मे सहायक होता है। प्राणीगत विकासप्रक्रिया से भी नैतिक भावना उत्पन्न होती है। प्राणीगत विकास प्रक्रिया मे अस्तित्व की इच्छा से विवेक वस्तुगत आधार पर विकसित होता है। आत्मगत रूप से चेतना के आधार पर नैतिक भावना विवेक पर आश्रित है और उसकी सहायता से व्यक्ति विरोधी इच्छाओ मे सद्इच्छा का चुनाव कर अपनी चेतना और उदात्त जीवन को विकसित करने मे समर्थ हो जाता है।

स्वतन्त्रता की खोज मानव के प्राणीगत अस्तित्व के संघर्ष के क्रम को जारी रखना है अतः तर्क और नैतिकता दोनो स्वतन्त्रता के आदर्श को प्राप्त करने मे

सहायक है। तर्क के द्वारा व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है और नैतिकता सहयोगात्मक सामाजिक अस्तित्व का अवसर देती है। विवेकी व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता और नैतिकता मे अन्तर्विरोध नही है। इसके प्रतिकूल विवेकी और नैतिक व्यक्ति सगठित समाज मे स्वतन्त्रतापूर्वक जीवनयापन कर सकता है।

समाज का नैतिक विकास : तर्क बनाम धर्म

सामाजिक विकास मे नैतिकता की जो भूमिका है यह व्यक्ति के नैतिक विकास तक ही सीमित नही है। तर्क के द्वारा वह परम्पराओ और सस्थाओ, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सस्थाओ के अविवेकी नियमो और अन्याय को उद्घाटित करता है और उसके प्रयोग से समाज मे व्याप्त नैतिक मानदण्ड को ऊँचा उठाने मे सहायक होता है। उस से उन्नत उदारता और उदार सामाजिक वातावरण की सृष्टि होती है और समाज के पीडित लोगो मे मानव-गरिमा के अनुकूल ऊँचा उठने, न्याय और समानता के लिए लडने की प्रवृत्ति को बढाती है।

धर्म के सम्बन्ध मे यह समझा जाता है कि वह व्यक्ति और समाज मे नैतिकता को सुदृढ करने मे सहायक होता है, लेकिन यथार्थ मे उसकी इससे प्रतिकूल भूमिका है। यह सही है कि सभ्यता की प्रारम्भिक स्थितियो का प्रमुत्व था, उस समय धर्म ने समाज मे न्यूनतम नैतिक स्तर रखने और समाज को सन्तुलित रखने मे निश्चित भूमिका अदा की। धर्म के आधार पर नैतिक नियमो का उदण्ड लोगो पर कुछ अच्छा प्रभाव पडा होगा। आधुनिक समय मे धार्मिक उपदेशो का समाज के कुछ लोगो पर नैतिक प्रभाव ही पडता है। समाज मे व्याप्त अनैतिकता को भी धर्म से संरक्षण मिलता है, धर्म से समाज की हानिकारक, शोषणकारी और दमनात्मक परम्पराओ को भी सरक्षण मिलता है। सामाजिक बुराइयो को भी धर्म का सरक्षण मिलता है इसके लिए व्यक्ति की नैतिकता को भी धर्म से क्षति पहुँचती है। धर्म के द्वारा तपस्या, आत्मत्याग, और सहन के सम्बन्ध मे भ्रामक आदर्शों की स्थापना होती है जो व्यक्ति की प्राणीगत भावनाओ के प्रतिकूल होते है और जिनसे आत्मगत और सामाजिक भ्रम बड़े पैमाने पर फैलते है।

धर्म की नकारात्मक भूमिका और तर्क की सकारात्मक भूमिका से समाज मे किस प्रकार नैतिकता विकसित होती है उसके उदाहरण किसी भी देश के इतिहास मे देखे जा सकते हैं। मध्ययुगीन यूरोप को इतिहास का अन्धकार युग कहा जाता है, उसमे धर्म का प्रभाव सबसे अधिक था। उस समय यूरोप मे मठो की स्थापना धर्म के अनुसार आचरण की देखभाल के लिए की गयी थी। इतिहास

से हमे ज्ञात होता है कि धार्मिक मठ अनैतिकता और भ्रष्टाचार के केन्द्र बन गये थे। धर्मान्धता के कारण अमानवीय दण्ड दिया जाता था। धर्मविरोधी लोगों को लठ्ठो मे बांध कर फूंक दिया जाता था। जड़ धार्मिक संहिता ने प्राकृतिक नैतिक सवेदनशीलता का स्थान ग्रहण कर लिया था। फलतः जीवन में दु.खी और सुविधाओ से वंचित लोगो की ओर ध्यान नही दिया जा सकता था। स्त्रियो को सामान्य रूप से चुड़ैल माना जाता था। अपराधो के लिए दण्ड की व्यवस्था इतनी अमानवीय थी कि व्यक्ति को चोरी के छोटे अपराध मे भी मौत की सजा दी जा सकती थी। सजा देने का ढग भी अमानवीय था। इंगलैण्ड मे यदि किसी व्यक्ति को मौत की सजा दी जाती थी, तो उसे सड़क पर घसीटा जाता था, उसके अंग काटे जाते थे और उसकी बाद मे गर्दन काट दी जाती थी। न्याय का स्तर इतना गिरा हुआ था कि सर फ्रांसिसबेकन जैसा न्यायाधीश, जो न्यायपालिका का उच्चतम अधिकारी–लार्ड चांसलर था, घूस लेता था। बेकन को इस अपराध मे सजा दी गयी थी। उसने अपने बचाव में सच्चाई से यह कहा था कि उसने घूस लेकर प्रचलित व्यवहार का पालन किया है। परिवार मे स्त्रियो को वस्तु माना जाता था और वरिष्ठ पुरुष के आदेशो का उन्हे पालन करना पड़ता था। राजाओ और सामन्तों के मनमाने अधिकारो का समर्थन धर्म करता था। इन सब बुराइयो को उदार जागरण के बाद कम किया गया और उनको तर्क के अनुरूप बनाने का प्रयास किया गया।

भारतीय इतिहास मे धर्म की भूमिका इससे भिन्न नहीं रही है। धर्म ने जात-पांत, ऊँच-नीच और अस्पृश्यता का समर्थन किया। अस्पृश्यता से अधिक अनैतिक व्यवहार की कल्पना करना मुश्किल है। राजाओं, सामन्तो और भूस्वामियो तथा धर्माध्यक्षों द्वारा जनता के शोषण का भी धर्म ने समर्थन किया था। विधवा को पति की चिता पर जीवित जलने के लिए बाध्य किया जाता था। ठगी जिसमे निरीह व्यक्ति की हत्या कर दी जाती थी, उसे भी धार्मिक अनुष्ठान माना जाता था। आधुनिक समय मे भी बाल विवाह, विधवा के पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध और लड़कियों की शिक्षा को धर्म के प्रतिकूल माना जाता था। तर्क के आधार पर नवजागरण के परिणामस्वरूप नैतिक स्तर को ऊँचा उठाया गया। पश्चिमी देशो की तुलना मे भारत में धर्म का प्रभाव अधिक है और उसी आधार पर यहां का नैतिक स्तर नीचा है।

इस समय ससार भर मे नैतिक स्तर का पतन हुआ है। धार्मिक लोगों का कहना है कि धर्म मे आस्था की कमी के कारण यह पतन हुआ है। तथ्य यह है कि नैतिक स्तर का पतन नही हुआ है लेकिन वह अपर्याप्त हो गया है। आधुनिक

समाज मे टेक्नालॉजी के तेजी से हुए विकास से वह अधिक जटिल हो गया है और आवश्यकता इस बात की है कि नैतिक स्तर को ऊँचा उठाया जाय। लेकिन ऐसा नही हो रहा है। इसके उपचार के लिए धर्म की उतनी आवश्यकता नही है जितनी तर्क को अपनाने की आवश्यकता है।

स्वतन्त्र इच्छा और निश्चयवाद

कारण-कार्य निश्चवाद के इस ससार मे क्या मानव की इच्छा स्वतन्त्र हो सकती है? क्या मानव अपने लक्ष्य को स्वय निर्धारित कर सकता है और अपनी इच्छा को दिशा प्रदान कर सकता है अथवा उसकी इच्छा उन तत्वो से निश्चित होती है जिन पर उसका कोई नियन्त्रण नही है।

इस समस्या का सम्बन्ध स्वतन्त्रता और धर्मनिरपेक्ष नैतिकता दोनो से है। यदि व्यक्ति मे अपनी इच्छा को प्रभावित करने की शक्ति नही है तो उसके लिए स्वतन्त्रता के आदर्श का कोई अर्थ नही रहता है। जिस व्यक्ति का अपनी इच्छाओ पर नियन्त्रण नही होता वह अपने भविष्य का स्वय नियन्ता नही हो सकता। इसी भाँति यदि मानव को नैतिक और अनैतिक विकल्पों का चुनाव करने की स्वतन्त्रता नही है तो नैतिक आचरण न करने के दोष के लिए उसे उत्तरदायी नही कहा जा सकता। इच्छा की स्वतन्त्रता के अभाव मे मानव को उत्तरदायी नैतिक इकाई नही माना जा सकता।

अब हमे उक्त समस्या पर 'इच्छा की स्वतन्त्रता" के एक दूसरे अर्थ की पृष्ठभूमि मे विचार करना चाहिए। इच्छा की स्वतन्त्रता का दूसरा अर्थ है कि इसके द्वारा मानव अपने भविष्य का निर्माण करता है। इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न उठता है कि क्या मानव की इच्छा केवल "दृश्यमान वस्तु" का पूर्व अनुमान है और उसमे अपने आप ऐसी शक्ति नही है जो भविष्य की रचना कर सके। स्पष्ट है कि इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देना चाहिए। इतिहास यह दिखाता है कि ज्ञान के विकास के साथ मानव-इच्छा अधिक शक्तिशाली होती गयी है और घटनाओ को प्रभावित करने मे उसकी भूमिका बढ गयी है।

हमारे सामने यह प्रश्न भिन्न रूप मे है। हमने यह देखा है कि ससार (विश्व) निश्चयवादी और नियमबद्ध है। क्या मानव इच्छा भी इन्ही नियमो निश्चयवाद से प्रभावित नही होती है? यदि विभिन्न भौतिक शक्तियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं और भिन्न-भिन्न दिशाओं और परिमाण मे कार्य करती हैं, उनके सम्बन्ध मे विज्ञान हमे उनके अन्तिम रूप की शक्ति और दिशा समझने मे सहायता देता है। मानव इच्छा भी प्रकृति का अग होने के क रण इस प्रकार के नियम से कैसे

अछूती रह सकती है। उदाहरण के लिए यदि आप यह जानना चाहते हैं कि अमुक व्यक्ति एक निश्चित स्थिति में कैसा व्यवहार करेगा तो आपको उस स्थिति से जुड़े व्यक्तियों के सम्बन्ध मे आवश्यक जानकारी होनी चाहिए। मानव की इच्छा और प्रकृति की जानकारी होनी चाहिए तो व्यक्ति के आचारण का अनुमान लगाया जा सकेगा। यदि व्यक्ति का आचरण इस प्रकार निश्चित हो तो क्या यह कहा जा सकेगा कि उसकी इच्छा स्वतन्त्र है और जो वह कर रहा है, उसे स्वतन्त्र इच्छा से कर रहा है।

इस सैद्धान्तिक विवाद के बावजूद, मानव की इच्छा की स्वतन्त्रता हमारा दैनिक अनुभव है। हमे यह अनुभव होता है कि किसी निश्चित अवसर पर हमें स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने और काम करने की स्वतन्त्रता है। हम पुस्तक पढ़ें अथवा टेलीविजन देखें यह हम स्वय निश्चित करते है। क्या यह स्वतन्त्रता की भावना केवल काल्पनिक है।

इस प्रश्न का विभिन्न तरीको से उत्तर देने का प्रयास किया जायेगा। कुछ लोग कहते हैं कि प्रकृति मे जितना अनिश्चय है उसी से इच्छा को स्वतन्त्रता उत्पन्न होती है। यह बात इसलिए उठी कि परमाणु के कुछ अतिसूक्ष्म कणो के आचरण को निश्चित नहीं किया जा सकता। इसका एक कारण यह भी है कि वैज्ञानिक जिन यन्त्रो से उनके आचरण को जानने का प्रयास करते हैं वे भी उनको प्रभावित करते है। देखना यह है कि वैज्ञानिको द्वारा परमाणु के अतिसूक्ष्म कणों के आचारण को निश्चित रूप से जानने मे विफल होने से इस निष्कर्ष को कैसे उचित कहा जा सकता है। प्रकृति के अनिश्चय को वैज्ञानिक यन्त्रो की त्रुटि के आधार पर स्वीकार नही किया जाना जाना चाहिए। यह कहना सम्भव नही लगता कि प्रकृति के अनिश्चय के आधार यह मान लिया जाय कि इच्छा की स्वतन्त्रता का आधार नही है। मानव इच्छा का निर्णय यदि वह स्वतः करता है तो उसे स्वतन्त्र कहा जायेगा और उसे इधर-उधर की बातो से प्रभावित नही माना जायेगा।

कुछ लोगों का कहना है कि प्रकृति मे जैसे आकस्मिकता पायी जाती है, उसी भाँति इच्छा की स्वतन्त्रता भी है। हमने पिछले अध्याय पाँच मे यह देखा है कि संसार की घटनाएँ आवश्यकतावश, कारण-कार्य निश्चयवाद के नियमों से और अकस्मात भी घटित होती हैं। यह इस प्रकार इसलिए होता है कि सभी घटनाएँ कारण-कार्य नियम से होती है। एकदम दो प्रतिकूल घटनाओं का एक ही कारण नहीं हो सकता है। इच्छा की स्वतन्त्रता प्रकृतिजन्य आकस्मिक घटना से उत्पन्न नही होती यद्यपि मानव-इच्छा इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं का

लाभ उठा सकती है। यदि यह अन्धशक्तियों से बाधित हो तो मानव इच्छा को स्वतन्त्र नही कहा जा सकता। आत्मनिश्चय की शक्ति के बिना मानव इच्छा को स्वतन्त्र नही माना जा सकता।

इच्छा की स्वतन्त्रता का स्रोत हमे इस तथ्य से खोजना पडेगा कि मानव प्राणियो मे अपनी इच्छाओ को बदलने की शक्ति है। मनुष्य के चरित्र का विकास, जैसा कि हम देख चुके हैं, विवेकपूर्ण आचरण पर निर्भर करता है, इसका यही तात्पर्य है कि मानव मे अपनी इच्छा को बदलने की शक्ति है। यह प्रक्रिया बाल्य जीवन मे तेज नही होती, लेकिन बड़े होने पर उसमे यह प्रक्रिया तेज होती है और अपनी इच्छा को बदलने की उसकी शक्ति बढ जाती है। बड़े होने पर मानव की इच्छा उसके बाल्य जीवन की इच्छा से भिन्न होती है। बाल्यकाल मे *बालक के चरित्र के निर्माण मे उसके माता-पिता और अभिभावक को मार्गदर्शन* का प्रभाव रहता है, लेकिन बडे होने पर मानव की यह प्रक्रिया उसे स्वय ही निश्चित करनी पडती है। वह अपने पुराने अनुभवो से सीखता है। मानव गलती करके उसका दुष्परिणाम भोगता है और अच्छा आचरण करना सीखता है। अनुभव से सीखना उसकी तर्कशक्ति से ही सम्भव है अत: कहा जा सकता है कि तर्क उसकी इच्छा को मोडने मे मुख्य प्रभाव डालता है। चरित्र निर्माण मे *केवल नैतिक विकास ही नही होता, इस बात को ध्यान मे रखने की आवश्यकता* है। साहस और धैर्य जैसे गुण भी जो मानव के अच्छे जीवन के लिए किये गये सघर्ष मे सहायक होते है चरित्रनिर्माण की प्रक्रिया मे मानव की इच्छा मे निहित हो जाते है। मानव इच्छा इसलिए स्वतन्त्र मानी जाती है क्योकि व्यक्ति बहुत कुछ उस को स्वय निश्चित करता है।

उक्त वक्तव्य निश्चयवाद के सिद्धान्त के विरूद्ध नही है। यदि आकस्मिकता की सम्भावना को अलग कर दिया जाय तो वे सभी बाते मालूम रहती है जिनसे व्यक्ति का स्वभाव और उसकी इच्छा की दिशा निश्चित होती है। इस आधार पर किसी स्थिति मे उसके आचरण का अनुमान लगाया जा सकता है। उसकी इच्छा को स्वतन्त्र कहा जायेगा चाहे अनुभव से प्राप्त ज्ञान के आधार पर भविष्य मे पहले जैसी स्थिति होने पर वह भिन्न आचरण ही क्यो न करे। इस परिवर्तन का क्या कारण है ? यह हो सकता है कि अनुभव के आधार पर उसकी इच्छा का स्वरूप ही बदल गया हो।

इससे उस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है, जिसमे यह पूछा जाता है कि क्या मानव अपने अनैतिक कार्यों के लिए उत्तरादायी है। मान लीजिए एक व्यक्ति लोभ के कारण चोरी करता है। अपनी इच्छा के तात्कालिक स्वभाव के कारण

वह उससे भिन्न आचरण नही कर सकता था। फिर भी वह अपने कुकर्म के लिए उत्तरदायी है क्योकि यदि वह अपने चरित्र को सुधार कर चोरी का अपराध करने से अपने को बचा सकता था। वह अपने आचरण के लिए स्वतन्त्र था अतः अपने किये हुए अपराध के लिए जिम्मेदार माना जायेगा।

इस प्रकार सामाजिक वातावरण व्यक्ति के चरित्र के विकास में सहायक होता है साथ ही व्यक्ति भी उसे बनाने में महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। मानव स्वायत्त-शासी अपना नैतिक प्रतिनिधि है और वह अपने भविष्य का निर्माता है क्योकि ज्ञान प्राप्त करने की अपनी योग्यता के अतिरिक्त उसमें अपने चरित्र को सुधारने की क्षमता है और वह अपने को एक अच्छा व्यक्ति बना सकता है।

नैतिक मूल्य पूर्णरूप से शुद्ध है अथवा सापेक्ष

नैतिकता के प्रश्न पर विचार करते समय यह जटिल प्रश्न सामने आता है कि क्या नैतिक मूल्य पूर्णरूप से शुद्ध है जिसके कारण उनको सभी स्थितियो मे लागू किया जा सकता है अथवा वे स्थिति के अनुसार सापेक्ष है? क्या नैतिक नियम भिन्न स्थितियों में भिन्न हो जाते है अथवा वे स्थितियो से प्रभावित हुए समान रूप से लागू होते है?

इस प्रश्न की जटिलता उस समय समाप्त हो जाती है जब नैतिक रूप से सवेदन-शील मानव यह समझ लेता है कि नैतिक मूल्य सुविधा की बात नहीं है। मानव मूल्य अथवा नैतिक मूल्य उसके स्वभाव का हिस्सा बन जाते है क्योंकि वह उसे अपने लिए मूल्यवान मानता है अतः वह स्थिति के अनुसार उसका पालन करना अथवा उनका पालन न करना, मनमाने ढग से अपना आचरण बदल नही सकता है। यदि नैतिक मूल्य को सापेक्ष माना जायेगा तो उसका अर्थ है कि उन्हे नही माना जायेगा। अतः नैतिक मूल्यो को सापेक्ष मानना कुछ न मानने के सिद्धान्त के समान है।

इसका यह अर्थ नही है कि नैतिक रूप से सवेदनशील व्यक्ति को दो मानव मूल्यो मे चुनाव करने की आवश्यकता नही पड़ेगी जिसमे एक मूल्य को छोड़ने और दूसरे को अपनाया जाना परिस्थिति के अनुरूप किया जा सके। लेकिन एक अपवाद को छोडकर दो मानवमूल्यों मे से चुनाव करने की बात उठती है। यह चुनाव नैतिक मूल्य और अनैतिक मूल्य के बीच मे नही करना है। जब व्यक्ति एक नैतिक मूल्य को परिस्थितिवश छोड़ता है तो उसे खेद होता है। वह वैसा आवश्यकतावश करता है लेकिन मजबूरी मे वह उसका पालन नही करता है।

एक साधारण उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। एक डॉक्टर कैंसर के

रोगी का इलाज करता है। मान लीजिए कि रोगी को अपने रोग की जानकारी नही है और डॉक्टर से पूछता है कि वह कब स्वस्थ हो जायेगा ? डॉक्टर यह जानता है कि रोगी कुछ दिनों मे मर जायेगा। ऐसी स्थिति में डॉक्टर को यह तय करना है कि वह रोगी को सत्य बता दे अथवा उस पर दया करके सत्य न बतलाये। जब तक यह पता न हो कि रोगी दृढ़ निश्चयी है, डॉक्टर रोगी को मानसिक कष्ट देने की बजाय झूठी बात कह सकता है। इस मामले मे रोगी पर दया करके झूठ बोलकर अनैतिक कार्य नही किया। इस स्थिति मे डॉक्टर को दया और सत्य दो नैतिक मूल्यो मे से एक का चयन करना है। यदि डॉक्टर नैतिक दृष्टि से सवेदनशील प्राणी है तो उसे इस प्रकार का चयन करने मे भी कष्ट होगा। वह सत्य के नैतिक मूल्य को अच्छा मानते हुए भी झूठ बोलता है। यदि दूसरे मौके पर आत्महित के विरुद्ध सत्य कथन पडता हो तो भी उसे सत्य कहना चाहिए। इस प्रकार नैतिक दृष्टि से सवेदनशील मानव पूर्णरूप से शुद्ध होता है और विभिन्न स्थितियो मे उसे एक अथवा दूसरे नैतिक मूल्य को पालन करना पडता है जो परस्पर विरोधी होने लगे हैं।

कम्युनिस्टो का कहना है कि किसी भी समाज के नैतिक मूल्य उत्पादन के साधनो के आधार पर सम्पत्ति के सम्बन्धो पर आश्रित होते हैं इसका यह अर्थ है कि पूँजीवादी समाज मे एक प्रकार के नैतिक मूल्य होगे और वर्गहीन समाज मे दूसरे प्रकार के नैतिक मूल्य विकसित होगे। सोवियत रूस मे भिन्न नैतिक मूल्यो का विकास 60 वर्ष के सर्वहारा शासन के बाद भी नही हुआ। विभिन्न प्रकार के सामाजिक सगठनो मे विभिन्न नैतिक मूल्यो के सापेक्षिक महत्त्व मे अन्तर आ सकता है लेकिन उनका तत्त्व एक ही रहता है। चोरी का अपराध पूँजीवादी समाज मे समाजवादी समाज की अपेक्षा अधिक दण्डनीय माना जा सकता है, लेकिन समाजवादी समाज मे भी चोरी अपराध माना जायेगा। नैतिक मूल्यो का उदभव प्राणीगत विकास प्रक्रिया और विवेकपूर्ण उद्देश्य से होता है, जो मानव के सहयोगात्मक सामाजिक अस्तित्व के लिए लाभप्रद है। अत नैतिक मूल्य मानव समाज के लिए स्थायी रूप से लाभप्रद माने जाते है। प्रेम, दया, सत्य, भ्रातृत्व और दूसरे नैतिक मूल्य तब तक रहेगे जब तक मानव प्राणी सामाजिक समुदाय मे रहेगा।

साध्य-साधन

नैतिकता के सम्बन्ध मे एक दूसरा जटिल प्रश्न यह उठता है कि क्या अच्छे साध्य अथवा लक्ष्य की प्राप्ति के लिए खराब साधनो का उपयोग किया जा सकता है। इस प्रश्न मे यह बात निहित है कि अच्छे लक्ष्य को खराब साधनों के प्रयोग से

प्राप्त किया जा सकता है। यह बात सामान्य रूप से गलत है। या तो खराब साधनो से अच्छे लक्ष्य को प्राप्त ही नही किया जा सकता और खराब साधन साध्य की अच्छाई को भी प्रभावित कर सकते हैं। और तब क्या वह साध्य ऐसा रह जायेगा जिसको प्राप्त करने का प्रयास करना ठीक हो ? राजनीतिक और सामाजिक साध्यों के सम्बन्ध में यह बात अधिक सही है लेकिन व्यक्तिगत लक्ष्यों के लिए भी यह सही है।

सभी राजनीतिक लक्ष्यो की अपेक्षा समाज के गरीब लोगों की आर्थिक दशा सुधारने का लक्ष्य सबसे अधिक अच्छा हो सकता है। जो व्यक्ति इस सम्बन्ध में बौद्धिक दृष्टिकोण अपनाते हैं वे गरीबों की गरीबी समाप्त करने के लिए अधिनायक-वादी राजनीतिक व्यवस्था का भी समर्थन कर सकते हैं। ऐसे लोग आर्थिक सुधार के इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अधिकारो और स्वतन्त्रता के लोकतान्त्रिक अधिकारो का बलिदान करने के लिए तत्पर हो जायेंगे। ऐसा होने पर व्यक्ति अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता खोने के साथ ही अच्छे आर्थिक जीवन के लिए संघर्ष करने का अधिकार भी खो देता है। यदि कुछ आर्थिक सुधार हो भी जाय तो ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो उसे काल्पनिक बना देती हैं।

खराब साधनो के उपयोग से अच्छा लक्ष्य पाने के प्रयास का दूसरा उदाहरण सत्तामूलक राजनीति के क्षेत्र मे जब देश सास्कृतिक दृष्टि से पिछड़ा हो, उसमे मिलता है। राज्य सत्ता प्राप्त करने के लिए एक राजनीतिक दल की स्थापना की जाती है। उसका लक्ष्य जनसाधारण की हालत सुधारना है। सत्ता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक दल सभी प्रकार के तरीके अपनाता है। लोगो की सकुचित मान्यताओं को बढ़ाया जाता है, वर्गगत हितो का समर्थन किया है और भ्रामक लोकप्रिय नारे लगाये जाते हैं। कुछ समय बाद ऐसा दल सत्ता के भूखे सिद्धान्तहीन राजनीतिज्ञो को अपनी ओर आकृष्ट करता है और जनता की भलाई करने का लक्ष्य पृष्ठभूमि मे चला जाता है और सत्ता के लिए सत्ता प्राप्त करने का लक्ष्य ही दल का मुख्य लक्ष्य हो जाता है।

इस और इसी प्रकार के अन्य उदाहरणो से यह दिखायी देता है कि अच्छे लक्ष्य को प्राप्ति खराब साधनो से नही हो सकती। इस सम्बन्ध में कुछ अपवाद हो सकते है। द्वितीय महायुद्ध का ज्वलन्त उदाहरण है। जब नाजी सेनाएँ विजय प्राप्त करती जाती थीं, उस समय गान्धी जी ने ब्रिटेन की जनता और वहाँ की सरकार से यह अपील की कि वह मानव जाति के नरसंहार को रोकने लिए अपने हथियार डाल कर अहिंसा से अपने शत्रु का सामना करे चाहे उससे फासिस्ट शक्ति को विजय क्यो न मिल जाय। उस सुझाव को किसी ने सुना नही।

फासिस्ट आक्रमण ने ससार को युद्ध मे झोक दिया था और मानवसहार फासिज्म की अन्तर्राष्ट्रीय विजय को रोकने के लिए आवश्यक था । यहाँ खराब साधन–युद्ध के प्रतिरोध मे हिंसा का मार्ग–उससे अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति हुई ।

पहले हम डॉक्टर का उदाहरण दे चुके है, जो अपने कैंसर के रोगी को मानसिक कष्ट से बच जाने के लिए उससे झूठ बोलता है । डॉक्टर ने झूठ बोलकर अपने रोगी को मानसिक कष्ट से बचाकर अच्छे लक्ष्य की पूर्ति की । जीवन मे इस प्रकार के नैतिक सकट की अवस्थाएँ उपस्थित होती है । लेकिन इस प्रकार के मामलो मे यह कहना सही नही होगा कि अच्छे लक्ष्य को पाने के लिए खराब साधनो का उपयोग किया गया । डॉक्टर के उदाहरण मे असत्य का प्रयोग 'दया' के नैतिक मूल्य को पूरा करने के लिए किया गया । इस सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि उक्त डॉक्टर ने नैतिक मूल्य से प्रेरणा लेकर असत्य का प्रयोग किया जो उस दशा मे अधिक उपयुक्त था अत: यह कहना उचित होगा कि उसने अच्छे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अच्छे साधन का ही उपयोग किया ।

इस सम्बन्ध मे एक अपवाद भी विचारणीय है । नैतिक दृष्टि से सवेदनशील मानव विरोधी स्थितियो मे सकट की स्थिति का सामना करता है । उसे दो प्रकार के नैतिक मूल्यो मे से एक का चुनाव करना पडता है, लेकिन उसे नैतिक और अनैतिक मूल्यो मे से किसी को नही चुनना है । यह अपवाद उस समय उत्पन्न होता है जबकि मानव अपनी नैतिक सवेदनशीलता के बावजूद आत्मरक्षा के लिए अनैतिक कार्य करने के लिए बाध्य हो जाता है ।

आत्मरक्षा जीवन का मुख्य उद्देश्य है, लेकिन वह स्वत: नैतिक लक्ष्य नही है । नैतिक आचरण चाहे वे आत्मसन्तोष का स्रोत हो, उसे सहयोगात्मक समाज की रक्षा की दिशा मे होना चाहिए ।

ऐसी बहुत कम स्थितियाँ आती है जब नैतिक दृष्टि से उन्नत व्यक्ति को आत्म-रक्षा के लिए अनैतिक कार्य करना पडता है । गरीब और पीडित लोगो के जीवन मे इस प्रकार की स्थितियाँ अधिक आती है । मान लीजिए एक क्लर्क अपने मालिक द्वारा करवचना करने के लिए गलत हिसाब-किताब रखने के लिए बाध्य होता है । क्लर्क को यह पता है कि मालिक की मर्जी का काम न करने से उसे नौकरी से हाथ धोना पड सकता है और महीनो ही क्या वर्षो उसे दूसरी नौकरी नही मिल सकती । यदि क्लर्क नैतिक व्यक्ति है, जो मन मार कर मालिक के आदेश का पालन करता है, लेकिन यदि उसमे यह सवेदना नही है तो उसे वह खुशी-खुशी करता है ।

उपरोक्त उदाहरण जल्दी-जल्दी नही उठते। हम यह पाते हैं कि नैतिक दृष्टि से कुकृत्य ज्यादातर धनी और शक्तिशाली व्यक्ति अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए बिना किसी प्रकार के सामाजिक कल्याण की बात सोचकर करते हैं। उनके इस प्रकार के कार्य अधिक निन्दनीय हैं।

इस बहस से यह मालूम होता है कि नैतिकता के प्रश्न पर कोई व्यक्ति पूर्ण रूप से शुद्धतावादी नहीं हो सकता। इतना पर्याप्त है कि यदि मानव यह अनुभव करे कि नैतिक आचरण सुखी और उन्नत जीवन मे आत्मसन्तोष का स्रोत है और व्यक्ति को नैतिक मूल्यो को कभी छोडना नही चाहिए। उसे नैतिकता के प्रतिकूल आचरण तब तक नही करना चाहिए जब तक उनकी आवश्यकता जीवन-रक्षा के लिए अनिवार्य न हो।

जीवन की गुणवत्ता

पिछले अध्यायो मे हमने देखा है कि स्वतन्त्रता मानव जीवन के अस्तित्व की मूल इच्छा है और साथ ही मौलिक मानव मूल्य है। स्वतन्त्रता का अर्थ है मानव की क्षमताओ से सभी प्रकार के प्रतिबन्धों का निवारण, जिससे वह अच्छा जीवन पाने मे सफल हो सके; इस प्रकार की स्वतन्त्रता को तर्क की सहायता से प्राप्त ज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है और उस प्रकार के ज्ञान के द्वारा वह अपनी तर्कशक्ति और नैतिक सवेदनशीलता विकसित कर सकता है और अपने मानव साथियो के साथ सहयोगात्मक जीवन के लिए प्रोत्साहित होता है। यह बात भी हमने देखी है कि स्वतन्त्रता की इच्छा और तर्कशक्ति तथा नैतिक भावना मानव ने अपने प्राणीगत विकासक्रम मे उत्तराधिकारी के रूप मे प्राप्त की है। अनेक प्रकार की हानिकारक सहज इच्छाएँ, और प्रवृत्तियाँ भी मानव को विकास क्रम मे मिली हैं, लेकिन हम मे ऐसी क्षमता है कि हम उनको मोड़कर अपने चरित्र को ऐसा बना सकते हैं जिनसे हमारी चेतना हानिकारक प्रवृत्तियो को रोक सकती है।

मनोविज्ञान की वर्तमान स्थिति मे हम मानव की पूरी क्षमताओ का आकलन नही नही कर सकते है। लेकिन हम यह जानते है कि शारीरिक इन्द्रिय सुखो के अतिरिक्त मानव अधिक गहरा और स्थायी सन्तोप अन्य प्रकार से प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार का सन्तोप विभिन्न प्रकार के भौतिक ज्ञान और सामाजिक ज्ञान को प्राप्त कर बौद्धिक रूप से प्राप्त होता है। नैतिक क्षेत्र मे विभिन्न प्रकार के सामाजिक कार्यों मे भाग लेकर और सौन्दर्य क्षेत्र मे विभिन्न प्रकार की कलाओ मे सृजनात्मक योग देकर व्यक्ति सन्तोप प्राप्त करता है।

मानव जीवन की गुणवत्ता उसके समृद्ध परिमाण पर आश्रित है। जिस जीवन मे भौतिक सुखो पर जोर दिया जाता है और बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्य बोध का अभाव होता है उसे मूल रूप मे समृद्धिहीन जीवन कहा जायेगा। केवल शारीरिक सुख और भोग का जीवन इसलिए निम्नकोटि का नही माना जाता क्योंकि उस प्रकार के जीवन अति तुष्टिलिप्तता और अस्वास्थ्यकर हो जाता है। उसे समृद्धिहीन इसलिए कहा जाता है क्योंकि विविधता और सन्तोप की गहराई

का उसमे अभाव रहता है। जिस व्यक्ति के जीवन में शारीरिक सुख के अतिरिक्त अधिक गहरा और स्थाई सन्तोष उसे बौद्धिक, सौन्दर्यबोध और नैतिक क्रियाकलापों से मिलता है, उसके जीवन को गुणवत्ता की दृष्टि से अच्छा जीवन कहा जायेगा।

जीवन की गुणवत्ता "सादा जीवन और ऊंचे विचार" के सिद्धान्त मे भलीभांति परिभाषित नही है। विमुक्षित बौद्धिक, कलाकार अथवा सामाजिक कार्यकर्त्ता के जीवन को मुश्किल से आदर्शवादी जीवन कहा जा सकता है। वास्तव मे "सादे जीवन" के साथ सादे विचार उत्पन्न हों तो उन्नत विचार उससे उत्पन्न नही होगे। मस्तिष्क के परिष्कार के लिए शरीर को क्षुधित रखना आवश्यक नही है। अच्छे स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मस्तिष्क होता है। अच्छे जीवन के लिए जिस बात की आवश्यकता है वह शारीरिक सुखो और मानसिक सुखों से प्राप्त सन्तोष में न्यायिक समन्वय करता है।

यह विचार यूनानियो के सन्तुलित जीवन के विचार से मिलते-जुलते हैं। उसमे अन्तर केवल यह है कि यूनानी सभ्यता के तथाकथित स्वर्ण युग की तुलना मे अब मानव मस्तिष्क और ज्ञान का बहुत विकास हो चुका है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि शारीरिक सुख की सीमाएँ होती हैं लेकिन मानसिक सुख, सौन्दर्यबोध और नैतिक सन्तोष की कोई सीमा नही है। इसका यह तात्पर्य है कि जब किसी व्यक्ति के जीवन मे शारीरिक सुख अपनी एक सीमा मे पहुँच जाता है तो उसके जीवन को बौद्धिक और मानसिक विकास को अधिक गुणवन्त बनाकर समृद्ध किया जा सकता है।

मानववादी दृष्टिकोण से उसे आदर्श जीवन कहा जायेगा जिसमे व्यक्ति स्वतन्त्र हो, विवेकसम्पन्न और नैतिक आचरण वाला हो और जिसे अपने शारीरिक सुखों को अच्छे आधार पर प्राप्त करने की क्षमता हो और उसके साथ बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्यबोध के द्वारा मानसिक सन्तोष के क्षेत्र को बढ़ाने की क्षमता हो।

यह बात महज अनुरूपता नही है कि आदर्श जीवन का यह विवरण प्राचीन यूनानी जीवन और प्राचीन भारतीय जीवन के आदर्शों के अनुरूप है। यूनानी विचार मे "सत्य, शिव और सुन्दर" का विचार मानव जीवन के बौद्धिक सत्य, नैतिक रूप से कल्याणकारी और सौन्दर्य दृष्टि से सुन्दरता के लक्ष्यो की ओर बढने की प्रवृत्ति मे उपस्थित है। हिन्दू दर्शन मे भी 'सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्" के गुणो पर जोर दिया जाता है। हिन्दू दर्शन का यह दुखान्त है कि उसके आदर्श जीवन के प्रेरणा का स्रोत, इस ससार को असार और मिथ्या बताने वाले वेदान्त के विवाद मे दब गया है। वेदान्त के अनुसार मानव शरीर आत्मा की जेल है

और आत्मा की मुक्ति जीवन-मरण के चक्र से मुक्त होने पर ही प्राप्त हो सकती है।

उपभोक्तावाद और जीवन की गुणवत्ता

ऊपर जीवन की जिस गुणवत्ता का उल्लेख किया गया है वह अविकसित देशो की जनता, जो भुखमरी के स्तर से नीचे अथवा उससे थोड़ा ऊँचा ही जीवन व्यतीत करती है उसके जीवन से उसे प्राप्त नही किया जा सकता। इसके साथ जो बात महत्वपूर्ण है वह यह है कि इन देशो मे सम्पन्न वर्गों के लोग भी सास्कृतिक दृष्टि से अच्छा जीवन यापन नही करते हैं। तेजी से आर्थिक विकास और सापेक्षिक रूप से सांस्कृतिक पिछड़ेपन के मेल से समाज मे बेमेल असन्तुलित उपभोक्तावाद उत्पन्न हो जाता है। ऐसे समाजो मे ऐसी उपभोक्ता वस्तुओ का उत्पादन बढता है जिनकी उपयोगिता नष्ट होने से पहले उन्हें फेंक दिया जाना चाहिए जिससे अन्य उपभोक्ता वस्तुओं का उपभोग किया जा सके और उनके खराब होने से पहले उन्हे भी हटा दिया जाय। पिछडे देशों के सम्पन्न वर्गों मे यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि वे उपभोक्ता सामग्री का सचय अपनी आवश्यकताओं से अधिक करते हैं दूसरी ओर सामान्य लोग उनसे वचित रहते है। ऐसे सम्पन्न लोगो मे नशीली वस्तुओं के उपयोग की आदत और हिप्पी सम्प्रदाय अथवा प्राच्य देशो के प्राचीन व्यवहार पद्धति को अपनाने मे दिखाई देती है। पश्चिमी देशो मे भी इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं।

यह आशा की जानी चाहिए कि पिछड़े देशों मे इस प्रकार की असन्तुलित उपभोक्तावादी संस्कृति को विकसित करने का प्रयास नही किया जायेगा। इसको तो सौभाग्य ही कहा जायेगा कि इन देशो मे ऐसी स्थिति उत्पन्न न हो। अमरीका मे जहाँ की आबादी भारत की आबादी से एक तिहाई और चीन की आबादी से एक चौथाई से कम है, में उपभोक्ताओ मे असन्तुलित उपभोग के कारण संसार के पुन: प्रयोग मे न लाये जा सकने वाले प्राकृतिक साधनों को बरबाद किया जा रहा है। यदि भारत, चीन और दूसरे विकासशील देश अमरीका के तौरतरीके अपनाये तो ससार के प्राकृतिक साधन इनके विकास मार्ग के आधे रास्ते पर पहुँचने के पहले समाप्त हो जायेगे। यदि तीसरे विश्व के देश उस रास्ते पर न चल सकें तो इससे कोई विपत्ति नही आ जायेगी। जीवन को उन्नत और गुणवन्त बनाने के लिए, चाहे वह विकसित देशो मे हो अथवा विकासशील देशों मे, आर्थिक सम्पन्नता के अतिवाद को अपनाने की आवश्यकता नही है। पिछड़े देशों मे आर्थिक विकास निर्विवाद रूप से आवश्यक है लेकिन उसके साथ ही विकास की

संस्कृति का विकास भी आवश्यक है। मानववादी पुनर्जागरण विकासवान और विकासशील दोनों प्रकार के देशों के लिए आवश्यक है।

स्वतन्त्र समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता

सामान्य नियम के अनुसार मानव-व्यक्ति अपने जीवन को आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रतिबन्धो से मुक्त करने का प्रयास करता है जिसके द्वारा वह अपनी क्षमताओ का विकास कर सके और स्वतन्त्र समाज की स्थापना कर सके, जिसमें सभी व्यक्ति–स्त्री-पुरुष स्वतन्त्र और नैतिक हो। सामान्य रूप से इस बात की सम्भावना नही है कि एक व्यक्ति समाज के अपने अन्य सहयोगियो से अलग रह कर अपने जीवन को गुणवन्त बनाले और अपनी स्वतन्त्रता की इच्छा को सन्तुष्ट कर सके। यह बात विकासशील देशो के लोगों पर खासतौर से लागू होती हैं।

अविकसित समाज के वंचित वर्ग का व्यक्ति अपने ऐसे व्यक्तियो के साथ समाज का बहुसंख्यक भाग बनाता है। ऐसा व्यक्ति प्रचलित आर्थिक व्यवस्था मे लाभप्रद रोजगार पाने मे कठिनाई का अनुभव करता है। समाज मे ऐसे लोग नीचे स्तर मे रहते है। उसे अधिनायकवादी प्रवृति के लोग और निरकुश लोगो का सामना करना पडता है और व्यवस्था समाज के आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धो को यथावत् रखने का समर्थन करती है। आर्थिक उन्नति और सास्कृतिक प्रगति की दिशा मे बढने के लिए उसे निश्चय पूर्वक और सहयोगात्मक प्रयास करने की की आवश्यकता है तभी वह अपनी आर्थिक स्थिति को सुधार सकता है। विकासशील देशों मे ऐसे कुछ भाग्यशाली लोग है जिनकी आर्थिक स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से कुछ अच्छी है और उनमे नैतिक सवेदनशीलता भी होती है जो दुखी, गरीब और सास्कृतिक रूप से पिछडे लोगो मे भिन्न स्तरो पर होती है। उन्नत लोगा का यह नैतिक कर्तव्य है कि वे समाज मे व्याप्त यथावत स्थिति बदलने के प्रयास मे सहयोग करें।

सम्पन्न और समृद्ध समाजो मे भी असन्तोष के बहुत कारण होते हैं यद्यपि भौतिक दृष्टि से वहाँ सम्पन्नता दिखायी देती है। इनके होते हुए भी वहाँ भी गरीबी और पिछड़ेपन तथा सास्कृतिक पतन के क्षेत्र होते हैं, बड़ी सख्या मे लोग वेकार होते हैं और वहाँ भी असमानताएँ हैं जिनके कारण वहाँ की आर्थिक व्यवस्था भी रोगग्रस्त ही कही जायेगी। इसके अलावा वह उपभोक्तावाद के अतिवादी रूप के साथ सांस्कृतिक दरिद्रता से निराशा उत्पन्न होती है और अनेक प्रकार की सामाजिक बुराईयाँ पैदा होती है जिनका सकेत ऊपर किया जा चुका है। सम्पन्न

समाज मे भी व्यक्ति के अपने लिए और अपने समाज के अन्य लोगो के लिए अच्छा जीवन प्राप्त करने का प्रयास सामाजिक क्षेत्र मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता की आकाक्षा की अभिव्यक्ति है।

मौलिक मानववादी दर्शन मे व्यक्तिगत दर्शन उसे समाज के अपने अन्य बन्धुओ से निष्ठापूर्वक जोड़ती है।

चौथा खण्ड : सामाजिक दर्शन

आदर्श समाज

सामाजिक दर्शन के इस भाग के पहले चार अध्यायों मे (अध्याय 12 से 15 तक) मौलिक मानववाद के सामाजिक लक्ष्यो का उल्लेख किया जायेगा और अन्तिम दो अध्यायो (अध्याय 16 और 17) मे उन सिद्धान्तों की समीक्षा की जायेगी, जिनके द्वारा आदर्श समाज के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकेगा। व्यावहारिक दृष्टि से अन्तिम अध्यायो का महत्व अधिक है, लेकिन उन पर विचार करने के पूर्व सामाजिक लक्ष्य को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। लक्ष्यो को किस प्रकार प्राप्त किया जाय, यह बताने के पहले लक्ष्य का स्पष्ट होना जरूरी है।

सामाजिक जीवन का आधारभूत मूल्य

मौलिक मानववादी और नवमानववादी इस विचार के है कि सामाजिक लक्ष्य को उन अभीष्ट मानवमूल्यो के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए जिनको हम अपने सामाजिक जीवन मे प्राप्त करना चाहते हैं। हमारे लक्ष्य सस्थाओं के रूप मे भी निहित होनें चाहिए जो मानव मूल्यो की प्राप्ति में सहायक भी हो।

ससदीय लोकतन्त्र की राजनीतिक संस्याएँ और राष्ट्रीयकृत आर्थिक संस्थाओ से कुछ सामाजिक मूल्यो के प्राप्त होने की सम्भावना होती है। व्यवहार मे इस प्रकार की संस्थाएँ अभीष्ट मूल्यो को प्राप्त करने में माध्यम के रूप मे अनुपयुक्त होती है। सामाजिक लक्ष्य को परिभाषित करने में नैतिक मूल्यों पर जोर दिया जाना चाहिए न कि सामाजिक संस्थाओ पर।

इस अध्याय के अन्त मे हम नैतिक मूल्यों और सामाजिक संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धो पर विचार करेंगे। हमें उन नैतिक मूल्यों को पहचानना चाहिए जिनके द्वारा मौलिक मानववाद के अनुसार सामाजिक लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

समाज केवल प्राणीगत इकाई नही है। उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र चेतना नही होती है, वह स्वतः किसी नैतिक मूल्य का चयन नहीं करतो है। सभी नैतिक मूल्य मानव द्वारा अनुभव किये जाते है और वह उन्हें प्राप्त करने की इच्छा को पसन्द करता है। आदर्श समाज मे जो नैतिक मूल्य निहित माने जाते है वे भी

मानव के अभीष्ट होते हैं और वे सहयोगी ढग से सभी की भलाई की भावना को प्रोत्साहित करते हैं।

हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व मौलिक मानवमूल्य है, जो सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक है। मौलिक मानववाद के सामाजिक लक्ष्य में इन मूल्यो का व्यावहारिक पालन किया जाना चाहिए।

हमने यह देखा है कि स्वतन्त्रता मौलिक मानव मूल्य है। मानव जीवन मे उसके अस्तित्व के प्राणीगत सघर्ष स्वतन्त्रता के सघर्ष का रूप ले लेता है। स्वतन्त्रता का अर्थ है कि मानव मे अपनी शारीरिक आवश्यकताओ को पूरा करने की क्षमता और योग्यता हो और वह अपनी मानसिक आकांक्षाओ को पूरा करने मे समर्थ हो। उसमे यह बात भी निहित है कि उसकी नयी-नयी क्षमताओ पर लगे सभी प्रतिबन्ध समाप्त हो। मानव समाज मे रहता है अतः उसको अपनी स्वतन्त्रता को अन्य लोगो के सहयोग से पूरा करने का प्रयास करना चाहिए। किसी भी प्राणी मे समूह अथवा समुदाय मे रहने की सहज इच्छा उत्पन्न न होती यदि वह उस जाति के प्राणियो की जीवन रक्षा मे सहायक न होता। समुदाय का आधार ही यह है कि उसमे व्यक्ति के अस्तित्व की रक्षा होती है। इसका तात्पर्य यह है कि मानव समाज का उद्देश्य भी यही है कि उसमे व्यक्तियो की स्वतन्त्रता हो। स्वतन्त्रता की आवश्यकता और उसमे निहित नैतिक मूल्य, व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लक्ष्य को पूरा करने के लक्ष्य से पैदा होते है। इस प्रकार सामाजिक अस्तित्व को मानव की स्वतन्त्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक होना चाहिए।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि सभी व्यक्तियो मे स्वतन्त्रता की आकांक्षा उसके अस्तित्व के लिए किये गये संघर्ष और प्राणीगत विकास से उत्पन्न होती है अतः समाज के व्यक्तियो के लिए वह अभीष्ट हो जाती है। समाज के अस्तित्व का लक्ष्य यह नही हो सकता कि वह कुछ लोगो की स्वतन्त्रता की रक्षा करे और दूसरो की स्वतन्त्रता की उपेक्षा करे। समाज मे समानता का अर्थ उसके सभी व्यक्तियों को स्वतन्त्रता दिलाने के समान अवसर प्रदान करना है अतः यह भावना सामाजिक जीवन का मूल तर्क है। समाज को अपने सभी व्यक्तियो की शारीरिक आवश्यकताओ और मानसिक आकांक्षाओ को पूरा करने के समान अवसर प्रदान करने चाहिए। इस प्रकार सामाजिक अस्तित्व के लिए समानता दूसरे महत्वपूर्ण स्थान का नैतिक मूल्य है।

तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि समाज मे व्यक्ति को स्वतन्त्रता उसी दशा में प्राप्त हो सकती है जब वह कुछ नैतिक नियमों का पालन करे। स्वतन्त्रता और नैतिकता दोनों को एक साथ रहना चाहिए। नैतिकता से सहयोगात्मक सामाजिक

अस्तित्व को प्रोत्साहन मिलता है अतः सामाजिक जीवन को विवेकशील व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे सहायक होना चाहिए उस पर प्रतिबन्ध लगाने मे नही। हमने यह बात देखी है कि प्राणीगत विकास-क्रम के युग मे मानव प्राणियो में कुछ "सामाजिक" सहज इच्छाएँ उत्पन्न हुई जो नैतिक मूल्यो का आधार बनी। इस प्रकार नैतिक मूल्य उसे अपने विकास क्रम के उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए हैं। जब व्यक्ति अपनी सहज इच्छाओं और गुणो के अनुसार कार्य करता है तो उसे अपने लिए सन्तोष प्राप्त होता है चाहे उसका कार्य परोपकार के लिए किया गया कार्य ही क्यो न हो। नैतिकता उदार और उदात्त आत्महित माना जाता है। किसी भी समाज मे व्यक्तियो की स्वतन्त्रता को समानता के आधार पर तब तक प्रोत्साहित नही किया जब तक वह नैतिक आचरण की परम्परा विकसित न कर ले। इस व्यवहार को भ्रातृत्व अथवा भाईचारे के व्यवहार का आधार कहा जा सकता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन से तीसरा मौलिक नैतिक मूल्य "भ्रातृत्व" है।

स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व सामाजिक जीवन के आधारभूत नैतिक मूल्य हैं। यह भी केवल आकस्मिक घटना नही है कि यह आधारभूत नैतिक मूल्य लोकतन्त्र मे भी निहित है। फ्रासीसी राज्यक्रान्ति के समय से स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व लोकतन्त्र के प्रेरणा के स्रोत घोषित किये जा चुके है।

इससे भी अधिक यही नैतिक मूल्य समाजवाद के आधारभूत नैतिक मूल्य है। यदि समाजवाद को केवल आर्थिक सगठन न माना जाय और उसे नैतिक मूल्यों के रूप मे देखा जाय तो उक्त बात ही सिद्ध होती है। यह आधुनिक प्रवृत्ति विकसित हुई है जिसमें लोकतन्त्र के आधारभूत नैतिक मूल्यो को आर्थिक जीवन मे प्राप्त करने को "समाजवाद" परिभाषित किया जाता है। लोकतन्त्र और समाजवाद मे राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रो मे समान नैतिक मूल्यों को माना जाता है, इसका कारण यही है कि सामाजिक जीवन का आधार यही नैतिक मूल्य है।

ये नैतिक मूल्य सामाजिक जीवन के तर्क पर आश्रित है अतः सभी सामाजिक सस्थाओ के लिए इन्हें प्रेरणा का स्रोत माना जाना चाहिए। परिवार के सदस्यो के पारस्परिक सम्बन्धो मे भी स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के मूल्यो का पालन किया जाना चाहिए। उनका पालन सभी अन्य सामाजिक संगठनो और सास्कृतिक संस्थाओं मे किया जाना चाहिए।

बहुआयामी लोकतन्त्र

जैसा हम कह चुके हैं कि लोकतन्त्र केवल एक राजनीतिक सगठन नही है वरन्

वह एक जीवनपद्धति मानी जानी चाहिए। इस दृष्टि से जिस समाज में स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के मूल्यों को अपनाया जाता है उसे लोकतान्त्रिक समाज कहा जा सकता है। मौलिक मानववाद इस अर्थ में विस्तृत रूप से लोकतान्त्रिक समाज को प्रोत्साहित करना चाहता है।

इस प्रकार का लोकतन्त्र बहुआयामी होगा। उसमें राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था और समाज मे स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के मूल्यो को साकार रूप प्रदान कर जनता की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक आकांक्षाओ की पूर्ति की जायेगी। समाजवाद मे इस प्रकार के बहुआयामी लोकतन्त्र के अन्तर्गत आर्थिक क्षेत्र मे उक्त मूल्यो को लागू किया जायेगा।

मौलिक मानववाद के व्यक्तिगत दर्शन के प्रश्न पर विचार करते समय हमने इन मूल्यो पर विचार किया था। सामाजिक दर्शन पर विचार करते समय यह आवश्यक है कि उनके सामाजिक महत्व पर विचार किया जाय।

स्वतन्त्रता–सामाजिक दृष्टि में

हम यह देख चुके है कि प्रत्येक व्यक्ति मे स्वतन्त्रता प्राप्ति की आकांक्षा होती है और वह मानव के रूप मे अपनी क्षमता पर लगे सभी प्रतिबन्धो से अपने को मुक्त कराना चाहता है। दूसरे शब्दों मे, समाज मे किसी व्यक्ति को नियमों और कानून तथा न्याय से ऊपर नही माना जाना चाहिए। समाज का मुख्य उद्देश्य अपने सभी व्यक्तियो की स्वतन्त्रता को बढाना होना चाहिए। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन मे इनके भिन्न कर्त्तव्य होते है।

राजनीतिक क्षेत्र मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए सबसे पहली जरूरत इस बात की है कि राज्य और उसके अधिकारी मनमाने ढग से किसी व्यक्ति पर अपना अधिकार न थोपें। समाज मे विधिसम्मत न्याय और कानून होने चाहिए और किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियो के समूहो को कानून से ऊपर नही माना जाना चाहिए। विधिसम्मत न्याय के लिए जहाँ यह आवश्यक है कि सभी व्यक्ति कानून का पालन करें उसके साथ ही यह भी जरूरी है कि देश का कानून तर्क सगत और न्यायपूर्ण हो। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति के नागरिक अधिकार जैसे अभिव्यक्ति का अधिकार, संघ बनाने और सभा करने का अधिकार और कानून के समक्ष सभी व्यक्तियों की समानता हो और राज्य की ओर से इन अधिकारो की सुरक्षा की व्यवस्था हो। इसके अतिरिक्त राजनीतिक अर्थ मे स्वतन्त्रता का अर्थ है कि प्रत्येक बालिग व्यक्ति को अपने देश के प्रशासन मे हिस्सा लेने का अधिकार हो, जिससे वह अपने राज्य की नीतियो को निश्चित करने मे हिस्सा ले सके और उनके परिपालन के सम्बन्ध मे आश्वस्त हो।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता का एक अनिवार्य रूप यह है कि उसमे चेतना की स्वतन्त्रता होती है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता केवल धर्मनिरपेक्ष राज्य मे सम्भव होती है। चेतना की स्वतन्त्रता का अर्थ है कि न केवल प्रत्येक व्यक्ति अपनी चेतना की स्वतन्त्रता का दावा करे वरन् वह उसके अनुसार आचरण करे और उसका प्रचार करे। यह भी आवश्यक है कि जो व्यक्ति धर्म मे विश्वास नही करता है उसे अपनी आत्मचेतना के अनुसार आचरण करने और उसके प्रचार की स्वतन्त्रता हो। धर्मनिरपेक्ष राज्य के सम्बन्ध मे कभी-कभी गलत ढग से उसका यह अर्थ किया जाता है कि राज्य की ओर से सभी धर्मों का समान रूप से आदर किया जाना चाहिए। जो राज्य हिन्दू मन्दिर, मुस्लिम मस्जिद, ईसाई गिरजाघर और सिख गुरुद्वारा के निर्माण के लिए उदारता से धन देता है वह धर्मनिरपेक्ष राज्य नही है। धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के अनुसार राज्य को किसी धर्म के मामलों मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए और न किसी धर्म को राज्य के मामलों मे हस्तक्षेप करने का अवसर देना चाहिए। इस प्रकार के धर्मनिरपेक्ष राज्य मे विश्वास और आत्मचेतना की सच्ची स्वतन्त्रता सम्भव होगी जिसमे आस्तिक और नास्तिक दोनो प्रकार के लोगो की इस स्वतन्त्रता की रक्षा की जा सकेगी।

आर्थिक क्षेत्र मे स्वतन्त्रता का अर्थ है कि व्यक्ति को अपने और अपने आश्रितों के लिए अच्छा जीवन प्राप्त करने के लिए साधन उपलब्ध करने की स्वतन्त्रता हो। इसकी पहली शर्त है कि वह शोषण से मुक्त हो। इस प्रकार की स्वतन्त्रता के लिए बड़े उद्योगो के राष्ट्रीयकरण और सहयोगी अर्थव्यवस्था का विकास करके उत्पादन की व्यवस्था की जाय। जिन उद्योगों मे व्यक्तिगत स्वामित्व हो उन पर भी सामाजिक नियन्त्रण रखा जाय। आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता और क्षमता के अनुसार लाभप्रद रोजगार स्थापित करने और उसको चलाने के लिए हर प्रकार की सहायता दी जाय। व्यक्तियों की आर्थिक स्वतन्त्रता को ध्यान मे रखकर आर्थिक नियोजन करने की आवश्यकता है।

प्रकार का प्रतिबन्ध नही होना चाहिए। इसके लिए एक ही अपवाद है कि सार्वजनिक हित को ध्यान मे रखकर ही प्रतिबन्ध लगाये जा सकते है।

समानता का विचार

सामाजिक अस्तित्व के तर्क के अनुसार प्रत्येक समाज मे उसके सभी व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए समान अवसर उपलब्ध होने चाहिए। सभी व्यक्तियो को बुद्धि, योग्यता, रुचि, काम करने की क्षमता तथा सामर्थ्य के भेदभाव के बिना समान अवसर मिलने चाहिए। समाज मे बुद्धि, विवेक, नैतिकता और कलात्मक उपलब्धियो का ध्यान रखना आवश्यक होगा। समानता के सिद्धान्त का यह अर्थ नही होगा कि गणित के आधार पर समानता को लागू किया जा सके वरन् आर्थिक कल्याण, राजनीतिक महत्त्व और सामाजिक विशिष्टता को ध्यान मे रखकर समानता के सिद्धान्त को लागू किया जा सके।

आर्थिक क्षेत्र मे समानता के सिद्धान्त को लागू करने का यही अर्थ है कि व्यक्ति को अच्छे जीवन को प्राप्त करने के लिए समान अवसर उपलब्ध कराये जायें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्ति की शिक्षा, प्रोद्योगिक शिक्षा उसके परिवार की आर्थिक क्षमता अथवा राजनीतिक शक्ति पर आश्रित न हो और न धर्म, वर्ण, जाति, लिंग और जन्म-स्थान के विचार से प्रभावित हो। आर्थिक समानता प्राप्त करने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि लाभप्रद रोजगार पाने के अवसर समान रूप से सभी व्यक्तियो को उनकी योग्यता और क्षमता के अनुरूप दिलाये जायें और उनके परिवार के धनी होने अथवा उसके राजनीतिक प्रभाव पर विचार न किया जाय। व्यवहार मे जब तक सम्पति और प्रभाव का अन्तर कायम है, उन पर प्रतिबन्ध लगाकर सभी को शिक्षा और रोजगार के समान अवसर दिलाने का प्रयास किया जाना चाहिए, जिससे निर्धन और निर्बल वर्ग के लोगो पर आर्थिक एव राजनीतिक अन्तर का कुप्रभाव न पड सके। अत: यह आवश्यक है कि योग्यता और समझबूझ को आर्थिक लाभ दिलाया जाना चाहिए और विभिन्न प्रकार के कार्यों की आमदनी की असमानता को सीमित किया जाना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि राजनीतिक सत्ता कुछ हाथो मे सीमित न रहे।

राजनीतिक समानता का अर्थ है कि राजनीतिक सत्ता का अधिक से अधिक विस्तार किया जाय। राजनीतिक सत्ता और कार्यविधि के विकेन्द्रीकरण के द्वारा सत्ता पर जनता के नियन्त्रण को बढ़ाया जा सकता है। जिन व्यक्तियो मे राजनीतिक अभिरुचि और योग्यता हो उन्हे राजनीतिक पद मिलेंगे, लेकिन ध्यान इस बात का रखा जाना चाहिए कि सत्ता का केन्द्रीकरण कुछ हाथो मे सीमित न रहे।

सामाजिक क्षेत्र मे समानता के लिए समाज मे व्यक्ति की प्रतिष्ठा को समान आदर देना जरूरी है। मानव की प्रतिष्ठा और मर्यादा की स्वीकृति के आधार पर ही इस प्रकार की परम्पराएँ विकसित की जा सकती है जिसमें धर्म, जाति, वर्ण, लिंग, आयु और जन्म-स्थान के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाय।

भाईचारे की भावना: नैतिक समस्या

वर्तमान समय मे ससार नैतिक संकट से होकर गुजर रहा है। यह संकट अधिक गम्भीर इसलिए हो गया है कि नैतिक स्तरो मे गिरावट आ गयी है। इन गिरे नैतिक स्तरो की तुलना मे प्रौद्योगिक दृष्टि से उन्नत समाज के लिए ऊँचे नैतिक स्तर की आवश्यकता है।

हम पहले ही अध्याय दस मे यह कह चुके हैं कि इस समय ससार मे नैतिक स्तर का ह्रास हो गया है और ससार के अधिकांश भाग मे लोगो का धार्मिक विश्वास भी घटा है। फिर भी यह बात सही नही है कि वर्तमान युग मे नैतिक स्तर पहले के युगो की अपेक्षा नीचे हो गये हैं। यह भी सही नही है कि धर्म के कारण नैतिक स्तर ऊँचा रहता है। मध्य युग के इतिहास से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि धार्मिक विश्वास और मानव के नैतिक स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पडा था। समाज मे धार्मिक कट्टरपन से अनैतिक आचरण ही बढे थे। जीवन मे तपस्या और आत्मनिरोध के सिद्धान्तो के सहारे धर्म ने तत्कालीन समाज में व्याप्त शोषण और दमन को व्यवस्था का समर्थन किया था। वर्तमान नैतिक पतन का कारण धर्म में विश्वास की कमी नही है।

आधुनिक समाज मे नैतिक पतन इसलिए दिखाई दे रहा है क्योंकि प्राद्योगिक रूप से विकसित समाज मे सामन्तयुगीन अथवा अर्धसामन्तयुगीन ग्रामीण व्यवस्था की तुलना मे अधिक उन्नत और उदार नैतिकता की आवश्यकता है। अपने गाँव और अपनी जाति के लोगो के प्रति नैतिक आचरण आसानी से किया जा सकता है बजाय विभिन्न देशों और दूर के देशो के निवासियो के साथ नैतिक आचरण के। आधुनिक उद्योगपति, जो अपनी उत्पादित वस्तुओं को दूसरे दूर देशों को भेजता है उसे अपनी वस्तुओ की गुणवत्ता बनाये रखने के लिए ऊँचे स्तर का नैतिक आचरण की जरूरत है। गाँव के कारीगर द्वारा जो सामान तैयार किया जाता है वह अपने मित्रों और पड़ोसियो के उपभोग के लिए उन्हें देता है, उसमे ऊँचे नैतिक स्तर की चाहे उतनी आवश्यकता न पडे। आज के नैतिक मूल्यों को स्थानीय अथवा क्षेत्रीय न होकर उनके सार्वभौमिक होने की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन की जटिलताओ के कारण नैतिक मूल्यो का पालन अधिक अव-

सरो पर और अधिक विविध प्रकार से, आवश्यक हो जाता है। आधुनिक समाज में लोभ और समाजविरोधी आचरण के अधिक अवसर आते है जितने अवसर पहले नही होते, जो प्रौद्योगिकी के विकास के साथ बढ़ गये हैं।

नैतिक अपर्याप्तता का एक अन्य कारण भी है। व्यक्तिवाद और सामन्तवाद के बाद के समाज मे विचार स्वातन्त्र्य बढ़ा है। पुराने समाज के अभिभावक और सन्तान, अध्यापक और छात्र के सम्बन्ध अब शिथिल पड़ गये है। माता-पिता, अभिभावक और अध्यापक अपनी सन्तानों और छात्रो के चरित्र को पहले की भाँति प्रभावित नही कर पा रहे है।

धार्मिक विश्वास की पुनःस्थापना से नैतिक स्तर को ऊँचा नही उठाया जा सकता। माता-पिता और अध्यापक के नैतिक अधिकार को भी अब फिर से कठोर नहीं बनाया जा सकता और न उनके प्रभाव को पहले जैसा बनाया जा सकता है जब तक कि माता-पिता और अध्यापको का नैतिक स्तर ऊँचा न किया जाय। अब प्रौद्योगिक प्रगति की प्रक्रिया को उलटी दिशा मे नही ले जाया जा सकता और न प्राचीन काल की भाँति जीवन को सरल बनाया जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान नैतिक सकट का हल दिखाई नहीं देता है। हमारा कहना है कि धर्म-निरपेक्ष मानववाद के अनुसार इस संकट को सुलझाया जा सकता है।

हमने पिछले अध्याय दस मे यह देखा है कि तर्क और नैतिकता मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। तर्क के द्वारा व्यक्ति अपने नैतिक आचरण को ऊँचा उठा सकता है और अपना चरित्र भी अच्छा बना सकता है। इसी प्रकार विवेकवाद के प्रसार से समाज मे व्याप्त पाखण्ड, रूढि और सामाजिक कुरीतियो का पर्दाफाश किया जा सकता है और प्रचलित नैतिक स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है। मध्य-युगीन यूरोप की अनैतिकता को तर्क के विकास से नष्ट किया गया था। तर्क के आधार पर नवीन ज्ञान उदय होता है। यही कारण है कि 18 वी शताब्दी के यूरोप को 'तर्क का युग' अथवा 'नवज्ञान का युग' कहा जाता है। मौरिस जिस-वर्ग ने तर्क और नैतिकता के घनिष्ठ सम्बन्ध पर जोर दिया है। वह कहता है :—

"मुझे प्रगति के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह बात अनिवार्य लगती है कि ऐतिहा-सिक विकास क्रम मे मानव शनैः शनैः पहले से अधिक विवेकशील बना और मानव जितना विवेकशील बनता जाता है उसी की तुलना मे वह नैतिक होता जाता है।" (मौरिस जिसवर्ग का लेख 'ए ह्यूमनिस्ट व्यू आफ हिस्ट्री', 'दि ह्यूमनिस्ट फ्रेम' नामक पत्रिका मे प्रकाशित, सम्पादक सर जूलियन हक्सले)।

वर्तमान नैतिक सकट से उबरने के लिए आज जिस बात की आवश्यकता है वह है विवेकवाद की पुनर्स्थापना। विज्ञान के प्रसार से उत्पन्न विवेकवाद और उसके बाद उदार युग मे उसकी शक्ति क्षीण हो गयी क्योकि सशयवाद की चुनौतियो का वह सामना करने मे विफल रहा। उस समय तक के उपलब्ध ज्ञान के आधार पर तर्क की उत्पत्ति की व्याख्या नही की जा सकी। ह्यूम ने इस सम्बन्ध मे शका उठायी कि 'कारण' केवल मानव मस्तिष्क की उपज तो नही है और क्या इस बात का कोई आधार है कि उसे प्रकृतिदत्त माना जाय। प्रकृतिजन्य तर्क उदारवाद का केन्द्रीय स्तम्भ था। ह्यूम की शका का निवारण उस समय तक नही हुआ जब तक कि डारविन ने प्राणीगत विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जिसके द्वारा यह स्थापित किया गया कि प्राणियो द्वारा प्रकृति के अनुकूल बनने की सहज प्रक्रिया के आधार पर कारण-कार्य निश्चयवाद के विकास को प्रकृति मे देखा जा सकता है। विकास के विज्ञान और सिद्धान्त के आधार पर तर्क को मानव-ज्ञान का माध्यम माना गया और उसको फिर केन्द्र मे प्रतिष्ठित किया गया। इससे भी अधिक विकास के सिद्धान्त से इस बात का प्रतिपादन किया गया कि न केवल तर्क वरन् मानव मे नैतिकता का विचार भी विकासक्रम मे मानव को विरासत मे मिला है। ऐसी स्थिति मे वर्तमान नैतिक मूल्यों को सुधारने के लिए धर्म मे पुनः आस्था उत्पन्न करने की हमे आवश्यकता नही है। मानव के प्राणीगत विकास की विरासत मे उसमे जो नैतिक सवेदनशीलता है उसको स्थिर रखकर और उसे सुदृढ करके तर्क की सहायता से हम आधुनिक युग के प्रौद्योगिक विकास से उत्पन्न नैतिक सकट को दूर कर सकते है।

समाज मे तर्क के विकास से नैतिक स्तर को भी ऊँचा किया जा सकता है और पाखण्ड और कुरीतियो का भडाफोड करके ज्ञान का प्रसार किया जा सकता है और साथ ही सामान्य जनता को अपने पैरो पर खडा करके मानव की प्रतिष्ठा को सुदृढ़ किया जा सकता है। इसके साथ ही उन शक्तियों को चुनौती दी जा सकती है जो मानव का शोषण और दमन करती है। आज विश्वव्यापी ऐसे नैतिक आन्दोलन की आवश्यकता है जिसका आधार विवेकवाद हो।

विवेकवाद और नैतिकता के आन्दोलन को सुदृढ बनाने के लिए शिक्षा मे नैतिक शिक्षा को शामिल करने की आवश्यकता है। नैतिक शिक्षा धार्मिक अथवा धर्मनिरपेक्ष सिद्धान्तवाद के आधार पर नही दी जानी चाहिए। उसके द्वारा छात्रों और युवको मे नैतिक सवेदनशीलता उत्पन्न करने का प्रयास किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे हम आगे भी विचार करेंगे।

नैतिकता की अपर्याप्तता का प्रभाव जीवन के विभिन्न रूपो पर पड़ता है। राज-

नीति में उससे भ्रष्टाचार उत्पन्न होता है और सिद्धान्तहीन सत्ता की राजनीति का प्रसार होता है। आज कोई भी देश भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं है यद्यपि वह अन्य देशों की अपेक्षा तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों में अधिक व्याप्त है। (कम्युनिस्ट देश भी भ्रष्टाचार से अछूते नहीं हैं। देखिए "पोलिश इम्प्रैशस" लेखक-निखिल चक्रवर्ती-"मेनस्ट्रीम साप्ताहिक," 7 जून, 1981। इस लेख में लेखक ने कम्युनिस्ट शासित पोलैण्ड में व्याप्त भ्रष्टाचार का उल्लेख किया है) आर्थिक क्षेत्र में नैतिकता की अपर्याप्तता, निजी उद्योगों में श्रमिकों के शोषण और सार्वजनिक उद्योगों, में प्रबन्धीय लापरवाही में और निजी तथा सार्वजनिक उद्योगों, दोनों के कर्मचारियों में काम न करने और काम से बचने की प्रवृत्ति में देखा जा सकता है। नैतिक अपर्याप्तता सामाजिक जीवन और वैयक्तिक सम्बन्धों को भी प्रभावित करती है। कोई राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक समस्या इस समय ऐसी नहीं है जिसको नैतिकता के वर्तमान स्तर से सुधारा जा सके।

बीसवीं शताब्दी का नवजागरण

हमने ऊपर कहा कि आदर्श समाज में बहुआयामी लोकतन्त्र के आधार पर विकसित होना चाहिए जिसमें स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के नैतिक मूल्यों का पालन दैनिक जीवन में किया जाय। यही नैतिक मूल्य (स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व) फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के समय से लोकप्रिय है। उनका विकास नवजागरण, सुधार आन्दोलन और नये ज्ञान के आन्दोलन की पृष्ठभूमि में यूरोप में हुआ था। इन मूल्यों का आधार उस समय विज्ञान नहीं था। इसी कारण कालान्तर में वे मूल्य कमजोर पड़ गये और उनका प्रभाव समाप्त हो गया। व्यक्ति की स्वतन्त्रता की भावना व्यक्ति की निस्सहायता के प्रभाव में शिथिल हो गयी। विवेकवाद के स्थान पर विभिन्न अविवेकी सिद्धान्तों ने स्थान ले लिया। धार्मिक विश्वास के अतिरिक्त नैतिकता का कोई अन्य आधार नहीं समझा गया। इसके परिणामस्वरूप संसार के अनेक देशों में अधिनायकवादी शासन स्थापित हो गये और जहाँ लोकतन्त्रात्मक व्यवस्थाएँ भी है वे कमजोर हैं और अवास्तविक है।

ऐसी परिस्थिति में संसार के किसी भी हिस्से में बहुआयामी लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था की रचना तब तक असम्भव है जब तक स्वतन्त्रता और नैतिकता के मूल्यों की विज्ञान के आधार पर पुष्टि न की जाय। विज्ञान की यह पुष्टि सत्य है और अन्त में सत्य की ही विजय होगी।

आधुनिक विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मानव में स्वतन्त्रता की आकांक्षा है और उसका विवेक और उसकी नैतिक भावना उसे प्राणीगत विकास क्रम से विरासत में मिली है। इस पर हम अध्याय 8, 9 और 10 विचार कर चुके है।

यह उसके लिए प्राकृतिक और स्वाभाविक रूप से सही है कि वह स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रयास करे। इस संघर्ष में उसकी विजय के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी तर्कशक्ति, विवेक और स्वतः उत्पन्न नैतिकता का उपयोग करे। तर्क के द्वारा वह स्वतन्त्र और नैतिक दोनों ही हो सकता है। इसके लिए संसार भर में वैज्ञानिक मानववाद के प्रसार के लिए आन्दोलन करने की आवश्यकता है।

नैतिक मूल्य और सामाजिक संस्थाएँ

हम इस बात को पहले स्पष्ट कर चुके है कि सामाजिक आदर्श को परिभाषित करने मे नैतिक मूल्यो पर जोर दिया जाना चाहिए न कि सामाजिक संस्थाओ पर। इस बात को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। मूल्यों पर अधिक जोर देने की बात को ठीक से समझने के लिए यह जरूरी है कि सामाजिक संस्थाओं से उनके सम्बन्धो को समझ लिया जाय। नैतिक मूल्यो मे मानव के वे आदर्श निहित है और संगठन तथा संस्थाओ के द्वारा उनको कार्यान्वित करने की अपेक्षा की जाती है। राजनीतिक लोकतन्त्र के उदाहरण मे यह कहा जाता है कि इनकी संस्थाओ से राजनीतिक स्वतन्त्रता और समानता की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार समाजवाद मे संस्थाओं के भिन्न स्वरूपो से आर्थिक स्वतन्त्रता और समानता को उपलब्ध करने का प्रयास किया जाता है। नैतिक मूल्य प्रेरणा का मुख्य स्रोत है जिनको संस्थाओ के द्वारा मूर्तरूप प्रदान किया जाता है।

सामाजिक आन्दोलन के किसी भी आदर्श को नैतिक मूल्यों के आधार पर परिभाषित करने के दो कारण हैं जो संस्थाओ के सम्बन्ध मे लागू नही किये जाते हैं।

पहली बात तो यह है कि संस्था की उपयोगिता उसको चलाने वाले लोगों और जिन लोगो मे उसको चलाया जाता है उन सब लोगों पर आश्रित है। यदि संस्था को चलाने वाले लोग संस्था के नैतिक मूल्यो का आदर नही करते है तो ऐसी संस्था निष्प्रयोजन हो जायेगी। यदि उसके मूल्यों को सम्बन्धित लोग सीमित रूप से मानते है तो संस्था की उपयोगिता उस सीमा तक सीमित रह जायेगी। सत्य यह है कि संस्था स्वय नैतिक मूल्यों की रचना नही करती है जिसको वह लक्ष्य की भांति प्राप्त करने का प्रयास करे। यदि संस्था जिन लोगों मे काम करती है, जो नैतिक मूल्यों का पालन करते हैं तो संस्था के द्वारा उन नैतिक मूल्यो को सुदृढ़ करने और उनका विकास करने मे सहायता मिल सकती है। मूल्यो के सम्बन्ध मे सृजनात्मक भूमिका व्यक्तियों की होती है जो उन्हें प्राप्त करने के लिए उपयुक्त संस्था स्थापित करते हैं, इस प्रकार की भूमिका संस्थाओं की नही होती है।

इसी बात को अनेक प्रकार से समझाया जा सकता है जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न देशो मे ससदीय लोकतन्त्र अलग-अलग स्वरूपो मे प्रकट होता है। कुछ देशो मे लोकतन्त्र ऐसा पर्दा है जो अधिनायकवादी तानाशाही का आवरण है। दूसरे देशों मे जनता को उस सीमा मे लोकतान्त्रिक अधिकार मिलते है जिस सीमा तक वह लोकतान्त्रिक मूल्यो को चाहती है। इन बातो के अलावा ब्रिटेन का लोकतन्त्र भारतीय लोकतन्त्र की अपेक्षा अधिक वास्तविक और सुदृढ है। इसका साक्ष्य इस बात मे निहित है कि भारत के प्रधानमन्त्री के हाथो मे मनमानी करने के अधिकार ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री के अधिकारो से कही अधिक है। इसका कारण यही है कि ब्रिटेन मे लोकतान्त्रिक मूल्यों की जडे अधिक गहरी है।

नैतिक मूल्यो और सस्थाओं के इसी प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धो का पालन रूस मे सोवियतो के कार्यकलापो म देखा जा सकता है। प्रारम्भ मे यह कल्पना की गयी थी कि सोवियतें नगरो और गाँवो की लोकतान्त्रिक सस्थाएँ होगी। आवश्यक नैतिक मूल्यो के आधार पर 'सोवियते' जनता की शक्ति के अवयव के रूप मे और जनता की सहभागिता के आधार पर कार्य कर सकती थी। अधिनायकवादी तानाशाही व्यवस्था मे 'सोवियतो' का उपभोग उक्त आदर्श के विपरीत किया जा सकता था। जनता की शक्ति के अवयव के स्थान पर वे राज्यसत्ता के अवयव के रूप मे बदल गयी।

इसी प्रकार यह स्पष्ट है कि समाजवादी नैतिक मूल्यो के अभाव मे समाजवादी आर्थिक व्यवस्था भी लाभदायक उद्देश्य की पूर्ति नही करेगी। वह आर्थिक व्यवस्था मे निहित स्वार्थों के एक समूह के स्थान पर वैसे दूसरे समूह को लाकर सन्तुष्ट हो जायेगी।

सामाजिक आदर्शों की कल्पना नैतिक मूल्यो के आधार पर करने और संस्थाओं के आधार पर न करने का यह पहला कारण है। यद्यपि सस्थाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वह नैतिक मूल्यो के आदर्शों को प्राप्त करने में सहायक हो लेकिन यदि उनमे जनता द्वारा मान्य नैतिक मूल्यो का अभाव हो तो सस्थाओं की कोई उपयोगिता नही रहती है।

नैतिक मूल्यों को अपनाये जाने पर जोर देने का दूसरा कारण यह है कि जिन आदर्शों के लिए सस्था स्थापित की जाय वह लक्ष्य प्राप्त करने के उपयुक्त ही न हो। कोई सस्था अपने उद्देश्य को पूरा कर सकती है अथवा नहीं, यह तो अनुभव से ही निश्चित किया जा सकेगा। जब तक अनुभव से उसकी उपयोगिता सिद्ध न हो जाय तब तक तो यही माना जायेगा कि वह एक प्रयोगात्मक प्रयास है।

उदाहरण के लिए लोकतान्त्रिक ससदीय व्यवस्था से यह अपेक्षा थी कि वह "जनता का, जनता द्वारा और जनता के लिए" शासन व्यवस्था की स्थापना करेगी, लेकिन ससदीय लोकतन्त्र ने यही सिद्ध किया है कि वह शासन व्यवस्था जनता के लिए है लेकिन वह न तो जनता का शासन है और न जनता द्वारा शासित। इन आदर्शों के विपरीत ससदीय लोकतन्त्र सफल राजनीतिज्ञो का जनता पर शासन स्थापित करता है। इसी कारण यह आवश्यक हो गया है कि लोकतन्त्र की ऐसी व्यवस्था विकसित करने का प्रयास किया जाय जिसमे व्यवहार मे जनता अपनी मालिक बन सके।

इसी भाँति वैज्ञानिक समाजवादी व्यवस्था मे उत्पादन के साधनो के राष्ट्रीयकरण की बात कही जाती है लेकिन व्यवहार मे वह उन उद्देश्यो को पूरा करने मे अनुपयुक्त सिद्ध हो सकती है, जिनके लिए उनकी स्थापना की गयी थी। सामान्य रूप से समाजवाद का मान्य लक्ष्य यह है कि आर्थिक शोषण को समाप्त कर आर्थिक जीवन मे स्वतन्त्रता और समानता के नैतिक मूल्यो का पालन किया जाय। व्यवहार मे यह देखा गया है कि उत्पादन के साधनो के राष्ट्रीयकरण के बाद आर्थिक और राजनीतिक सत्ता पर अधिनायकवादी राज्य का अधिकार हो गया है। इससे स्वतन्त्रता और समानता के आदर्शों को भी क्षति पहुँची है। अनुभव से यह मालूम होता हैं कि यदि केवल बड़े उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किया जाय और छोटे उद्योगो को निजी हाथो में छोड़ दिया जाय तो समाजवाद के आदर्शों को भलीभाँति प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसके विकल्प के रूप मे कहा जा सकता है कि समाजवाद के लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण करने अथवा उन्हे निजी स्वामित्व मे छोड़ने के बजाय विभिन्न उपक्रमो के कर्मचारियो और श्रमिको के सहयोगी अथवा सहकारी स्वामित्व मे उन्हे रखा जाय। इस प्रकार का चयन व्यावहारिक अनुभव के आधार पर किया जाना चाहिए, केवल सैद्धान्तिक अनुमान से नही।

समाजवाद की तुलना उत्पादन के साधनो के राष्ट्रीयकरण करने मे दोहरी गड़बड़ी है। पहली गड़बडी यह है कि उसमे स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के नैतिक मूल्यो को जनता नही अपना पाती। इससे उत्पादन के साधनो के राष्ट्रीयकरण से आर्थिक स्वतन्त्रता और आर्थिक समानता के आदर्श को व्यावहारिक रूप नही दिया जा सकता। समाजवाद और उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण को समान मानने की दूसरी गड़बड़ी का कारण यह है कि राष्ट्रीयकरण के द्वारा जो औजार विकसित किये जाते है वे आर्थिक स्वतन्त्रता और समानता के आदर्श को

मूर्तरूप देने में अनुपयुक्त होते है चाहे उस प्रकार के आदर्शों को जनता मान भी लेती हो।

यह सौभाग्य की बात है कि 'लोकतन्त्र' और 'समाजवाद' शब्दो का प्रयोग जिन अर्थो मे किया जाता है वे केवल राजनीतिक और आर्थिक सस्थाओ मे ही निहित नही है वरन उनका सम्बन्ध नैतिक मूल्यो और आदर्शो से है। सामान्य भाषा मे हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति 'लोकतान्त्रिक' है। ऐसा कहने मे हमारा आशय यह होता है कि वह व्यक्ति लोकतान्त्रिक नैतिक मूल्यो के अनुसार कार्य करता है। इसी अर्थ में जब हम "लोकतान्त्रिक जीवन पद्धति" का उल्लेख करते हैं तो उसका अभिप्राय यह है कि जीवन पद्धति मे लोकतान्त्रिक मूल्यों का पालन होता है।

समाजवाद के सम्बन्ध मे आधुनिक प्रवृत्ति यही है कि उसको नैतिक मूल्यो के आधार पर परिभाषित किया जाय। यूरोप की अनेक समाजवादी पार्टियाँ इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि उनका लक्ष्य उत्पादन के साधनो का राष्ट्रीयकरण नही है। वे इस बात को ही पसन्द करेंगे कि कुछ उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय और अन्य पर सामाजिक नियन्त्रण रखा जाय। ब्रिटेन की सोशलिस्ट यूनियन ने 'बीसवी शताब्दी का समाजवाद' शीर्षक से एक सिद्धान्त पुस्तक प्रकाशित की है जिसमे उसके लेखको ने समाजवाद की परिभाषा मे जीवन के मूल्यो की गुणवत्ता, स्वतन्त्रता और आर्थिक सम्बन्धो मे भ्रातृत्व के मूल्यों को आवश्यक माना है। सी आर ए क्रासलैण्ड ने अपनी पुस्तक "दि फ्यूचर आफ सोशलिज्म" मे समाजवाद के तत्वो की विवेचना करते हुए उसके नैतिक मूल्यो के आधार पर जोर दिया है। यह देखा जा सकता कि समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व के नैतिक और मानव मूल्यो को आधारभूत मानव मूल्य माना जाता है। राजनीतिक लोकतन्त्र का आधार भी स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातत्व के मानव मूल्य ही इन लेखको ने स्वीकार किये हैं। ऐसा इसलिये है, जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है कि सामाजिक जीवन के तर्क के आधार पर इन मूल्यो का विकास हुआ है।

राजनीतिक संगठन और संगठित लोकतन्त्र

राज्य समाज का राजनीतिक सगठन है। राज्य के वैध क्रियाकलापो में केवल देश मे आन्तरिक शान्ति व्यवस्था और बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना ही नही है वरन् उसे न्याय व्यवस्था और जनता के आवश्यक सेवाओं और सुविधाओं की व्यवस्था भी उसे करनी चाहिए। राज्य का क्रियाकलाप स्थायी रूप का होता है अत· यह कल्पना ठीक नही है कि भविष्य मे कभी उसका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।

सत्य यह है कि आधुनिक समय मे राज्य के क्रियाकलापो और उसकी शक्ति मे बहुत वृद्धि हो गयी है। राज्य के सम्बन्ध मे उदार दृष्टिकोण मे राज्य के क्रियाकलापो मे केवल आन्तरिक शान्ति व्यवस्था और बाह्य आक्रमण की रक्षा करने तक ही सीमित था। आधुनिक समय मे राज्य को जनता की आवश्यकताओ शिक्षा, स्वास्थ्य और गृह निर्माण को पूरा करना पडता है। उसे आर्थिक न्याय की व्यवस्था करके स्वस्थ आर्थिक विकास की व्यवस्था करनी पड़ती है। उसे मुद्रा, वैकिंग और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भी नियमन करना है। पुरानी कहावत थी कि जो राज्य कम से कम शासन करता है उसको ही अच्छा कहा जाता था। अब उस कहावत मे कुछ ही सत्यता हो सकती है क्योकि आधुनिक राज्य प्रवृत्तियाँ यही पायी जाती है कि जनहित की आवश्यकताओं के कारण उसे पुरानी सीमा को छोड़कर आगे बढ़ना पडता है। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता है कि राज्य की पुरानी सीमाओं को छोड़कर राज्य के अनेक प्रकार के अतिरिक्त कार्यकलाप बढ़ गये हैं।

उत्तरदायित्व और शक्ति दोनो एक साथ रहते है। राज्य के उत्तरदायित्व बढ़ जाने से उसी अनुपात मे उसकी शक्ति भी बढ जाती है। आधुनिक राज्य तेजी से सर्वशक्तिमान होते जा रहे है।

आधुनिक राज्य मे शक्ति के अतिशय केन्द्रीकरण से राजनीति को पेशे के रूप में अपनाने की प्रवृत्ति बढ़ गयी है। आज उसी को सफल राजनीतिज्ञ माना जाता है जिसके पास अधिक शक्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा है। उतनी शक्ति और प्रतिष्ठा सफल उद्योगपति के पास भी नही होती है। राजनीतिक शक्ति के लोभ

के कारण राजनीतिक आचार-व्यवहार मे पतन आ गया है और वह महज सत्ता के लिए लूटखसोट मात्र रह गयी है।

आज की सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्या यह है कि सर्वशक्तिमान राज्य को जनता के नियन्त्रण मे कैसे लाया जाय। पहले, प्रथम महायुद्ध के अन्त तक, आर्थिक शक्ति राजनीतिज्ञो की शक्ति को प्रभावित करती थी। उस समय यह ठीक ही कहा जाता था कि पूंजीवादी, राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता मे बाधक था। उसके बाद धीरे-धीरे सफल राजनीतिज्ञ का प्रभुत्व बढ़ गया। इस समय ससार के अधिकांश भागों मे एक प्रकार अथवा अन्य प्रकार की तानाशाही का प्रभुत्व है। इस समय भी आर्थिक निहित स्वार्थों का प्रभाव रहता है लेकिन अब राजनीतिक निहित स्वार्थों के प्रभुत्व से अधिनायकवादी प्रवृत्तियाँ बढ़ गयी है। इस समय स्वतन्त्रता चाहे वह राजनीतिक हो अथवा आर्थिक उसे पूंजीवाद से भी अधिक खतरा अधिनायकवाद से उत्पन्न हो गया है।

संसदीय लोकतन्त्र की अपर्याप्तता

ससदीय लोकतन्त्र अधिनायकवाद के खतरे की चुनौती का सामना नही कर सकता है। यह इसलिए है क्योकि ससदीय लोकतन्त्र मे जनता का शासन और जनता द्वारा शासन को लागू नही कर पाता है। ससदीय लोकतन्त्र के अन्तर्गत एक अवधि के लिए चुनाव कराये जाते है जिनके द्वारा जनता अपनी शक्ति अपने निर्वाचित प्रतिनिधियो को सौप देती है। सिद्धान्तत: यह माना जाता है कि जनता मे स्वय राज्य करने की शक्ति निहित है। संसदीय लोकतन्त्र मे जनता चुनाव के दिन जब वह मतदान के अपने अधिकार का प्रयोग करके अपने प्रतिनिधि को चुनती है, केवल उस दिन वह सार्वभौम सत्ता सम्पन्न होती है। दो चुनावो के बीच मे जनता मूकदर्शक मात्र रह जाती है। शासन पर उसका बहुत कम नियन्त्रण होता है जिसको बहुमत प्रतिनिधियो के समर्थन से संगठित किया जाता है। जनता का एक ही राजनीतिक कार्य है जो अपने शासको का निर्वाचन करता है। इसको निर्वाचित राजतन्त्र कहा जा सकता है।

लोकतन्त्र तब ही वास्तविक होता है जब सत्ता छन कर जनता के पास पहुँचे। सत्ता का केन्द्रीयकरण लोकतन्त्र का निषेध है। ससदीय लोकतन्त्र मे सत्ता शासन करने वाले गिरोह के हाथो मे केन्द्रित रहती है।

सच्ची लोकतान्त्रिक व्यवस्था को समाज के समतुल्य होना चाहिए। उसके अन्तर्गत ऐसा राज्य नही होना चाहिए जो अल्पसंख्यक लोगो तक सीमित हो। ससदीय लोकतान्त्रिक राज्य मे कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका मे लगे लोगो

के पास राज्य की शक्ति रहती है । इनके अतिरिक्त लोग राज्य की मशीन के हिस्से नही होते । वे राज्य की प्रजा मात्र होते हैं केवल चुनाव के दिन ही वह अपनी स्वतन्त्रता और सत्ता का उपयोग करते हैं ।

यह सही है कि संसदीय लोकतन्त्र को अधिनायकवादी तानाशाही के समान नहीं कहा जा सकता । वास्तविकता यह है कि शासक चार अथवा पाँच वर्ष बाद चुनाव लड़ता है । इस प्रक्रिया से उसकी मनमानी करने की शक्ति पर प्रतिबन्ध रहता है । दो चुनावों के बीच की अवधि मे जनता को उपलब्ध नागरिक अधिकारो का भी बडा महत्व है । इनके द्वारा जनता समाचार-पत्रो और सभाओ मे सरकार की कार्यवाइयों की आलोचना कर सकता है । स्वतन्त्र न्यायपालिका जनता के नागरिक अधिकारो की रक्षा करती है । वह विधिसम्मत शासन और कार्यपालिका के अधिकारो पर भी अकुश रखती है । संसदीय लोकतन्त्र मे सत्ता के मनमाने उपयोग पर एक और अकुश होता है वह है विपक्षी दलो का अस्तित्व । अतः संसदीय लोकतन्त्र को प्रच्छन्न अधिनायकवादी शासन कहना सही नही होगा ।

इन अन्तरो के बावजूद, जो संसदीय लोकतन्त्र को तानाशाही के समान अधिनायकवादी बनने से रोकते हैं, लोकतान्त्रिक परिमाण और उसकी अवधि बहुत सीमित है । जहाँ जनता मे स्वातन्त्र्य प्रेम की जड़ें गहरी हैं और जनता मे उसकी चेतना अधिक है वहाँ के अतिरिक्त ससदीय लोकतन्त्र के शासक-गिरोह चुनाव और नागरिक अधिकारों को समाप्त कर सकते हैं और न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को तथा विपक्षी दलो को गैरकानूनी घोषित कर सकते है । प्रतिनिधित्व के अधिकार पर सरकार आंशिक रूप से लोकतान्त्रिक होती है चाहे वह कमजोर और अस्थाई क्यो न हो । वास्तविक लोकतन्त्र के लिए यह जरूरी है कि जनता का राज्य के कार्यकलापो पर स्थाई नियन्त्रण हो । ऐसे राज्य के लिए यह आवश्यक है कि सत्ता का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण हो और राज्य को समाज के समतुल्य बनाया जाय ।

संगठित लोकतन्त्र

संसदीय लोकतन्त्र की बुराइयों को, प्राचीन यूनान के नगर राज्यों की प्रत्यक्ष लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे लौटने से समाप्त नही किया जा सकता । यूनान के नगरो की अपेक्षा आधुनिक राज्यों मे बहुत बड़ी आबादी होती है । आधुनिक राज्यो की जनता को प्रत्यक्ष लोकतन्त्र में हिस्सा लेने के लिए उसी प्रकार एक स्थान पर नही लाया जा सकता जैसा कि यूनान के नगर राज्यो के लिए सम्भव था । इनके साथ ही नगर राज्यो के प्रत्यक्ष लोकतन्त्र मे भी खराबियाँ थी क्योंकि उस समय नगरों के निवासी असगठित समूह मात्र थे । ऐसे समूह के शासन को

लोकतन्त्र की अपेक्षा 'भीड़तन्त्र' कहना अधिक उचित होगा। मानव-इकाई के रूप में प्रभावशाली ढ़ग से राजनीतिक शक्ति का उपयोग नहीं कर सकता। आधुनिक राज्य में यूनान के प्राचीन नगर राज्यों के प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के सिद्धान्त को लागू नहीं किया जा सकता।

जनता में निहित सार्वभौम सत्ता के आधार पर राजनीतिक शक्ति के प्रयोग के लिए यह आवश्यक है कि जनता को छोटे, स्थानीय गणतन्त्रों अथवा जनसमितियों के रूप में सगठित किया जाय। इन जनसमितियों को राज्य की आधारशिला बनाया जाना चाहिए। राज्य को इस प्रकार की स्थानीय गणतन्त्रों अथवा जनसमितियों के आधार पर 'पिरामिड' (सूच्याकार) के रूप में बनाया जाना चाहिए। प्रत्येक गाँव और नगरों के हिस्सों में इस प्रकार की जनसमितियों का निर्वाचन वार्षिक आधार पर किया जाना चाहिए और उन समितियों में करीब 50 प्रतिनिधि चुने जाने चाहिए। मध्यवर्ती स्तर पर विभिन्न जनसमितियाँ सगठित की जानी चाहिए जिनमें आधारभूत गाँव अथवा नगरों के वार्डों की समितियों के सदस्यों द्वारा चुनी जानी चाहिए। राजनीतिक कार्यकलापों का विकेन्द्रीकरण करके यह प्रयास होना चाहिए कि सबसे नीचे की जनसमितियों को सौंपा जाना चाहिए। जनसमितियों को स्थानीय स्वायत्त शासन के अवयव के रूप में काम करना चाहिए और साथ ही राज्य के क्रियाकलापों पर भी उनका नियन्त्रण होना चाहिए। स्थानीय स्वायत्त शासन की इकाई के रूप में उन्हें सफाई और जनस्वास्थ्य, प्राथमिक और सैकन्डरी माध्यमिक शिक्षा, भवनों, सड़कों और सार्वजनिक पार्कों का निर्माण और रख-रखाव, उत्पादक और उपभोक्ता सहकारी समितियों की स्थापना, स्थानीय पुलिस प्रशासन और छोटे-मोटे वादों के फैसले करने का काम सौंपा जा सकता है। इन कार्यों के अतिरिक्त जनसमितियों को विधान मण्डल के लिए प्रत्याशी की सिफारिश करने, प्रस्तावित कानून कायदों की समीक्षा, नये कानून का प्रस्ताव, अपने प्रतिनिधि को विधान मण्डलों से वापस लेने का अधिकार और महत्वपूर्ण विषयों पर जनमत सग्रह कराने की माग करने का अधिकार होना चाहिए। इन जनसमितियों को सभी महत्वपूर्ण मामलों पर जनता की इच्छा को अभिव्यक्त करना चाहिए। उन्हें स्थानीय आर्थिक योजना तैयार करने का अधिकार होना चाहिए, जिसे राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत शामिल किया जाना चाहिए और योजना के कार्यान्वियन की देखभाल का भी उन्हें अधिकार मिलना चाहिए।

(मानवेन्द्रनाथ राय ने 1944 में प्रकाशित "ड्राफ्ट कॉस्टीट्यूशन ऑफ फ्री इण्डिया" के द्वारा सगठित लोकतन्त्र की तस्वीर प्रस्तुत की थी।)

यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि जनसमितियों के इस प्रकार के कार्यों

से वे जनता की शक्ति के अवयव बनने के साथ ही जनता के राजनीतिक शिक्षण की सँस्थाओं का काम पूरा कर सकती हैं। जनसमितियों को शक्ति देने का यह भी अर्थ होगा कि उनके ऊपर उत्तरदायित्व भी डाला जायेगा। अनुभव से सीख कर जनसमितियाँ अपनी विविध जिम्मेदारियों को पूरा करने के योग्य बन जायेंगी।

संगठित लोकतन्त्र के विचार मे दो सिद्धान्त निहित है। पहला सिद्धान्त यह है कि *राज्य का संविधान ऐसा हो जिसके द्वारा छोटी स्थानीय गणतन्त्रों की स्थापना* करके जनता को उसके सार्वभौम सत्ता सम्पन्न अधिकारों के उपयोग का अवसर प्रदान किया जाय। और दूसरा सिद्धान्त यह है कि राज्य के क्रियाकलापो का *यथासम्भव विकेन्द्रीकरण करके राज्य के नीचे की इकाइयों–जनसमितियों* को यह मौका दिया जाय जिससे वे राज्य के क्रियाकलापो पर प्रभावशाली ढग से नियन्त्रण रख सकें।

सिद्धान्त के अनुसार राज्य के क्रियाकलापों को नीचे की इकाइयों को सौंपना प्रदत्त अधिकारों के रूप में सत्ता देना नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को पूरा करने की जिम्मेदारी दूसरे को सौंपता है और उसकी देखभाल करने का नियन्त्रण अपने पास रखता है तो इस प्रकार के कार्य को प्रदत्त अधिकारों की परिभाषा मे शामिल नहीं किया जा सकता है। व्यवहार मे जनसमितियों का नियन्त्रण राज्य के क्रियाकलापों पर स्थायी रूप से रहेगा जो पूरी तौर से राज्य के उत्तरदायित्व मे मुक्त नहीं होगा। कुछ हद तक सत्ता के प्रदत्त अधिकारों का उपयोग किया जाना अनिवार्य होगा। इसलिए जनसमितियों के ढाँचे के साथ *ही राज्य के क्रियाकलापों का विकेन्द्रीकरण किया जाना जरूरी है।* केन्द्रीय सरकार के कुछ अधिकार मध्यवर्ती जनसमितियों को दिये जायेंगे और वे समितियाँ अपने अधिकार छोटी स्थानीय जनसमितियों को सौंप देंगी। इस प्रकार *की व्यवस्था मे राजनीतिक सत्ता विस्तृत रूप से विकेन्द्रित होगी* और राज्य का स्वरूप समाज के समतुल्य होने के निकट हो जायेगा।

यह प्राय. कहा जाता है कि सत्ता के विकेन्द्रीकरण से राज्य कमजोर हो जाता है। यह कहा जाता है कि राज्य को सुदृढ बनाने के लिए सत्ता का केन्द्रीकरण होना आवश्यक है। यह एक भ्रान्तिमूलक धारणा है। विकेन्द्रित राज्य वास्तव में अधिक सुदृढ़ होता है क्योंकि उसे समस्त जनता का सक्रिय सहयोग मिलता है। केन्द्रित सत्ता वाले राज्य को अपनी सैन्य शक्ति पर आश्रित रहना पडता है। विकेन्द्रित राज्य इसलिए अधिक सुदृढ होता है। क्योंकि उसे सेना के अतिरिक्त समस्त जनता के समर्थन से शक्ति मिलती है।

सांस्कृतिक पूर्वस्थिति

संगठित लोकतन्त्र की स्थापना के पूर्व, इस बात को सबसे पहले कहने की आवश्यकता है कि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के नैतिक मूल्यों को सभी व्यक्तियो मे व्याप्त होना चाहिये। कोई भी सामाजिक सस्था अपने उद्देश्यो की पूर्ति मे तभी सफल होती है जब उसमें शामिल लोग उसके उद्देश्यो मे निहित मूल्यो का पालन करते हो। यह बात संगठित लोकतान्त्रिक सस्थाओ के सम्बन्ध मे लागू होती है। लोकतान्त्रिक नैतिक मूल्यो के अभाव मे सगठित लोकतन्त्र की स्थापना नही की जा सकेगी और यदि उसे जनता पर जबरन लाद दिया गया तो भी वह अपने उद्देश्यो को पूरा करने और जनता की सेवा करने मे सफल नहीं होगी। उस दशा मे जनसमितियाँ सांस्कृतिक पूर्वस्थिति के अभाव में जनशक्ति के अवयवो के रूप मे काम नही कर सकेंगी।

अत सगठित लोकतन्त्र की स्थापना के पहले यह जरूरी है कि ऐसा सांस्कृतिक आन्दोलन चलाया जाय जिसे हमने बीसवी शताब्दि के नवजागरण आन्दोलन की सज्ञा प्रदान की है। यह आन्दोलन मानववादी सिद्धान्तो के अनुरूप स्वतन्त्रता, विवेकवाद और धर्मनिरपेक्ष नैतिकता के आदर्शो के अनुकूल होना चाहिए। मानववादी स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के लोकतान्त्रिक मूल्यों के लिए वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करता है।

इस समय जनसाधारण, जिनमे आर्थिक व्यवस्था के शोषित लोग भी शामिल हैं, उनमे राजनीति को थोडे से राजनीतिज्ञो के हाथ मे छोड़ देने और उससे अलग रहने की प्रवृत्ति बढ रही है। जब तक जनता मे इस प्रकार उदासीनता बनी रहेगी, सभी लोकतान्त्रिक सस्थाएँ वास्तव मे अलोकतान्त्रिक ही बनी रहेगी क्योकि उनमे प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक और निहित स्वार्थी तत्वो का प्रभाव बना रहेगा। सस्थाओ को उसी दशा मे वास्तविक रूप में लोकतान्त्रिक रूप दिया जा सकेगा जब जनता, जिसमे उत्पीड़ित और दबे हुए शोषित लोग ही अधिक हैं, वह यह अनुभव करें कि वे अपने भविष्य के निर्माण का उत्तरदायित्व स्वय अपने हाथ मे लें और अपने सार्वभौम सत्ता सम्पन्न अधिकार का उपयोग स्वय करें।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसकी पुष्टि भारतीय अनुभव से होती है। भारत के अनेक भागो मे गाँव-पचायतो की स्थापना की गई। उनका चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर कराया गया, लेकिन उनमे से अधिकाश स्थानीय निहित स्वार्थों, राजनीतिक और आर्थिक निहित स्वार्थों के दलाल के रूप मे काम करती हैं। गाँव-पचायतो के कार्यकलापो मे जनसाधारण का चित्र सामने नही

आता। यदि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के नैतिक मूल्यों का ग्रामीणों मे भलीभाँति प्रचार किया जाय और उनमे यह विश्वास उत्पन्न किया जाय कि वे ही अपने भविष्य को बना या बिगाड़ सकते है तो इन्ही गाँव-पचायतो को सही अर्थों मे जनसमितियो का रूप दिया जा सकता है जिससे वे सगठित लोकतन्त्र की आधारशिला बन सकती है।

एक दूसरी बात जिसको भी ध्यान मे रखने की जरूरत है वह यह कि संगठित लोकतन्त्र की जो तस्वीर ऊपर बनाई गयी है उसकी उपयोगिता को समझने मे सावधानी रखनी चाहिए। इस व्यवस्था को प्रयोग के आधार पर स्वीकार किया जाना चाहिए और उसे अन्तिम व्यवस्था नही मान लिया जाना चाहिए। इस बात को देखना पड़ेगा कि इस व्यवस्था से किस सीमा तक "जनता का और जनता द्वारा" राज्य की कल्पना को मूर्तरूप दिया जा सकेगा, यह बात तो अनुभव से ही जानी जा सकेगी। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जनता को अपने सार्वभौम सत्ता सम्पन्न अधिकार का उपयोग करने का अवसर देने वाली लोकतान्त्रिक व्यवस्था को स्थापित किया जा सके। इस बात से सन्तुष्ट नही होना चाहिए कि जनता को चार या पाँच वर्ष मे अपने अधिकार का प्रयोग करने का अवसर मिलता है। यदि संगठित लोकतन्त्र अपने उद्देश्यो की पूर्ति पूरी तरह नही कर पाता तो उसे अनुभव के आधार पर सुधारा जा सकेगा।

पार्टी पद्धति का भविष्य

अब हम मौलिक मानववाद के अति विवादग्रस्त राजनीतिक चर्चा करने जा रहे हैं। इस विवाद का सम्बन्ध उस प्रश्न से है जिसके द्वारा ससदीय लोकतन्त्र मे पार्टी पद्धति पर जोर दिया जाता है। हमे यह देखना है कि संसदीय लोकतन्त्र को संगठित लोकतन्त्र में स्थानान्तरित करने के सक्रान्तिकाल और उसके बाद पार्टी पद्धति कहाँ तक न्यायसंगत होगी।

मौलिक मानववादियों को इन प्रश्नों के सम्बन्ध मे क्या कहना है, इसको तीन विस्तृत प्रस्तावना के रूप मे सक्षेप मे कहा जा सकता है :–

1. संसदीय लोकतन्त्र ऐसी व्यवस्था है जिसमे प्रतिनिधि-सरकार समय-समय पर सावधिक चुनावो के द्वारा सत्ता मे आती है। इस व्यवस्था मे राजनीतिक पार्टियाँ मतदाताओं के परस्पर विरोधी हितों का प्रतिनिधित्व करके उपयोगी भूमिका निबाहती हैं। पार्टियाँ मतदाताओं को राजनीतिक समुदायों को सगठित करती हैं और शासन को मजबूत आधार प्रदान करती हैं। फिर भी अब राजनीतिक पार्टियो की वैधता नष्ट होती जा रही है। समाज के सभी

बालिग लोग मतदाता हो गये हैं। मतदाताओं में प्रौढ़ता और अच्छे-बुरे की पहचान बढ़ गयी है। राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों का अन्तर धुंधला पड़ गया है और पार्टी पद्धति का महत्व और उपयोगिता समाप्त होती जा रही है।

2 वर्तमान संसदीय व्यवस्था में यद्यपि पार्टी पद्धति आवश्यक है लेकिन इस पद्धति से लोकतन्त्र के कार्य-व्यापार मे क्षति पहुँचती है। राजनीतिक पार्टियों में सत्ता के लिए जो संघर्ष होता है उसके परिणामस्वरूप एक ओर नैतिकता राजनीतिक व्यवहार से अलग हो जाती है और दूसरी ओर कुछ हाथों मे सत्ता का केन्द्रीकरण होता है। सिद्धान्तहीन राजनीति के द्वारा पार्टी पद्धति हानिकारक हो जाती है। यह बात अशिक्षित और रूढ़िवाद में फँसे हुए मतदाताओं वाले देश मे अधिक देखने को मिलती है।

3 संगठित लोकतन्त्र मे जहाँ राजनीतिक सत्ता विकेन्द्रित होती है और उसका उपयोग आत्मसंयमी और अच्छे-बुरे की पहचान करने वाले मतदाता स्थानीय गणतन्त्रों (जनसमितियों) के द्वारा करते है, उसमे राजनीतिक दलों की लाभप्रद भूमिका नही रह जायेगी। मतदाताओं को राजनीतिक समुदायों के रूप से संगठित करने का कार्य राजनीतिक पार्टियाँ ठीक से नही करती है, उसे जनसमितियों के द्वारा भली प्रकार किया जा सकेगा। जनसमितियाँ केवल मतदाताओं को राजनीतिक रूप से संगठित नही करेगी वरन् वे चुनाव मे अपने प्रत्याशी भी खडे करेगी और उनका अपने प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का और जनमत संग्रह करने का भी अधिकार होगा। कानून के द्वारा राजनीतिक पार्टियों को नष्ट नही किया जायेगा क्योंकि संगठित लोकतन्त्र मे जनता के नागरिक अधिकारों की सुरक्षा की जायेगी जिससे संगठन बनाने के उनके अधिकार को अक्षुण्ण रखा जा सके। फिर भी राजनीतिक पार्टियों की ऐसी भूमिका संगठित लोकतन्त्र मे लाभप्रद नही रह जायेगी और उस स्थिति मे अनुपयुक्त होकर वह बेकार हो जायेगी।

राजनीतिक दलों की वैधता में गिरावट

जैसा कि हमने ऊपर देखा है कि संसदीय लोकतन्त्र मे राजनीतिक पार्टियों की मतदाताओं के परस्पर विरोधी हितों का प्रतिनिधित्व करने की लाभप्रद भूमिका होती है। यह स्पष्ट है कि राजनीतिक पार्टियों की स्थापना मतदाताओं के उन परस्पर विरोधी हितों के आधार पर नहीं होती है, ऐसे विरोधी हितों का होना खुले समाज मे सम्भव है। यह भी हो सकता है कि कुछ मतदाताओं का एक विषय पर एक मत हो लेकिन दूसरे विषय मे उनमे मतभेद हो सकता है। उदाहरण के लिए महिलाओं के गर्भपात के विषय को लिया जा सकता है। इस

मामले में कुछ लोग इसके समर्थन मे एकमत हो सकते हैं लेकिन किन परिस्थितयो मे उसकी आज्ञा दी जाय, इस सम्बन्ध मे मतभेद हो सकता है। यदि दो व्यक्ति प्रश्न "अ" के मामले मे एकमत हो तो यह जरूरी नहीं है कि वे अन्य दो प्रश्नो पर अनिवार्य रूप से सहमत ही होंगे, जिससे राजनीतिक पार्टी बनायी जा सके। कुछ खास मसलो के अभिमत के आधार पर राजनीतिक विवाद उठ सकता है, लेकिन यह जरूरी नही कि राजनीतिक पार्टियो की स्थापना को वह प्रभावित करें। समाज मे पारस्परिक विरोधी हितो के प्रतिनिधित्व के आधार पर राजनीतिक पार्टियो की स्थापना हो इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज मे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक मामलो पर समान विचार वाले लोगो को संगठित किया जाय।

इसी आधार पर सामान्य रूप से विभिन्न सामान्य आर्थिक हितो के प्रतिनिधित्व के लिए राजनीतिक पार्टियो की स्थापना की जाती है। इस प्रकार के आर्थिक हित आमतौर से आर्थिक वर्गों की पार्टियाँ बनती है जैसे पूँजीवादी वर्ग और श्रमिक वर्ग के हितो के आधार पर उन्हे गठित किया जाता है। समान धार्मिक विश्वासो अथवा क्षेत्रीय आधार पर भी राजनीतिक पार्टियो को गठित किया जा सकता है। इस प्रकार आर्थिक, धार्मिक और क्षेत्रीय हितो के आधार पर भी राजनीतिक दलो का गठन किया जाता है।

लोकतन्त्र मे धार्मिक आधार पर राजनीतिक पार्टियो के गठन का औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता। लोकतन्त्र का एक मान्य सिद्धान्त धर्म-निरपेक्षता का है। इस सिद्धान्त के आधार पर राज्य को धार्मिक मामलो मे हस्तक्षेप की अनुमति नही होनी चाहिए और न धर्म को राजनीति को प्रभावित करने का अवसर दिया जाना चाहिए। यह सम्भव है कि किसी विशेष लोकतन्त्र मे धार्मिक अल्पसंख्यकों के हितो को संरक्षण देने की आवश्यकता हो। इस प्रकार के संरक्षण का समर्थन करना केवल अल्पसंख्यक समुदाय के लोगो का नही वरन् समाज के सभी प्रगतिशील लोगों का कर्तव्य है। ज्ञान और विवेक के प्रसार के साथ धार्मिक राजनीतिक पार्टियो का लोप हो जायेगा।

क्षेत्रीय आधार पर गठित राजनीतिक पार्टियो का भविष्य भी सीमित है। जहाँ क्षेत्र की विशिष्ट संस्कृति होती है तो उसे उप-जातीयता कहा जाता है और लोकतान्त्रिक राज्य मे उसे काफी हद तक स्वायत्तता दी जानी चाहिए। जब क्षेत्रीय स्वायत्तता प्रदान की जाय तो फिर क्षेत्रीय राजनीतिक पार्टी के अस्तित्व की खास जरूरत नही रह जायेगी।

समाज में परस्पर विरोधी आर्थिक हितो से पार्टी पद्धति को सुदृढ़ आधार प्राप्त होता है। ब्रिटेन मे परस्पर विरोधी आर्थिक हितो के आधार पर अनुदार दल और मजदूर दल का विकास हुआ और अन्य पश्चिमी देशों के लोकतन्त्र में दक्षिणपथी, वामपथी और मध्यपथी राजनीतिक पार्टियाँ गठित हुई है। आधुनिक समय मे आर्थिक आधार पर पार्टी पद्धति का आधार खत्म होता जा रहा है। यह प्रवृत्ति भी दिखाई दे रही है कि विभिन्न राजनीतिक पार्टियाँ, चाहे वे वामपथी हो अथवा दक्षिणपथी – के कार्यक्रम मे थोड़ी-बहुत समानता आती जा रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि अब पूरी आबादी को वालिग मताधिकार का अधिकार मिल गया है। वालिग मताधिकार के प्रसार के कारण राजनीतिक पार्टियाँ ऐसे कार्यक्रम अपनाने का प्रयास करती है जिससे अधिक से अधिक लोगो को प्रभावित करने में सफल हो सकें। इस प्रकार पार्टियों का सम्बन्ध उन आर्थिक हितो तक सीमित नही रह जाता जिनके नाम पर उनका गठन होता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा और ज्ञान के प्रसार से अब राजनीतिक दलो के लिए यह सुविधाजनक नही रह गया है कि वे एक वर्ग के हितो की बात करने मे पूरे समाज की उपेक्षा करे।

औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों मे मध्यम वर्ग का आकार और महत्त्व बहुत बढ़ गया है। ब्रिटेन मे अब यदि अनुदार दल केवल पूँजीपति वर्ग के हितो के संरक्षण की बात करे और यदि मजदूर दल केवल श्रमिको के हितो के सरक्षण की बात करे, तो यह दोनो दल अपने वर्गीय आधार पर चुनाव नही जीत सकते। इसी कारण दोनो दलो के चुनाव घोषणापत्रो मे कार्यक्रमो की समानता आती जाती है। ब्रिटेन मे कल्याणकारी राज्य के कार्यक्रमो की कल्पना मजदूर दल ने की थी, लेकिन बाद मे अनुदार दल ने उनको पूरा किया। इन पार्टियो के चुनाव कार्यक्रम के प्रचार मे बहुधा इस बात की शिकायत की जाती है कि उनके अमुक कार्यक्रम को प्रतिद्वन्द्वी दल ने चुरा कर अपने कार्यक्रम मे शामिल कर लिया है। सभी पश्चिमी देशो के वामपथी और दक्षिणपथी दलो मे भी इसी प्रकार की समानता उत्पन्न होती जा रही है।

तीसरी दुनिया के देशो मे जहाँ लोकतन्त्र का कोई रूप है और जहाँ बालिग मताधिकार का अधिकार है वहाँ भी उक्त प्रकार की प्रवृत्ति दिखायी दे रही है। इन देशो के अधिकाश मतदाता गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन करते है अथवा उससे कुछ ऊपर रहते हैं। उनके आर्थिक हित आमतौर से समान है। सभी राजनीतिक पार्टियो को ऐसा चुनाव घोषणापत्र अपनाना पड़ता है जिससे वे उत्पीड़ित जनता के बहुसख्यक भाग को अपने पक्ष मे कर सकें। यही कारण है

कि विभिन्न राजनीतिक दलो की ओर से एक समान कार्यक्रम अपनाये जाते है।

इस प्रकार राजनीतिक पार्टियो और उनके सगठनो की वैधता धीरे-धीरे खत्म होती जा रही है कि विभिन्न राजनीतिक पार्टियाँ विभिन्न आर्थिक हितो का प्रतिनिधित्व करती है।

कभी-कभी मनोवैज्ञानिक आधार पर दक्षिणपथी और वामपथी दलो के अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। यह कहा जाता है कि प्रत्येक देश मे दो प्रकार के लोग होते हैं, एक वे जो अनुदार दृष्टिकोण को सही मानते हैं और दूसरे वे जो उग्रवादी दृष्टिकोण का पक्ष लेते है और यथावत् स्थिति को बदलने का प्रयास करते है। यह देखा जा सकता है कि मनोवैज्ञानिक अन्तर का आधार भी आर्थिक हितो पर आश्रित रहता है। यदि राजनीतिक दलों का आर्थिक आधार नष्ट होता जा रहा है तो पार्टी पद्धति को महज मनोवैज्ञानिक आधार बनाये नही रखा जा सकता।

पार्टी पद्धति हानिकारक

ससदीय लोकतन्त्र मे परस्पर विरोधी हितो के प्रतिनिधित्व करने की राजनीतिक पार्टियो की भूमिका घटती जाती है और उसके साथ ही उसकी हानि करने की शक्ति बढ़ती जाती है।

इसका मुख्य कारण यह है कि प्रतिद्वन्द्वी राजनीतिक दलो की सत्ता हथियाने की प्रवृत्ति सिद्धान्तहीन होती जा रही है। इसके कई कारण है। पहली बात यह है कि राज्य के क्रियाकलाप लगातार बढते जा रहे हैं और इसी आधार पर पहले की अपेक्षा अब राज्य मे सत्ता का केन्द्रीकरण अधिक हो गया है। इसके फल-स्वरूप राजनीति मे सफल होने पर अधिक आकर्षक लाभ पहले से अधिक मिलने लगे हैं। लाभ और सत्ता के लिए लालायित लोगो के लिए राजनीति एक लाभदायक पेशा बन गया है। दूसरे राजनीतिक पार्टियो के कार्यक्रमो मे अन्तर मिट जाने से, राजनीतिक व्यवहार मे सिद्धान्तो का प्रभाव भी घट गया है। आज की राजनीतिक पार्टियाँ सत्ता को पाने के लिए बनायी जाती हैं, उनमे अब वर्ग विशेष के हितो की रक्षा करने की बात नही रह गयी है। इस प्रकार सिद्धान्तहीन सत्ता का सघर्ष राजनीतिक व्यवहार का मुख्य लक्षण बन गया है, चाहे पार्टी दक्षिणपथी हो या वामपथी, दोनो पर यह बात लागू होती है।

सभी देशो मे, जहाँ पार्टी पद्धति चालू है वहाँ राजनीतिक व्यवहार मे भद्देपन की यह प्रवृत्ति दिखायी देती है। तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों मे यह बात अधिक लागू होती है। इन देशों मे जनता अशिक्षित और मतदाता निरन्तर दरिद्रता

मे रहने के कारण सत्ता के शिकारियो के लिए आदर्श पृष्ठभूमि उत्पन्न करती है। भारत का राजनीतिक परिदृश्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है। नैतिकता को राजनीति से एकदम अलग कर दिया गया है, कम से कम जहाँ तक सफल राजनीतिज्ञो का सम्बन्ध है सरकारी मेहरबानियों के बदले में कालेधन का संचय किया जाता है और उसके अपव्यय और सरकारी तन्त्र के दुरुपयोग से लोकतान्त्रिक चुनाव प्रक्रिया को भ्रष्टाचार मे डुबा दिया जाता है। चुनाव प्रचार में प्रतिद्वन्द्वियों मे एक दूसरे की बुराई करने और कीचड़ उछालने का प्रयास ही अधिक किया जाता है। चुनाव के ऐसे वायदे किये जाते हैं जिनको कभी पूरा नही किया जा सकता। चुनाव मे मतदाता को भ्रमित करने के अतिरिक्त भारत में चुनाव प्रक्रिया जातिवाद और साम्प्रदायिकता को सुदृढ करती है।

सत्ता के सघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा मे व्यस्त राजनीतिक दल, राजनीतिक व्यवहार को नीचे गिराते जा रहे है और जिस व्यक्ति मे नैतिक सवेदनशीलता होती है उसे पार्टी पद्धति की राजनीति से विरक्ति हो जाती है। नैतिक सवेदनशीलता इस प्रकार की राजनीति के लिए एक प्रकार की अयोग्यता ही मानी जाती है। जिन लोगो मे यह अयोग्यता अर्थात नैतिक सवेदनशीलता होती है वे राजनीतिक पार्टी मे शामिल नही होते और यदि शामिल होते भी है तो उसमे अधिक समय तक टिक नही पाते। इसका नतीजा यह होता है कि समाज नैतिक व्यक्तियों की सेवाओ से वचित रह जाता है। ऐसे व्यक्ति, जो राजनीतिक मामलो और सार्वजनिक जनसेवा के लिए निष्ठावान हो सकते हैं वे राजनीति से बाहर ही रह जाते है।

सिद्धान्तहीन सत्तामूलक राजनीति मे लिप्त होने के कारण वर्तमान पार्टी पद्धति से दो प्रकार की हानि होती है। पहली हानि यह है कि इसके द्वारा जनता और शासन की राजनीतिक दूरी बढ जाती है। यदि पार्टी पद्धति लागू न हो तो निर्वाचित प्रतिनिधि प्रत्यक्ष रूप से मतदाता के प्रति उत्तरदायी होगा। पार्टी पद्धति मे वह अपनी पार्टी के प्रति उत्तरदायी होता है। चुनाव के द्वारा जनता अपने प्रतिनिधि को अपनी सत्ता सौपती है, लेकिन चुनाव मे सफल राजनीतिक दल, जो मतदाता के प्रति गौण रूप से उत्तरदायी होता है, सत्ता उसी के पास पहुँचती है।

पार्टी पद्धति की दूसरी बुराई यह है कि इसके द्वारा कार्यपालिका के हाथों मे राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीकरण हो जाता है। पार्टी पद्धति के अधीन कार्यपालिका विधायिका को नियन्त्रित करती है बजाय इसके कि वह उसके नियन्त्रण मे रहे। उदाहरण के लिए यदि विधान मण्डल मे सत्तारूढ़ दल के 55 प्रतिशत सदस्य हैं तो पूरा विधान मण्डल नहीं, यही 55 प्रतिशत सदस्य कानून बनाने और कार्य-

पालिका के सचालन की शक्ति का उपयोग करते है। इससे भी अधिक यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि विधान मण्डल के 55 प्रतिशत सदस्यो का नियन्त्रण पार्टी के मन्त्रीमण्डल के हाथ मे होता है और प्राय: मन्त्रीमण्डल, पार्टी के एक नेता अथवा नेतृत्व के एक गुट द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। इस प्रकार पार्टी पद्धति के अन्तर्गत सभी विधायिका और कार्यपालिका की राज्य शक्ति का केन्द्रीकरण कुछ थोड़े से हाथो मे रहता है।

संगठित लोकतन्त्र और पार्टी पद्धति

सगठित लोकतन्त्र की स्थापना से यह माना जाता है कि समाज में नवजागरण के आधार पर ऐसा परिवर्तन हो चुका है जिसमे मानववादी स्वतन्त्रता, समानता [illegible] वेकवाद, [illegible] विकास हो चुका है और समस्त मतदाता जनसमितियो के माध्यम से अपने राजनीतिक सार्वभौम सत्ता का उपयोग करने के योग्य बन गये है। ऐसे लोकतन्त्र मे जनता द्वारा राज्य के ऊँचे अवयवो को अधिकार प्रदान करने की प्रक्रिया को काफी कम किया जा सकेगा। राज्य की छोटी इकाइयों में सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जायेगा साथ ही स्थानीय जनसमितियाँ कार्यपालिका और विधायिका पर स्थायी रूप से नियन्त्रण रख सकेगी यद्यपि उनका अधिक प्रयोग राज्य की ऊँची इकाई द्वारा ही किया जायेगा।

इस प्रकार के राज्य मे राजनीतिक पार्टियों की मुश्किल से कोई उपयोगिता रह जायेगी। जनसमितियाँ राजनीतिक दलो का स्थान ले लेंगी। विभिन्न विषयो पर जनता मे बहुत से अन्तर होंगे, लेकिन उन मतान्तरो को वादविवाद और आम राय के आधार पर तय किया जायेगा। राज्य की ऊँची इकाइयों मे जनसमितियों का प्रतिनिधित्व होने के कारण और जनसमितियो के माध्यम से होने के कारण मतदाताओं को अन्य किसी राजनीतिक सगठन की आवश्यकता नही रह जायेगी।

हमने यह देखा है कि राजनीतिक दलों का ससदीय लोकतन्त्र में यही आधार माना जाता है कि वे मतदाताओं के पारस्परिक विरोधी वर्ग सघर्षों का प्रतिनिधित्व करती है। वर्ग के आधार पर राजनीतिक पार्टियों की स्थापना से यह माना जाता है कि व्यक्तियों के आर्थिक हितो की रक्षा उसके वर्ग विशेष के अन्य सदस्यों और उस वर्ग द्वारा ही की जा सकती है। इस प्रकार की मान्यता न्यायोचित नही है यह हम देख चुके हैं। किन व्यक्तियो के हितो की रक्षा होनी चाहिए और किनको प्रोत्साहन और सरक्षण की आवश्यकता है, इस बात को नैतिक समर्थन मिलता है और नैतिक समर्थन किसी वर्ग विशेष से सम्बन्धित नही होता।

मानववादी नवजागरण की पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखकर जनसमितियों का गठन होता है। उन समितियो से यह उपेक्षा नही की जा सकती कि वह किसी आर्थिक वर्ग की उचित मांगो का समर्थन नही करेगी क्योकि उनके निर्णय पारस्परिक विचार विनिमय और आम राय के आधार पर किये जायेगे।

फिर भी यह तर्क दिया जाता है कि सगठित लोकतन्त्र में भी राजनीतिक पार्टियो की आवश्यकता पडेगी जिनके आधार पर केन्द्र और राज्यो में सरकार की स्थापना और समान नीतियो को अपनाया जा सके। इस प्रकार के तर्क का यही अर्थ है कि केवल पार्टी द्वारा बनायी गयी सरकार स्थायी हो सकती है और उसकी नीतियाँ सुसम्बद्ध हो सकती हैं। यह कोई सुदृढ तर्क नही है। आज की स्थिति मे भी प्रत्येक राजनीतिक पार्टी के भीतर मतभेद होते है जबकि यह माना जाता है कि वे लोकतान्त्रिक ढग से काम करती है। जब कोई राजनीतिक पार्टी सत्ता मे होती है तो उसके आन्तरिक मतभेद वाद-विवाद और आम राय के आधार पर तय किये जाते हैं और इस प्रकार स्वीकृत नीति उस सरकार की अधिकारिक नीति मानी जाती है। यदि यह बात स्वीकार की जा सकती है कि विभिन्न राजनीतिक दलो के बीच मतभेद होते हुए भी उनके मन्त्रीगण एक मन्त्रीमण्डल मे रह कर सरकार की एक समान नीति पर चल सकते है तो यह क्यो नहीं स्वीकार किया जा सकता कि बिना किसी पार्टी में शामिल मन्त्री, एक मन्त्रीमण्डल में रह कर कोई एक सरकारी नीति निर्धारित करके उसका परिपालन क्यो नही किया जा सकता। वास्तव मे यदि कोई मन्त्री किसी पार्टी का सदस्य नही है तो वह विवादास्पद प्रश्नो पर आम राय पर पहुँचने में अधिक सहायक हो सकता है।

ऊपर हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे है उसकी पुष्टि साझा सरकारों के अनुभव से होती है जो अनेक यूरोपीय देशो मे सफलतापूर्वक कार्य कर चुकी है, विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध के बाद इस प्रकार का अनुभव देखने में आया है। स्विट्जरलैण्ड के उदाहरण से भी उक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है। वह एक उन्नत देश है जहाँ समृद्ध अर्थव्यवस्था है लेकिन वहाँ के विभिन्न केन्टनो की कार्यकारिणी परिषद् मे सभी खास राजनीतिक दलो के सदस्यो को शामिल किया जाता है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि स्विट्जरलैण्ड के मन्त्रीमण्डल मे विघटनकारी मतभेद सुनने मे नहीं आये हैं। अत इस बात का कोई कारण नही है कि संगठित लोकतन्त्र मे बनी सरकार, जिसका राजनीतिक पार्टियो के आधार पर गठन नही किया जायेगा, एक समान नीति अपना कर उसका पालन क्यो नही कर सकेंगी।

सक्रान्ति काल

मौलिक मानववादी यह विश्वास करते हैं कि पार्टी पद्धति लोकतन्त्र का स्थायी

रूप नही है और जब ऊँचे स्तर का लोकतन्त्र स्थापित किया जायेगा तो पार्टी पद्धति बेकार हो जायेगी। इसके बावजूद मौलिक मानववादी वर्तमान पार्टी पद्धति के विरोधी नही है और न वे इसकी कार्यपद्धति की उपेक्षा करते है। वर्तमान ससदीय लोकतन्त्र के स्थान पर सगठित लोकतन्त्र की स्थापना के बीच एक लम्बी अनिश्चित अवधि का सक्रान्तिकाल हो सकता है। इस बीच मे राजनीतिक पार्टियों का महत्त्व बना रहेगा। उनमे से कुछ सरकारों की स्थापना करेगी और दूसरी विपक्ष मे रहेगी। मौलिक मानववादी समाज मे मानववादी नैतिक मूल्यो का प्रचार और प्रसार कर सके और उन नैतिक मूल्यों पर चलने वाले आधारभूत सगठनो को गठित कर सके, वे ऐसी सरकार पसन्द करेगे जो लोकतान्त्रिक नियमो का आदर करेगी और ऐसे विपक्ष को पसन्द करेंगे जो नागरिक अधिकारो और लोकतान्त्रिक अधिकारों के हनन का प्रतिरोध करेंगी। मौलिक मानववादियो के लिए यह भी जरूरी होगा कि वह यह सुनिश्चित करें कि वर्तमान ससदीय व्यवस्था के स्थान पर नग्न अधिनायकवादी तानाशाही व्यवस्था न आ जाय जिसमे मौलिक मानववादी और उन के समर्थक जनशिक्षा और जनसमितियो के संगठन का अपना कार्य ही न कर सकें। अतः मौलिक मानववादी यह चाहेगे कि संसदीय लोकतन्त्र की सरकार और विपक्ष ऐसा हो जो उनके प्राथमिक कार्य मे सहायक हो और उस मे बाधक न बने।

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या मौलिक मानववादियो को स्वय अपनी राजनीतिक पार्टी का गठन करना चाहिए? इसका यह भी विकल्प हो सकता है कि वे अन्य राजनीतिक पार्टियो मे काम करे और इस बात को सुनिश्चित करें कि सरकार और विपक्ष ऐसा हो जो उनके जनजागरण, जनशिक्षा और आधारभूत सगठनो को बनाने मे सहायक हो।

यह स्मरण रहे कि मौलिक मानववाद के दर्शन की रूपरेखा को 1946 मे बनाया गया था और उसके 22 सिद्धान्तो का निरूपण किया गया था। उन सिद्धान्तो को रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के अखिल भारतीय अधिवेशन मे 1946 के दिसम्बर महिने मे बम्बई मे स्वीकार किया गया था। उस समय मौलिक मानववादी उसी पार्टी में काम करते थे। उस अधिवेशन के बाद भी रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी दो वर्ष तक बनी रही और 1948 मे कलकत्ता के उसके अखिल भारतीय अधिवेशन मे बहुमत के निर्णय के आधार पर उसे विघटित कर दिया गया। उस समय अधिवेशन मे बहुमत का यह मत था कि मौलिक मानववादियों को जनजागरण, जनशिक्षा और आधारभूत संगठनो को सगठित करने मे अपने को लगा देना चाहिए। उनका यह भी विचार था कि राजनीतिक पार्टी के रूप में

कार्य करने से वे अपने लक्ष्य के अनुरूप काम नही कर सकेंगे। इसी कारण रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का विघटन करके "रेडिकल ह्यूमनिस्ट मूवमेन्ट" (मौलिक मानववादी आन्दोलन) का सूत्रपात किया गया।

कलकत्ता मे रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का बहुमत समर्थित निर्णय सही था। इस निर्णय के पक्ष मे दो खास कारण हैं जिनके आधार पर मौलिक मानववादियो को पार्टी के रूप मे काम नही करना चाहिए। इसका पहला कारण यह है कि जो व्यक्ति स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व भावना के प्रसार और इन नैतिक मूल्यो के शिक्षा प्रसार मे काम करना चाहते है वे स्वयं उनको विधान मण्डलो मे ठीक से प्रस्तुत नही कर सकते। जनता के पथप्रदर्शन के साथ ही वे जनता के प्रतिनिधि नही बन सकते। मानववादी जनजागरण मे नैतिक मूल्यो का पुनः मूल्याकन करना भी शामिल है। इसके अन्तर्गत जनता से यह माँग की जाती है कि वे कुछ परम्परागत मूल्यो का तिरस्कार करें और ऐसे नैतिक मूल्यो को अपनायें जो स्वतन्त्रता, विवेकवाद और धर्मनिरपेक्ष नैतिक मूल्यो पर आधारित हो। एक राजनीतिक पार्टी जो, बहुमत का मत प्राप्त करना चाहती है वह ऐसे सास्कृतिक नवजागरण को नही फैला सकती। दूसरा कारण, जो पहले से अधिक महत्वपूर्ण है, वह यह है कि मौलिक मानववादी यह नही मानते कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनो को ऊपर से लादा जा सकता है। मानववादी क्रान्ति नीचे से आरम्भ की जानी चाहिए और उसका नीचे से ही विकास किया जाना चाहिए। इसके लिए नये ज्ञान और विवेक और उसके अनुरूप जनमत को विकसित करना आवश्यक है। बाद मे इन आदर्शों से सहानुभूति रखने वाली सरकार भी सहायक हो सकती है। ऊपर से लाये गये सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन मे राज्य सत्ता की सहायता करने से तानाशाही उत्पन्न हो सकती है लेकिन इस प्रकार का परिवर्तन यदि नीचे से, जनता के सहयोग से और जनता द्वारा शुरू किया जाय तो उससे लोकतन्त्र की सीमाओ को विस्तृत करने मे सहायक होता है। मौलिक मानववादियो को क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन करने के लिए राजनीतिक सत्ता की आवश्यकता नही वरन् इसके प्रतिकूल वे यह चाहते हैं कि जनता स्वयं राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर उसका उपयोग करके सास्कृतिक नवजागरण के कार्य को सम्पन्न करे। राजनीतिक सत्ता प्राप्त न करने की इच्छा को न अपनाने के कारण मौलिक मानववादी अपने लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए सत्ता नही चाहते हैं। इसी कारण उनको अपनी अलग राजनीतिक पार्टी की स्थापना नही करनी चाहिए।

दिसम्बर 1948 में रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के विघटन के बाद कुछ मौलिक-

मानववादी अपने मानववादी आदर्शों के प्रसार के लिए कुछ दूसरी पार्टियों में शामिल हुए। वह प्रयोग भी सफल नही हुआ। उनमे से कुछ तो स्वयं सत्ता की राजनीति के खेल मे लिप्त हो गये और वे स्वयं भी व्यावहारिक रूप से मौलिक मानववादी नही रहे। दूसरे लोग निराश होकर राजनीतिक पार्टियो से अलग हो गये और दुबारा मौलिकमानववादी आन्दोलन में शामिल हो गये।

यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि पार्टी पद्धति के क्रियाकलापो को सुधारा जा सकता है। भारत जैसे देश में जनता के बीच में पार्टी के बिना जनहित के कार्यों मे हिस्सा लेकर काम करना जितना श्रेयस्कर है उतना राजनीतिक पार्टियो मे शामिल होकर वह काम करने में सहायक नही है। लोकतन्त्र के प्रत्येक रूप मे जनता जिस योग्य होती है उसे उसी के अनुरूप सरकार मिलती है। यदि भ्रष्ट और सत्ता लोलुप राजनीतिज्ञो का राजनीतिक क्षेत्र मे प्रभाव है तो उसका यही कारण है कि उन्हे अज्ञान और सहज रूप से विश्वास करने वाले मतदाताओ का समर्थन मिलता है। इसका एक ही उपचार है कि मतदाताओं में अच्छे-बुरे की पहचान करने का विवेक उत्पन्न किया जाय। इसके लिए उन्हें स्थानीय जनसमितियों के रूप में संगठित करना आवश्यक है। ऐसी जनसमितियो के गठन के बाद पार्टियो के प्रत्याशियो को भी उस जनमत का आदर करना पड़ेगा जो जनसमितियाँ व्यक्त करेंगी। उस दशा मे यह भी सम्भव हो सकेगा कि जनसमितियाँ अपने चयन से प्रत्याशी चुनाव मे खड़े करें और समय-समय पर होने वाले चुनावो मे उन्हे विजयी बनाये। इस प्रकार धीरे-धीरे जनसमितियो के प्रत्याशी पार्टियो के प्रत्याशियो का स्थान ले लेंगे और इसके प्रभाव मे पार्टी पद्धति भी अधिक लोकतान्त्रिक कार्यशैली अपना सकेगी।

इस प्रकार अधिनायकवाद के बढ़ते हुए खतरे को और अधिनायकवादी तानाशाही की स्थापना को रोका जा सकेगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जनता मे शक्तिशाली मानववादी आन्दोलन का प्रसार आवश्यक है और उसको जनसमितियो के रूप मे संगठित करना अनिवार्य है। लोकतान्त्रिक संस्थाओ के कार्यकलापो के सुधार के लिए और अधिनायकवादी खतरों को दूर करने के लिए मानववादी आन्दोलन को तेजी से चलाने की आवश्यकता है।

सहकारी अर्थव्यवस्था और विकेन्द्रित योजना

ससार के विभिन्न देशो मे आजकल दोनो प्रकार की अर्थव्यवस्थाएँ चालू है। पूँजीवादी समाज मे प्रतिस्पर्द्धात्मक मुक्त अर्थव्यवस्था चलती है तो कम्युनिस्ट व्यवस्था मे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का राष्ट्रीयकरण किया जाता है। ये दोनो प्रकार की अर्थव्यवस्थाएँ निराशाजनक रूप से विफल रही है। दोनों प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के समर्थको मे भयकर प्रतिस्पर्द्धा है फिर भी संसार के विचारशील व्यक्ति इन दोनो से असन्तुष्ट है इससे भी अधिक यह बात है कि जो लोग उक्त दोनो व्यवस्थाओ मे से किसी एक के समर्थक हैं उनका दृष्टिकोण नकारात्मक है। वे लोग एक व्यवस्था को पसन्द नही करते अत: दूसरी व्यवस्था के समर्थक बन जाते हैं। कम्युनिस्ट अर्थव्यवस्था, पूँजीवादी की नापसन्दगी के आधार पर स्वीकार की जाती है और जो लोग कम्युनिस्ट व्यवस्था को नापसन्द करते है वे पूँजीवादी व्यवस्था के पोषक हो जाते हैं।

(यहाँ "कम्युनिस्ट अर्थव्यवस्था" का अर्थ उस अर्थव्यवस्था से है जो "वैज्ञानिक" समाजवाद के आधार पर पूर्ण रूप से राष्ट्रीयकृत होती है। "समाजवादी अर्थ-व्यवस्था" का प्रयोग यहाँ इसलिए नही किया गया है क्योकि उसका प्रयोग मिश्रित अर्थव्यवस्था के लिए किया जाता है।)

मौलिक मानववादी इन्हीं दो प्रकार की अर्थव्यवस्थाओ मे से एक को चुनने तक सीमित नही रहना चाहते क्योकि यह दोनो ही असन्तोषजनक विकल्प है। एक तीसरा विकल्प है, वह है सहकारी अर्थव्यवस्था का। मौलिक मानववादियो का दावा है कि सहकारी अर्थव्यवस्था स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के नैतिक मूल्यो के अनुसार अधिक सगत है जबकि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और कम्युनिस्ट अर्थव्यवस्था, दोनो इन मूल्यो की दृष्टि से सगत नही हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था की असफलता

मार्क्स ने इस बात की भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवाद अपनी विफलताओं और अन्तर-विरोधो के कारण असफल हो जायेगा और उसका तख्ता पलट दिया जायेगा। उसके अनुसार पूँजीवाद श्रमिको की मजदूरी जीवनयापन के स्तर से

कम रखेगा और नयी उन्नत प्रौद्योगिक विधियों का प्रयोग करके श्रमिकों की उत्पादकता को बढ़ायेगा। इससे उत्पादन के साधनों का भी विकास होगा। लेकिन मार्क्स की यह भविष्यवाणी सही साबित नही हुई है। पिछले एक सौ वर्षों से कुछ अधिक समय का इतिहास जो उसकी पुस्तक "दास कैपीटल" के लिखने के बाद का रहा है, उसमे उन्नत पूंजीवादी देशो मे श्रमिको की वास्तविक मजदूरी मे धीरे-धीरे लगातार वृद्धि हुई है। इसके बावजूद पूंजीवादी अर्थव्यवस्था असन्तोषजनक और निराशाप्रद ही रही है। ऐसा अनेक कारणों से है।

पहली बात यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था मे बहुत असमानताएँ है। पूंजीवादी व्यवस्था मे आर्थिक असमानता और विषमता निहित रहती है। श्रमिको की वास्तविक मजदूरी बढ़ने पर भी धनी और निर्धन के बीच की खाई चौड़ी होती जाती है।

दूसरी बात यह है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे वस्तुओं और सेवाओ के उत्पादन मे भारी असन्तुलन रहता है। इसका कारण यह है कि समाज मे सम्पन्न लोग अल्पसंख्या मे हैं और उनकी क्रयशक्ति अनुपात से अधिक होती है। इसका परिणाम यह होता है कि अनावश्यक ऐश-आराम की वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन अधिक होता है जबकि अनिवार्य वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन सीमित होता है।

तीसरी बात यह है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का आधार प्रतिस्पर्द्धा की भावना होती है जिससे अर्थवाद विकसित होता है। पूंजीवादी व्यवस्था को कायम रखने के लिए उत्पादकता को लगातार बढ़ावा देना आवश्यक होता है। इससे अनेक प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार की व्यवस्था मे 'उपभोक्ता समाज' बन जाता है जिसमें आकर्षक और उच्च स्तर के विज्ञापन के द्वारा माँग को कृत्रिम रूप से बढ़ाया जाता है। इस प्रकार के अतिशय अर्थवाद से जीवन की गुणवत्ता पर कुप्रभाव पडता है। इसके साथ ही पर्यावरण और वातावरण बड़े आधार पर दूषित और विनाशकारी हो जाता है तथा प्राकृतिक साधनो की बरबादी अधिक होती है। यदि विकासशील देशो की बडी जनसख्या के आर्थिक स्तर को उस स्तर तक लाया जाय जिस स्तर पर अमरीका का जीवन स्तर है तो प्राकृतिक साधन कुछ वर्षों मे ही समाप्त हो जायेंगे। जनता की उत्पादन शक्तियों के इतनी बड़ी दिशाहीन बरबादी से बड़े पैमाने पर असन्तोष उत्पन्न होता है।

चौथी बात है कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति मे, जैसा कि मार्क्स ने कहा है, श्रमिक और उसके काम मे परस्पर सम्बन्ध नही रह जाता है। उनको भी उत्पादन

प्रक्रिया और उत्पादित वस्तुओं में कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती है। श्रमिक की समस्त आर्थिक कार्यवाई उबाऊ और रसहीन प्रक्रिया मात्र रह जाती है।

अन्तिम बात यह है कि जैसा कि एडम स्मिथ ने सोचा था, कि पूँजीवाद अपनी अर्थव्यवस्था में आत्मसन्तुलन बनाये रखने में असफल हो जाता है। एडम स्मिथ और दूसरे शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों ने मुक्त व्यवसाय के आधार पर अर्थव्यवस्थागत सन्तुलन की बात सोची थी। मुक्त प्रतिस्पर्द्धा से मूल्य निर्धारित नहीं होते और न श्रमिकों की प्रतिस्पर्द्धा से मजदूरी ही निश्चित होती है। बहुराष्ट्रीय एकाधिकारी कम्पनियाँ उत्पादन के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व बनाये रखती है और सुदृढ़ मजदूर संघ मजदूरों की खपत को नियन्त्रित करते हैं। मूल्यों और मजदूरी का सामंजस्य खपत और माँग के सिद्धान्त के अनुसार नहीं होता जैसा कि शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों का दावा था। इसके परिणामस्वरूप पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में गतिरोध, मुद्रा-स्फीति और बड़ी संख्या में बेकारी फैलने के संकट उत्पन्न होते हैं। अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए और स्थिति को सुधारने के लिए राज्य को हस्तक्षेप करना पड़ता है। राज्य के इस हस्तक्षेप में यह निष्कर्ष निकलता है कि पूँजीवादी व्यवस्था अपने मूल रूप को छोड़े बिना जीवित नहीं रह सकती।

कम्युनिष्ट अर्थव्यवस्था की असफलता

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की तुलना में कम्युनिस्ट अर्थव्यवस्था में कम असमानता होती है और रोजगार की अधिक सुरक्षा रहती है। ये सुविधाएँ श्रमिक को स्वतन्त्रता और लोकतान्त्रिक अधिकारों की कीमत चुकाने पर मिलती हैं। लाभ के स्थान पर उसे अपने अधिकारों का बलिदान करके अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। इस बात के भी अनेक कारण है कि अर्थव्यवस्था का पूरी तौर से राष्ट्रीयकरण स्वतन्त्र लोकतान्त्रिक समाज के साथ असंगत हो जाता है।

पहली बात तो यह है कि उत्पादन के साधनों का पूरी तौर से राष्ट्रीयकरण करने से आर्थिक सत्ता उन्हीं हाथों में केन्द्रित हो जाती है जिनमें राजनीतिक सत्ता का पहले ही केन्द्रीयकरण हो जाता है। इस बात पर हम पहले ही जोर दे चुके हैं कि आधुनिक राज्य अपने क्रिया-कलापों और शक्ति के प्रसार से सर्वशक्तिमान रूप ले चुका है। राजनीतिक केन्द्रीकरण वाले राज्य में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण से लोकतन्त्र को बनाये रखना असम्भव हो जायेगा।

दूसरी बात यह है कि उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण में यह भी शामिल है कि संचार के साधन जैसे रेडियो, टेलीविजन, संवाद समितियाँ, दैनिक समाचार-पत्र और दूसरी पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकों तथा साहित्य का प्रकाशन सभी उसकी

परिधि मे आ जाय। संचार के साधनों पर राज्य के एकाधिकार से अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता जो लोकतन्त्र की प्राणवायु है, पर कुप्रभाव पड़ता है।

तीसरी बात यह है कि सभी क्षेत्रो मे राष्ट्रीयकरण होने में शिक्षा का राष्ट्रीयकरण भी शामिल है। स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालयों और अन्य शैक्षिक संस्थाओ पर राज्य का नियन्त्रण होने से शिक्षा और ज्ञान की स्वतन्त्रता के सभी पहलू नष्ट हो जायेंगे।

चौथी बात यह है कि अर्थव्यवस्था के राष्ट्रीयकरण से सभी प्रकार की सेवाओ का भी राष्ट्रीयकरण हो जायेगा जिससे न्यायाधीश और वकील भी प्रभावित होगे। उस दशा मे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और विधि का पेशा राष्ट्रीयकृत अर्थ-व्यवस्था मे नष्ट हो जायेगा।

पाँचवी बात यह है कि कम्युनिस्ट देशो मे कृषि का राष्ट्रीयकरण विफल रहा है। सोवियत सघ मे निजी स्वामित्व वाले कृषि फार्मों की उत्पादन दर राज्य के फार्मो की उत्पादन दर से अधिक है। पोलैण्ड की कम्युनिस्ट व्यवस्था मे तो कृषि के राष्ट्रीयकरण को समाप्त करके फिर से किसानो को अपनी भूमि पर खेती करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी जिससे कृषि के उत्पादन को प्रोत्साहित किया जा सके। इससे स्पष्ट है कि कृषि के क्षेत्र मे भूमि पर राज्य का स्वामित्व और उसके राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था अनुपयुक्त सिद्ध हुई है।

छठी बात यह है कि छोटे उद्योगो के क्षेत्र मे, जो अर्थव्यवस्था का काफी बड़ा हिस्सा है, राष्ट्रीयकरण उपयुक्त नही है। छोटे उद्योगो और उद्यमो मे छोटे उद्यम-कर्ताओ के निजी उद्यम को समाप्त करने से कोई लाभ नही होता है और उन्हें जनता की आवश्यकताओं को पूरा करने से रोक दिया जाता है।

सातवी बात यह है कि यह अनुभव से देखा गया है कि सरकारी उद्योगो, उद्यमों की व्यवस्था, प्रबन्ध मे लापरवाही और अकुशलता से काम होता है। राज्य के उद्योगो मे लाभ कमाने की प्रवृत्ति न होने से उनमे कुशलता तभी कायम रखी जा सकती है जब उनके प्रबन्ध मे सामाजिक उत्तरदायित्व की ऊँची भावना हो। जिस आर्थिक व्यवस्था मे केन्द्रीयकृत नौकरशाही के प्रभुत्व के कारण आवश्यक सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न नही हो पाती।

अन्तिम बात, जो सम्भवतः सबसे अधिक महत्व की है, मार्क्स द्वारा निरुपित श्रमिकों के काम से विरक्त रहने की समस्या की है। मार्क्स ने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का यह सबसे बड़ा दुर्गुण माना है कि वह राष्ट्रीयकृत अर्थव्यवस्था मे भी बना रहता है। पूंजीवादी उत्पादन से श्रमिक को विरक्ति हो जाती है क्योंकि उसे उत्पादित वस्तु

और उत्पादन की प्रक्रिया में कोई दिलचस्पी नही रह जाती है। राष्ट्रीयकृत अर्थव्यवस्था मे श्रमिक की विरक्ति समान रूप से बनी रहती है। किसी उद्योग अथवा उपक्रम मे काम करने वाले श्रमिक के लिए राष्ट्रीयकरण से केवल इतना ही अन्तर पड़ता है कि उद्योग का मालिक बदल जाता है। श्रमिक निजी उद्योगपति का नौकर होने के स्थान पर राज्य उसका मालिक हो जाता है। उत्पादन की प्रक्रिया से उनकी विरक्ति बनी रहती है और उत्पादित वस्तुओ के स्वामित्व मे भी उसकी कोई दिलचस्पी नही रहती है।

सहकारी अर्थव्यवस्था

[सहकारी अर्थव्यवस्था की जो रूपरेखा यहाँ दी जा रही है वह लेखक की पुस्तिका "ह्यूमनिस्ट एप्रोच टु इकनामिक डेवलपमेन्ट" (इडियन रेनेसां इस्टीट्यूट की ओर से प्रकाशित) के आधार पर प्रस्तुत की जा रही है। मई 1956 मे रेडिकल ह्यूमनिस्ट सेमीनार में उक्त निष्कर्ष निकाले गये थे]

सहकारी अर्थव्यवस्था मे उत्पादन, वितरण और विनियम के मुख्य साधनो को न तो व्यक्तिगत निजी स्वामित्व के अधिकार मे रखा जायेगा और न ही उन्हे राज्य के अधिकार मे लिया जायेगा वरन् प्रत्येक उद्यम और उपक्रम के श्रमिको और कर्मचारियो की सहकारी समितियो को सौपा जायेगा। ऐसा करने से मालिक-मजदूर का सघर्ष समाप्त किया जा सकेगा। मजदूरी पर काम करने वाले लोगो के स्थान पर नयी व्यवस्था मे अपना रोजगार चलाने वाले लोग संगठित हो जायेंगे। निजी उद्योगपतियो और राज्य श्रमिको का शोषण नही कर सकेगा। उत्पादन के साधनो के स्वामी होने के साथ ही श्रमिक उत्पादित वस्तुओ के भी स्वामी हो जायेगे और श्रमिको को आर्थिक प्रक्रिया मे सक्रिय दिलचस्पी लेने का अवसर मिलेगा। श्रमिकों मे अपने काम से विरक्ति की स्थिति एकदम समाप्त हो जायेगी। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के नैतिक मूल्यो की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति सहकारी अर्थव्यवस्था मे होती है।

इस बात पर अतिशय जोर देने की आवश्यकता नहीं है कि सहकारी अर्थव्यवस्था की सफलता के लिए कुछ सास्कृतिक पृष्ठभूमि होना आवश्यक है। सहकारी उद्यम में लगे व्यक्ति में स्वय अपना काम करने और किसी काम को शुरू करने की भावना होनी चाहिए। उनमे यह विश्वास होना चाहिए कि वे अपने प्रयास से अपना और अपने सहयोगियो का भला कर सकते हैं। उनमे अपने काम के प्रति ईमानदारी होनी चाहिए और परस्पर अनुरूप सम्बन्ध होने चाहिए, जो सभी के लिए लाभप्रद हो। सहकारिता की सफलता के लिए पूँजीवाद और कम्युनिज्म से अधिक ऊँची लोकतान्त्रिक सस्कृति की आवश्यकता होती है। स्वतन्त्रता,

समानता और भ्रातृत्व के नैतिक मूल्यों के साथ ही व्यक्तियों मे विवेकवाद और आत्मविश्वास होना चाहिए। उनके आधार पर ही सहकारी संगठनों की उन्नति निर्भर करती है। ईमानदार सहकारी व्यक्ति ही सहकारी उद्यम और उपक्रम सफलतापूर्वक चला सकते हैं।

पूंजीवादी और कम्युनिस्ट, दोनो प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं के अन्तर्गत सहकारी समितियाँ इस समय काम कर रही है, इसलिए यह आवश्यक है कि सहकारी अर्थव्यवस्था की स्पष्ट रूप से व्याख्या की जाय, जब हम इसकी चर्चा उक्त दोनों व्यवस्थाओ के विकल्प के रूप मे करते हैं। किसी भी अर्थव्यवस्था का मुख्य चरित्र उसके उत्पादन के ढग के आधार पर निश्चित किया जाता है। उत्पादित वस्तुओं का वितरण और विनिमय उसके मूल चरित्र के सहायक गुण माने जाते हैं, लेकिन उत्पादन की पद्धति को उसका आधार माना जाता है और उत्पादन की पद्धति और ढंग इस बात पर निर्भर करता है कि उत्पादन के साधनों पर किसका स्वामित्व है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे उत्पादन के मुख्य साधन कुछ थोड़े से व्यक्तियों के स्वामित्व मे रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन निजी लाभ की दृष्टि से किया जाता है और मालिक-मजदूर के सम्बन्ध भी इसी आधार पर निर्धारित होते हैं। कम्युनिस्ट अर्थव्यवस्था मे, भूमि और उद्योग दोनों पर राज्य का स्वामित्व हो जाता है और उत्पादक कार्य राज्य द्वारा निर्धारित उद्देश्यों के लिये किये जाते हैं जो कुल व्यक्तियो के सामान्य उद्देश्यो के पूरी तरह अनुकूल नही होते और मालिक-मजदूर के सम्बन्ध उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के रूप में राज्य द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। सहकारी अर्थव्यवस्था मे यह कल्पना की जाती है कि भूमि और उद्योगो में उन व्यक्तियो के समूह का सहकारी आधार पर स्वामित्व रहेगा जो उनमे काम करते हैं और उनमें उत्पादन की प्रेरणा सहकारी व्यक्तियों के अनुरूप आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर उनकी आर्थिक स्थिति सुधारना होता है। उस व्यवस्था मे मालिक-मजदूर का अन्तर नही किया जाता और दोनो व्यवस्थाओं मे समानता के आधार पर परस्पर सहयोग करते हैं। जब व्यवस्था का अधिकांश उत्पादन इस प्रकार के सहकारी ढग से होगा तब यह माना जायेगा कि सहकारी व्यवस्था की स्थापना हो गयी है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सहकारी अर्थव्यवस्था में उत्पादन पद्धति का मुख्य चरित्र "सहकारिता" के आधार पर स्थिर होगा। उसे सहकारी वित्त, सहकारी विपणन से सहायता मिलेगी। उपभोक्ताओं को उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ उपभोक्ता सहकारी भडारों के माध्यम से मिलेगी। इस बात को देखा जा सकता है कि समस्त आर्थिक क्षेत्र को सहकारिता के अधीन लाना न सम्भव है

और न ही आवश्यक। सभी आर्थिक पद्धतियों मे विभिन्न प्रकार के धन्धे होते हैं जिनको व्यक्तिगत आधार पर चलाया जाता है, वे वैसे ही चलते रहेंगे। इस प्रकार के उद्यम कला, चिकित्सा, कानून आदि क्षेत्र के होते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि पूंजीवादी और कम्युनिस्ट अर्थव्यवस्थाओ में सहकारिताओं की थोड़ी भूमिका है। पूंजीवादी समाज मे ही राज्य के उद्योगों का अभाव नही है वैसे यह भी देखा जा सकता है कि कम्युनिस्ट व्यवस्था मे भी सभी प्रकार के पूंजीवादी अर्थात् व्यक्तिगत स्वामित्व के उत्पादन को समाप्त नही किया जाता है। अत: जब सहकारिता के आधार पर कृषि और उद्योग के अधिकांश क्षेत्र मे उत्पादन संगठित कर लिया जायेगा तो पूरी आर्थिक व्यवस्था में उसी सहकारी भावना का प्रमुख हो जायेगा।

उत्पादको की सहकारी समितियो में वे सभी लोग जो उसकी श्रमिक समिति के सदस्य होगे, जो इसके कार्य मे अपना योग देकर उसमे भागीदार बनेंगे और ऐसे लोग भी होंगे जो अपनी भूमि अथवा पूंजी समिति के उत्पादन कार्य में लगायेंगे। जो व्यक्ति केवल भूमि अथवा पूंजी लगायेंगे लेकिन उसके उत्पादन कार्य मे श्रम नही करेंगे वे सहकारी समिति के सदस्य नही माने जायेंगे, लेकिन उन्हे किराया अथवा ब्याज उनकी भूमि और पूंजी के मुआवजे के रूप मे दिया जायेगा। उत्पादकों की सहकारी समिति मे भूमि और पूंजी के हिस्से को सदस्यों के पारस्परिक सामजस्य से निर्धारित किया जायेगा। जैसे-जैसे सहकारी इकाई की प्रगति होगी, वह अपनी आर्थिक आमदनी से अपने लिए आवश्यक स्रोतो को स्वय उपलब्ध करेगी। ऐसा करके वाह्य साधनो पर आश्रित न होकर स्वतन्त्र रूप से अपने साधनो को एकत्र कर लेगी।

सहकारी इकाई चाहे जितनी छोटी हो उसके प्रबन्ध को लोकतान्त्रिक ढग से इस प्रकार चलाया जायेगा जिससे उसके व्यक्तिगत सदस्यों का महत्व घट न जाय। फिर भी सहकारी समितियो के आकार के सम्बन्ध में कोई पूर्व निश्चित धारणा नही बनायी जा सकती। [डब्ल्यू ए लेविस ने अपनी पुस्तक 'थ्योरी आफ इकनामिक ग्रोथ' (1955) पृष्ठ 135 मे यह सुझाव दिया है कि सहकारी कृषि फार्म मे पाँच या छह परिवार होने चाहिए] सहकारी समिति इतनी बड़ी होनी चाहिए जिससे उसका प्रबन्ध सुचारू रूप से चलाया जा सके। लेकिन दूसरी ओर वैज्ञानिक तरीको को अपनाने के लिए उत्पादक-सहकारी समिति बडे आकार की भी हो सकती है। ऐसे उद्योगों मे जिनमे टेक्नालॉजी-प्रौद्योगिकी का उपयोग किया जा सकता है उनमे श्रमिकों की अधिक संख्या को काम मे लगाने की जरूरत पड़ती है, उनमे पूंजी भी अधिक लगानी पड़ती है, जो छोटी सहकारी समिति

की क्षमता से बाहर है। ऐसी स्थिति मे स्वतन्त्रता और सहकारी उत्पादन के लिए यह जरूरी होगा कि कुशलता का बलिदान किया जाय और नीचे स्तर की प्रौद्योगिकी का उपयोग करके छोटी सहकारी इकाईयों के द्वारा उत्पादन कराया जाय। ऐसी कुछ ही शाखाएँ होंगी जहाँ उच्च प्रौद्योगिकी को छोड़ कर नीचे स्तर की प्रौद्योगिकी को अपनाने की जरूरत पड़ेगी। ऊपरी तौर से देखने से मालूम होता है कि बहुत बड़े क्षेत्र मे उन्नत प्रौद्योगिकी को छोड़ने की जरूरत नही पड़ेगी और जहाँ इसकी जरूरत भी पड़ेगी वह भी थोड़े समय के लिए होगी। आधुनिक प्रौद्योगिकी के विकास से अब यह सम्भव हो गया है कि बहुत बड़े क्षेत्र में विद्युत का वितरण किया जा सके और दूरदराज के क्षेत्रों में भी वह कम लागत पर पहुँचायी जा सकेगी। इस प्रकार की ऊर्जा और विद्युत के प्रयोग से यह सम्भव हो सकेगा कि ग्रामीण क्षेत्रों के कस्बों और कृषि उपनगरो में छोटी इकाइयाँ स्थापित करके उनसे कुशलतापूर्वक उत्पादन किया जा सके। विभिन्न प्रकार के उद्योग जैसे कताई और बुनाई केन्द्र, दियासलाई बनाने के छोटे कारखाने और छोटे औजारो को बनाने के कारखानो की छोटी इकाइयाँ स्थापित की जा सकती हैं। इस बात को भी ध्यान मे रखा जाना चाहिए कि आधुनिक प्रौद्योगिकी का विकास पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के सहायक के रूप मे हुआ है। विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओ के लिए भी इसका उपयोग किया जा सकता है। ऐसा करके छोटे-छोटे कारखानो मे कुशलतापूर्वक उत्पादन किया जाना सम्भव हो गया है। विकेन्द्रित उत्पादन के लाभ यह भी होगे कि व्यक्ति काम आरम्भ करने के अधिक अवसर प्राप्त कर सकेगा, अच्छे स्वास्थ्य और सफाई तथा उपभोक्ताओं को अच्छी सेवाएँ प्रदान करने मे इनसे मदद मिलेगी। आगे चलकर इस प्रकार की इकाइयो मे कुशलता बढ सकेगी और बड़ी इकाइयों की तुलना मे अपनी कुशलता से लोगों को अधिक सन्तुष्ट कर सकेंगी।

यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि आवश्यक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और नवीन प्रौद्योगिकी के उपयोग से उत्पादक-सहकारिताओं के क्षेत्र में कृषि और उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन को लाया जा सकता है। इनके आधार पर अनेक बड़े उद्योगों का भी संचालन किया जा सकता है। इनमें मशीनी औजार और रसायनिक उद्योग हो सकते हैं। ऐसे मामलों में जहाँ उत्पादन पर एकाधिकार, अधिक पूंजी की आवश्यकता अथवा उत्पादन के प्राकृतिक साधनों के एक स्थान पर केन्द्रित होने का कारण है उनमें उत्पादक-सहकारी समितियाँ अपने उत्पादक संगठन की भूमिका नहीं निभा सकेंगी। स्टील, विशाल और बड़े विद्युत उत्पादन केन्द्रो के लिए जिस मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता होती है अथवा उनके लिए जैसा

प्राकृतिक साधनों के एक स्थान पर उपलब्ध होने की आवश्यकता है वहाँ वस्तुओ के उत्पादन और सेवाओ को प्रदान करने मे एकाधिकार हो सकता है। ऐसे मामलों मे सहकारिता के सिद्धान्त को संस्थागत रूप मे अभिव्यक्त किया जा सकेगा। उत्पादको और उपभोक्ताओ के सगठित सहयोग से उद्योगो मे विरोधी हितों को खत्म किया जा सकेगा और दोनों के लाभ के लिए उनका प्रयोग किया जा सकेगा। स्वायत्तशासी सगठनो को कानूनी आधार पर सगठित किया जा सकेगा जिनमे वस्तुओ और सेवाओ को उत्पन्न करने वालो और उपभोक्ताओ को प्रतिनिधित्व देकर ऐसे उद्योगों को स्थापित किया जा सकेगा और उन्हे सचालित किया जा सकेगा। किसी भी दशा मे किसी भी उद्योग को राज्य के स्वामित्व मे स्थापित नही किया जायेगा और उसका सचालन और नियन्त्रण भी राज्य के अधीन नही होगा। किसी भी योजना मे आरम्भिक पूंजी की व्यवस्था राज्य की ओर से की जा सकेगी। उसको ऋण अथवा आंशिक रूप से ऋण और आशिक रूप से स्वायत्तशासी सस्था को वह पूंजी दी जा सकेगी।

इस प्रकार उत्पादन का अधिकाश क्षेत्र उत्पादकों की सहकारी समितियों के अन्तर्गत आ जायेगा और कुछ मे स्वायत्तशासी उत्पादकों और उपभोक्ताओ की सहकारी समितियो की स्थापना होगी। वस्तुओ के वितरण का प्रबन्ध फुटकर अथवा थोक उपभोक्ता उद्यमो के द्वारा कराया जा सकेगा। सहकारी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत वित्तीय सहायता की व्यवस्था सहकारी ऋण समितियाँ, सहकारी बैंकों के द्वारा की जा सकेगी। ये संस्थाएँ केन्द्रीय सहकारी बैंक से सम्बन्धित हो सकती है। सहकारी बैंको मे उत्पादको और उपभोक्ताओं की सहकारी समितियाँ अपनी रकम जमा करेंगी और जो व्यक्ति सहकारी आन्दोलन मे दिलचस्पी रखते हैं वे भी अपने धन को उनमे जमा कर सकेंगे। कर और राज्य के ऋणो को सहकारी अर्थव्यवस्था को विकसित करने के लिए वित्तीय साधन के रूप मे इस्तेमाल नही किया जायेगा, यद्यपि इस प्रकार से आरम्भिक दौर मे कुछ उचित सहायता मिल सकती है। विकसित अर्थव्यवस्था मे कर से प्राप्त धन का उपयोग राज्य के विकेन्द्रित क्रियाकलापो को चलाने मे किया जाना चाहिए और उसके द्वारा आर्थिक असमानता को कम करने मे किया जाना चाहिए। राज्य के वित्तीय साधनो का उपयोग विभिन्न क्षेत्रों मे प्राकृतिक साधनों के असन्तुलन से उत्पन्न असमानता व सास्कृतिक असमान विकास को मिटाने और दूसरे आवश्यक कार्यों के लिए किया जाना चाहिए।

सहकारी अर्थव्यवस्था मे खपत और मांग को सुसम्बद्ध करके उत्पादको के निर्णयो और उपभोक्ता की पसन्द मे सन्तुलन लाया जायेगा और मूल्यों को उचित आधार

दिया जा सकेगा। उत्पादन का मुख्य उद्देश्य उपभोक्ताओ की आवश्यकताओं को पूरा करना है बजाय इसके कि वस्तुओं और सेवाओं के सापेक्षिक सम्बन्धों के आधार पर मूल्य निर्धारण पर जोर दिया जाय। यह सही है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया बडी असन्तोषजनक होती है। इसका मुख्य कारण है बहुराष्ट्रीय एकाधिकारी कम्पनियो का और कुछ देशो में श्रमिको के शक्तिशाली संगठनो का विकास। सहकारी अर्थव्यवस्था में इस प्रकार के एकाधिकारी संगठन नही बन सकेंगे। विकेन्द्रित सहकारी अर्थव्यवस्था मे उत्पादकों की सहकारी समितियो की संख्या अधिक होगी और कुछ स्वावलम्बी उत्पादको और उपभोक्ताओं के सहकारी सघ होंगे। इनके प्रभाव से अर्थव्यवस्था मे उपभोक्ताओ का प्रभुत्व सबसे अधिक हो जायेगा।

सहकारी अर्थव्यवस्था की रूपरेखा जो ऊपर प्रस्तुत की गयी है वह ऐसी व्यवस्था नही है जिसे सरकार की ओर से ऊपर से शुरू किया जाय और राज्य की ओर से स्थापित किया जाय बल्कि वह मूलरूप से जनता द्वारा बनायी जायेगी। स्थानीय लोगो द्वारा अपने लिए आर्थिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के प्रयास के रूप मे इसे स्थानीय आधार पर पहल करके शुरू किया जायेगा। यही कारण है कि इस सम्बन्ध मे किसी पक्की योजना को तैयार नही किया गया है। यह बात अस्वाभाविक होगी कि यह मान लिया जाय कि लोगों की आर्थिक स्वतन्त्रता की आकांक्षा की अभिव्यक्ति एक ही रूप मे प्रकट होगी, यहाँ इतना ही दर्शाने का प्रयास किया गया है कि सहकारी अर्थव्यवस्था व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता के विकास और सरक्षण कर सकने वाली सादृश्य वाली व्यवस्था है। आधुनिक जटिल समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में यह व्यवस्था सबसे अच्छी व्यवस्था है।

यद्यपि सहकारी अर्थव्यवस्था की स्थापना नीचे से जनता द्वारा विकसित की जायेगी लेकिन इस प्रकार की व्यवस्था से मित्रता और सहानुभूति रखने वाला राज्य उसमें सहायक हो सकेगा। सहकारी अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए जिस प्रकार की लोकप्रिय आकांक्षा की आवश्यकता है उसी आकांक्षा के आधार पर वास्तविक लोकतन्त्र को स्थापित किया जा सकेगा, इसका उल्लेख पिछले अध्याय मे किया जा चुका है। मानववादी नवजागरण से जिन नैतिक एवं मानव मूल्यों का सृजन होगा उनसे राजनीति, अर्थव्यवस्था और सामाजिक जीवन मे लोकतान्त्रिक रूपान्तरण हो सकेगा। जो लोग सहकारी अर्थव्यवस्था को बनाने के काम मे लगेंगे उन्हें सहानुभूति रखने वाले लोकतन्त्र मे आवश्यक सहायता मिलेगी।

यदि समाजवाद की परिभाषा मे सभी उत्पादन के साधनों और विपणन का राष्ट्रीयकरण करने का उल्लेख न हो वरन् उसे स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के मूल्यो के आधार पर गठित व्यवस्था के रूप मे स्वीकार किया जाय तो ऊपर बतायी गयी सहकारी अर्थव्यवस्था वास्तव मे समाजवादी अर्थव्यवस्था होगी। उसके द्वारा देश के आर्थिक ढाँचे का अधिकतम लोकतन्त्रीकरण हो सकेगा।

सहकारी अर्थव्यवस्था राज्य द्वारा स्थापित और निजी स्वामित्व वाले उद्योगो को नष्ट नही करेगा। सहकारी अर्थव्यवस्था को नीचे स्तर से बनाने की प्रक्रिया के दौरान उक्त उद्योग बने रहेगे। लेकिन उनमे उपयुक्त परिवर्तन किये जायेंगे। जहाँ तक राज्य द्वारा सचालित उद्योगो का सम्बन्ध है, उनको दो श्रेणियो मे बाँटा जायेगा। जिन उद्योगो का प्रबन्ध सहकारी इकाईयो द्वारा किया जा सकेगा उनको ऐसी सहकारी इकाइयो को सौप दिया जायेगा और जिन उद्योगो का इस प्रकार प्रबन्ध नही हो सकेगा उनको स्वशासित सगठनों को सौंपा जायेगा जिनमे उत्पादकों और उपभोक्ताओ के बराबर प्रतिनिधि रखें जायेंगे। इस प्रकार के स्वशासित सगठनो की स्थापना कानून द्वारा की जायेगी। निजी स्वामित्व के उद्योगो को मुक्त रखा जायेगा, जिससे वे नयी व्यवस्था में रह कर प्रतिस्पर्द्धा से अपनी उपयोगिता दिखा सके। लेकिन उनको लोकतान्त्रिक श्रमिक कानूनो का पालन करना पडेगा। इस प्रकार के कानूनो का उद्देश्य केवल श्रमिको के आर्थिक हितो की रक्षा करना ही नही होगा वरन् उद्योगो के प्रवन्ध मे और उसके लाभ मे श्रमिको को हिस्सा दिलाना भी शामिल होगा। उद्योगो के प्रबन्ध मे श्रमिको की हिस्सेदारी उनके द्वारा योग्यता और कुशलता से अपनी जिम्मेदारियो को पूरा करने के अनुपात मे बढायी जायेगी। किसी उद्योग के लाभ मे श्रमिको की हिस्सेदारी सुनिश्चित करने के लिए इस बात की व्यवस्था की जा सकती है कि उनके वेतन के एक अश के बदले में उन्हे उस उद्योग की स्वामित्व वाली कम्पनी के हिस्से दिये जायें।

विकासशील देश की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का आकार और उसकी उत्पादन की क्षमता सीमित रहती है। वर्तमान सीमित आर्थिक व्यवस्था के लोकतन्त्रीकरण से मुख्य समस्या सुलझायी नही जा सकेगी। मुख्य समस्या को सुलझाने के लिए आर्थिक नियोजन की आवश्यकता है, जिसके आधार पर न्यायपूर्ण आर्थिक व्यवस्था की स्थापना की जा सके।

विकेन्द्रित आर्थिक योजना

कम्युनिस्ट व्यवस्था मे आर्थिक नियोजन की आवश्यकता इसलिए पड़ती है क्योकि उसमे सभी उत्पादन के साधन, वितरण और विनिमय राज्य के अधीन होते है।

चूकि कम्युनिस्ट व्यवस्था पिछड़े देश में सत्ता में आयी अतः कम्युनिस्ट योजना का मुख्य उद्देश्य देश का आर्थिक विकास करना था।

औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों ने भी औद्योगिक मन्दी का सामना करने और अर्थव्यवस्था को सुदृढ करने के लिए राज्य की ओर से योजनाएँ चलायीं जाती है। धन के नियमन, ऋण के नियन्त्रण और राज्य द्वारा चुने हुए क्षेत्रों में पूँजी लगाना, मूल्य आधार देना, राज्य द्वारा खरीद, आयात-निर्यात नियमन, कर और सहायता आदि तरीकों से उन्नत पूँजीवादी देशों में अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने का प्रयास किया जाता है।

राज्य द्वारा योजना लागू करने से केन्द्रीकरण और अफसरशाही को बढ़ावा मिलता है। विशेष रूप से कम्युनिस्ट देशों मे राज्य द्वारा आर्थिक योजना चालू करने से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे काफी कमी करनी पड़ती है। इस से भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि आर्थिक योजना की कुल लागत पर विचार किया जाता है और लोकप्रिय निर्णयो के आधार पर उनकी प्राथमिकताएँ निश्चित नही की जाती हैं। इसी आधार पर यह विचार व्यक्त किया जाता है कि आर्थिक योजना पद्धति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रतिकूल है।

यह विचार सही नही है। प्रत्येक विवेकपूर्ण कार्य के लिए योजना की आवश्यकता पडती है और उसके द्वारा पूर्व निर्धारित लक्ष्य को पाने के लिए विवेकपूर्ण ढग मे काम करना पडता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक विकास के लिए जनता के प्रयास के लिए योजना पद्धति अपनायी जाय। लेकिन योजना इस प्रकार तैयार की जानी चाहिए जिससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके कल्याण का मूल उद्देश्य पूरा किया जा सके। यदि आर्थिक योजना को मौलिक रूप से केन्द्रित रखा जाय और यदि उसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके कल्याण के लक्ष्य को पूरा करने के अनुरूप रखा जाय, तो योजना पद्धति से उत्पन्न खतरों को खत्म किया जा सकता है।

आर्थिक योजना के सम्बन्ध मे उक्त दृष्टिकोण पर कुछ निष्कर्ष निकाले गये हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जायेगा। भारत में नियोजन के अनुभव के सन्दर्भ मे उनका खास महत्व है।

[इस सम्बन्ध मे तीन अभिलेखों को आधार माना गया है—(1) [illegible] के निर्देशन मे तैयार "पीपुल्स प्लान आफ इकनामिक डेवलपमेन्ट [illegible] 1943, (2) "ह्यूमनिस्ट एप्रोच टु इकनामिक डेवलपमेन्ट" [illegible] किया जा चुका है, (3) "पीपुल्स प्लान टू" 1977 [illegible]

द्वारा प्रकाशित। अधिक विस्तार के लिए "पीपुल्स प्लान टू" को देखा जा सकता है।)

1. आर्थिक व्यवस्था के विकेन्द्रीयकरण के लिए यह जरूरी है कि उसे छोटी बस्ती मे प्राथमिक इकाई के रूप मे शुरू किया जाय। भारत के ग्रामीण क्षेत्रो मे कुछ गाँव जो किसी कस्बे के चारो ओर से और जहाँ साप्ताहिक बाजार लगता हो, वहाँ प्राकृतिक रूप से योजना की इकाई स्थापित की जा सकती है। ऐसी बस्ती मे गाँव पचायतो की नियोजन समिति बनायी जानी चाहिए। यह समिति जनता के परामर्श से वहाँ की मानव-आवश्यकताओ, वहाँ प्राप्त जन-शक्ति और प्राकृतिक साधनों का आकलन कर सकती है। इन्ही के आधार पर उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया जा सकता है। ऐसी स्थानीय योजनाओं के लिए आवश्यक वित्तीय और प्रौद्योगिक सहायता योजना के ऊँचे केन्द्रो से दी जा सकेगी। इसी प्रकार की योजना-समितियाँ कस्बो, नगरों और बड़े नगरो के कुछ मोहल्लो को मिलाकर बनायी गयी इकाइयो में भी स्थापित की जा सकती है। स्थानीय योजना समितियों द्वारा तैयार योजना पर ऊँची अथवा बडी इकाइयो द्वारा पुनर्विचार किया जा सकेगा, लेकिन योजना को कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी सम्बन्धित स्थानीय इकाई को पूरी करनी पड़ेगी।

2 स्थानीय आधार पर बनायी गयी योजना आवश्यक रूप से यथार्थवादी होनी चाहिए। उसका मुख्य उद्देश्य जनता की मौलिक आवश्यकताओ खाद्यान्न, पेय जल, कपडा, मकान, शिक्षा और चिकित्सा को पूरा करना होगा। इसका यह अर्थ नही है कि उस क्षेत्र की जनता की सभी आवश्यकताओ को स्थानीय रूप से पैदा कर लिया जायेगा। इसका इतना ही अर्थ है कि योजना का लक्ष्य जनता की मौलिक आवश्यकताओ को पूरा करना है।

3 स्थानीय योजना का उद्देश्य अपने क्षेत्र की जनता की आवश्यकताओ को पूरा करने के अतिरिक्त उसका उद्देश्य यह भी होगा कि वह श्रम शक्ति का अधिकाधिक उपयोग करने वाली परियोजनाओ के द्वारा रोजगार के अवसरों को बढ़ायें। ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए कृषि का विकास कृषि उद्योगो की स्थापना, गृह निर्माण, सड़क और दूसरे सचार साधनो की व्यवस्था, शिक्षा और स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे स्थानीय रूप से सामाजिक सेवाओ का प्रबन्ध करना आवश्यक होगा। ऊँचे स्तर के नियोजन क्षेत्रो की यह जिम्मेदारी होगी कि वे परियोजनाओ को पूरा करने के लिए वित्तीय और प्रौद्योगिक सहायता प्रदान करें।

4. *स्थानीय योजना* समितियों का मुख्य लक्ष्य यह होगा कि वे अपने नये आवश्यक सहकारी उपक्रम विकसित करें। आरम्भ में सहकारी ऋण समितियाँ, सहकारी विपणन समितियाँ और बहु-उद्देश्यीय सहकारी समितियाँ गठित की सकती है। जनसहयोग और जनता की पहल के आधार पर *सहकारिता* का प्रसार अन्य क्षेत्रो मे–उत्पादन और वितरण के क्षेत्रों मे–किया जा सकेगा।

5. स्थानीय योजना से जो जन उत्साह होता है उससे पूँजी निर्माण की समस्या को सुलझाने मे काफी सहायता मिलेगी, जो अब तक पिछड़े देशो के नियोजको के लिए एक गम्भीर समस्या रही है। पूँजी निर्माण इस बात पर आश्रित है कि कितनी श्रमशक्ति उपलब्ध है और कितनों को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराये जा सकते हैं, जो उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन कार्यों से अतिरिक्त है। *भारत मे ऐसी अतिरिक्त श्रमशक्ति बड़ी मात्रा मे उपलब्ध है।* यदि उचित पहल और जन उत्साह के आधार पर स्थानीय नियोजक अतिरिक्त श्रम शक्ति का उपयोग कर सकें तो सडक, गृह, स्कूलो के भवन, गोदाम, छोटी सिचाई के लिए छोटे बाँध आदि बनाने मे आसानी होगी। इस प्रकार के कार्यों से स्थानीय आधार पर बेकारी की समस्या को भी सुलझाया जा सकेगा।

6. कृषि के सम्पन्न होने पर ग्रामीण क्षेत्रो मे अनेक प्रकार की उपभोक्ता वस्तुओं की माँग बढ जायेगी। कृषको को अधिक और अच्छी किस्म के कपड़े की जरूरत पड़ेगी। उन्हे अच्छे आवास और विविध प्रकार की सामग्री की आवश्यकता होगी, जिन्हे आजकल शहरी मध्यम वर्ग उपयोग मे लाता है। इस प्रकार नयी उपभोक्ता वस्तुओ की माँग बढ़ने पर छोटे-छोटे उद्योगो की *स्थापना गाँवो और कस्बो मे करके उनको पूरा किया जा सकेगा।* स्थानीय नियोजकों की यह जिम्मेदारी होगी कि वे स्थानीय अर्थव्यवस्था के विकास के लिए विविध प्रकार के आर्थिक कार्यकलाप आरम्भ करे।

7. यह स्पष्ट है कि कुछ परियोजनाएँ जैसे अस्पताल अथवा कॉलेज की स्थापना अथवा बड़े उपक्रमों की स्थापना जिला स्तर पर शुरू की जा सकेगी। इस *प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए* जिला परिषदो को जिला नियोजन समितियाँ गठित करनी चाहिये। जिला समितियो को अपने क्षेत्र के लिए ऐसी योजना तैयार करनी चाहिए जिसे स्थानीय आधार पर पूरा न किया जा सके। उन्हें स्थानीय योजना समितियो को प्रौद्योगिक और वित्तीय सहायता देनी चाहिए। इनका एक उद्देश्य यह भी होगा कि वे जिला स्तर पर सहकारी उपक्रम स्थापित करें और जिले मे सहकारी सस्थाओ का एक *जाल विकसित करने* मे सहयोग करें।

8. बड़ी परियोजनाओं की देखभाल और उनमें सुसम्बद्धता लाने के लिए राज्य स्तर पर योजना समिति और पूरे देश के स्तर पर केन्द्रीय आर्थिक परिषद की स्थापना की जानी चाहिए। योजना सम्बन्धी इन संस्थाओं द्वारा ऐसी योजना बनायी जायेगी जिसको यह अपने क्षेत्र में और अपने स्तर पर चलायेंगी इस प्रकार की संस्थाओं को नीचे स्तर की योजना समितियों को प्रौद्योगिक और वित्तीय सहायता देनी चाहिए और कृषि एवं उद्योग के शोध और अनुसन्धान के लिए उचित संस्थाओं को स्थापित करना चाहिए। उन्हें राष्ट्रीय और स्थानीय आधार पर सर्वेक्षण कराना चाहिए नयी औद्योगिक पद्धतियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए।

9. केन्द्रीय आर्थिक परिषद को नीचे की योजना समितियों की परामर्श, वित्तीय और प्रौद्योगिक सहायता देने के अतिरिक्त उन्हें पूरे देश के लिए योजना के मूल लक्ष्यों को परिभाषित करना चाहिए। योजना के मूल लक्ष्य निम्नलिखित होने चाहिए.–
   (क) जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति,
   (ख) रोजगार के पर्याप्त साधनों का विकास,
   (ग) गरीबी का उन्मूलन और
   (घ) आर्थिक असमानता को मिटाना।

10. केन्द्रीय आर्थिक परिषद पूंजी विनियोजन की प्राथमिकताओं को निश्चित करने के साथ-साथ स्थानीय योजना-इकाइयों का मार्गदर्शन करेगी। देश की आबादी का 75 प्रतिशत भाग कृषि कार्यों में लगा है, इस बात को ध्यान में रखकर कृषि विकास और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। दूसरी प्राथमिकता उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को दी जानी चाहिए और तीसरी प्राथमिकता बड़े उद्योगों को दी जानी चाहिए। इन प्राथमिकताओं का पालन बेकारी की समस्या को सुलझाने के लिए आवश्यक है। यह भी समझना चाहिये कि ये प्राथमिकताएँ पूंजी विनियोजन के लिए हैं, समय से उनका सम्बन्ध नहीं है। उत्पादन की सभी शाखाओं का एक साथ विकास होना चाहिए, लेकिन साधनों के वितरण में उक्त प्राथमिकताओं का ध्यान रखा जायेगा।

11. आर्थिक विकास इस प्रकार से होना चाहिए जिससे मुद्रास्फीति न हो। इस उद्देश्य से योजना को सदैव यथार्थवादी होना चाहिए। प्रत्येक योजना को उपलब्ध साधनों के अनुकूल होना चाहिए। इसी उद्देश्य से छोटी परियोजनाओं को, जिनमें थोड़ी अवधि में लाभ होने लगता है, वरीयता दी जायेगी

बजाय उन परियोजनाओं के जिनमे लम्बी अवधि के बाद लाभ होता है। इस बात की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए मजदूरी-वस्तुओं का उत्पादन पर्याप्त मात्रा में किया जाय जिससे उपभोक्ता मूल्य सूचकांक की वृद्धि को रोका जा सके। ऊपर जिन वरीयताओं का उल्लेख किया किया गया है वे बेकारी दूर करने के लिए आवश्यक होने के साथ ही मूल्यों को स्थिर रखने के लिए भी आवश्यक हैं। मुद्रास्फीति भारत में आर्थिक असमानताओं को बढ़ाने का मुख्य कारण रही हैं। मुद्रास्फीति से श्रमिकों की अपेक्षा मालिकों को मदद मिलती है। खेतिहर मजदूर की अपेक्षा उससे किसान को लाभ होता है और छोटे किसान की तुलना में बड़े किसान को लाभ पहुँचता है। मुद्रास्फीति के कारण कर अधिक उत्पीडक हो जाता है।

12. देश में इस समय भूमि वितरण और कृषि भूमि की *व्यवस्था* में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। भूमि पर कृषि करने वाले किसानों को अपनी भूमि का मालिक होना चाहिए। भूमि के स्वामित्व में समानता लाने के लिए जोत हदबन्दी कानूनों को सख्ती से लागू किया जाना चाहिए।

13. आर्थिक योजना का दूसरा पहलू परिवार नियोजन है। आबादी के बढ़ने से नियोजित आर्थिक विकास का लाभ समाप्त हो जाता है। परिवार नियोजन कार्यक्रम को दबाव से नही वरन् लोगो को समझा-बुझा कर उनकी रजामन्दी से लागू किया जाना चाहिए। अनुभव ने यह दिखाया है कि अज्ञानी लोग भी परिवार नियोजन के लाभ को समझ लेते हैं। लड़कियों की शिक्षा और स्वास्थ्य के कार्यक्रम और बाल कल्याण कार्यक्रमों से परिवार नियोजन कार्यक्रमो को सफल बनाने में सहायता मिलती है।

पन्द्रह

सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में मानववादी दृष्टिकोण

यह हम पहले कह चुके है (अध्याय - तीन) कि मौलिक मानववाद परम्परागत उदारवाद के कुछ सिद्धान्तो को अस्वीकार करता है लेकिन उसका दावा है कि वह उदारवाद की मूल भावना का उत्तराधिकारी है। मौलिक मानववाद का उदारवाद की राजनीति से मतभेद है। वह संसदीय लोकतन्त्र के बजाय संगठित लोकतन्त्र आर्थिक सिद्धान्तो मे पूँजीवाद के स्थान पर सहकारिता और नैतिक सिद्धान्ता मे उपयोगितावाद के स्थान पर प्राकृतिक नैतिक आचरण को मानता है। सामान्य सामाजिक प्रश्नो के सम्बन्ध मे मौलिक मानववाद का उदारवाद से मतभेद नही है सिवाय इसके कि वह अधिक न्यायप्रिय है। मौलिक-मानववाद व्यक्तिस्वातन्त्र्य और व्यक्ति की प्रतिष्ठा के उदारवादी मूल्यो का समर्थक है। सामाजिक प्रश्नो के सम्बन्ध मे इन मूल्यो के आधार पर आचरण का निर्धारण किया जाता है।

मौलिक मानववाद का सामाजिक प्रश्नो पर मूल रूप से उदारवादी दृष्टिकोण है फिर भी समानता के लिए उसका विशेष आग्रह है। प्रत्येक सामाजिक प्रश्न पर अलग-अलग विचार करने की यहाँ आवश्यकता नही है। फिर भी दो सामाजिक प्रश्न, शिक्षा और समाज मे महिलाओं के स्थान पर विचार करना आवश्यक है। भारतीय सन्दर्भ मे जात-पाँत, साम्प्रदायिकता और अस्पृश्यता पर भी अलग से विचार किया जाना चाहिए।

शिक्षा का परिमाण

शिक्षा को नैतिक मूल्यों से अलग नही रखा जा सकता और न अलग रखा ही जाना चाहिए। यह कहना कि शिक्षा को नैतिक मूल्यो से अलग रखा जाना चाहिए, उससे शिक्षा पद्धति मे व्याप्त वर्तमान मूल्यों को यथावत् रखने का समर्थन होता है चाहे वे अन्यायपूर्ण और असमान क्यों न हों। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि बिना विवेचना किये शिक्षा मे व्याप्त मूढ़ आग्रहों, रूढ़ियों और पूर्व निश्चित धारणाओं को स्वीकार कर लिया जाय।

प्रकृति और समाज के सम्बन्ध मे ज्ञान देने के अतिरिक्त शिक्षा को मानव की स्वतन्त्रता और उसकी भावना को ऊँचा उठाना चाहिए। इसका अर्थ है कि समाज के ज्ञान के प्रसार के साथ दो उद्देश्य और होने चाहिए वह है कि शिक्षार्थी की मानसिक स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देना और उसमे नैतिक सवेदनशीलता उत्पन्न करना।

इन दोनो उद्देश्यो की प्राप्ति बिना किसी प्रकार के सैनिक अनुशासन को लागू किये, की जा सकती है। वास्तव मे जब शिक्षार्थी मे मानसिक स्वतन्त्रता की भावना बढ जायेगी तो वह किसी भी प्रकार के कठोर अनुशासन के प्रतिरोध की उसकी क्षमता बढ़ जायेगी।

शिक्षार्थी की मानसिक स्वतन्त्रता को प्रोत्साहित करने के लिए अध्यापक को अपने शिक्षार्थी द्वारा 'क्यो' का प्रश्न करने की आदत को प्रोत्साहित करना चाहिए। शिक्षार्थियो मे 'क्यो' का प्रश्न करने की प्राकृतिक प्रवृति होती है। उसको ही सुदृढ़ करने की आवश्यकता है। उद्देश्य यह होना चाहिए कि शिक्षार्थी की तर्क करने की विवेचना शक्ति और उसमे बुद्धि का विकास हो। यही शिक्षा का पहला उद्देश्य होना चाहिए।

शिक्षा का दूसरा उद्देश्य शिक्षार्थी मे नैतिक सवेदनशीलता को बढाने मे सहायता देना, जिसके आधार पर उसमे चरित्र का निर्माण हो सकता है। इसके लिए किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता नही है। नैतिक शिक्षा का आधार अन्धविश्वास नही होना चाहिए। इस प्रकार का प्रयास शिक्षा के मूल उद्देश्य के प्रतिकूल होगा, जिसका लक्ष्य शिक्षार्थी मे बुद्धिसंगत विवेचना शक्ति उत्पन्न करना है। धार्मिक विश्वास से असहिष्णुता उत्पन्न होती है और विभिन्न धर्मों के अनुयायियों मे झगडा पैदा होता है। कुछ धार्मिक शिक्षाएँ नैतिक स्तर के प्रतिकूल हैं, जैसे हिन्दू धर्म की जात-पाँत की व्यवस्था और अस्पृश्यता का व्यवहार। सभी धर्मों मे स्त्रियो का स्तर नीचा समझा जाता है।

नैतिक शिक्षा मे शिक्षार्थी को किसी विशेष नैतिक सहिता के आधार पर शिक्षा नही दी जानी चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा से कोई लाभ नही होगा। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार की नैतिक सहिता की शिक्षा से कठोर अनुशासन लागू किया जाता है। शिक्षा की अन्य शाखाओ की भाँति नैतिक शिक्षा का आधार विवेक पर आश्रित होना चाहिए।

नैतिक शिक्षा का लक्ष्य शिक्षार्थी मे नैतिक सवेदनशीलता उत्पन्न करने की क्षमता होनी चाहिये और इस भावना को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए जिससे वे अपने

आचरण मे नैतिक स्तर का विकास कर सकें। अमरीका और पश्चिमी यूरोप मे इस दिशा मे कुछ प्रयोग किये गये हैं। इन प्रयोगो मे शिक्षार्थियों के समक्ष ऐसी स्थिति की कल्पना करायी जाती है जिनमें उन्हे नैतिकता के अनुसार आचरण करने को कहा जाता है। नैतिक समस्याओ के सम्बन्ध मे छात्रो को अपना 'हल' सुलझाना पड़ता है और फिर उसकी आलोचनात्मक समीक्षा की जाती है। अध्यापक को भी इस प्रकार के अभ्यास और प्रयोग मे हिस्सा लेना पड़ता है, लेकिन उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह छात्र के 'उत्तर' अथवा 'हल' को प्रभावित न करे। इस प्रकार के प्रयोग का यही उद्देश्य है कि शिक्षार्थी मे स्वयं अच्छे और बुरे की पहचान करने की क्षमता उत्पन्न की जाय। इस प्रकार से नैतिक शिक्षा देना ही उचित होगा, विशेष रूप से माध्यमिक (सेकेन्डरी) स्तर की शिक्षा के दौरान।

ऐसे अध्यापक जो स्वयं आलोचनात्मक समीक्षा और नैतिक संवेदनशीलता को स्वीकार नही करते है वे इसी प्रकार की शिक्षा भी प्रदान करते हैं। अध्यापको के प्रशिक्षण की भी आवश्यकता है जिससे उनमें इन मूल्यो को विकसित किया जा सके और जिसके आधार पर नैतिक शिक्षा को उचित ढंग से दे सकें। इस उद्देश्य से किये गये अध्यापको के सम्मेलन और गोष्ठियो से शिक्षा के इस उद्देश्य की पूर्ति मे मदद मिल सकती है।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था मे सुधार के लिए और कई सुझाव दिये जा सकते हैं। उनमें से अनेक का उल्लेख "एजुकेशन फार अवर पीपुल" नामक पुस्तिका मे है। (डॉ. जे. पी. नायक द्वारा लिखित "एजुकेशन फार अवर पीपुल" का प्रकाशन 'सिटीजन्स फार डेमोक्रेसी' ने 1978 मे किया था)।

महिलाओं का सामाजिक स्तर

पारिवारिक क्षेत्र मे सामान्य रूप से महिलाओ से प्रेमपूर्वक व्यवहार किया जाता है। कभी-कभी परिवार मे महिला का व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है। फिर महिलाओ का सामाजिक स्तर निम्न स्तर का माना जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि पुरुषो और स्त्रियों से समाज की अपेक्षाएँ भिन्न होती हैं। पुरुषो के सम्बन्ध मे यह माना जाता है कि वे परिवार की जीविका अर्जित करते हैं। उन्हे अपने काम के घन्टों मे घर के बाहर रहना पडता है। इसके विपरीत स्त्रियो को अपने घरों मे रहना पड़ता है। उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे बाल-बच्चों की देखभाल करें। परिवार के लिए खाना पकायें और दूसरे घरेलू काम करें। पुरुषो और स्त्रियों से जिन भिन्न प्रकार के कार्यों की अपेक्षा की जाती हैं उनके दूरगामी परिणाम होते हैं।

अधिकांश परिवारों में बालकों को लड़कियों की अपेक्षा अच्छी शिक्षा दी जाती है। परिवार की सीमित आय होने की दशा में यह बात अधिक लागू होती है। बालक को परिवार की जीविका अर्जित करने के योग्य प्रशिक्षित किया जाता है और लड़की के सम्बन्ध मे यह माना जाता है कि उसे पत्नी और मां की भूमिका निबाहनी है।

बाद के जीवन में अच्छी जीविका अर्जित करने की क्षमता, उच्च शिक्षा और विस्तृत अनुभव के आधार पर पुरुष को महिला की अपेक्षा अधिक ऊँचा सामाजिक स्तर मिलता है। पुरुष को सम्मान उसकी आमदनी की क्षमता, शिक्षा और दूसरी सफलताओं के आधार पर दिया जाता है। स्त्री को उसकी पतिव्रता और स्नेहमयी मां के रूप मे सम्मान दिया जाता है।

इस प्रकार सामाजिक श्रम के विभाजन के आधार पर स्त्रियों को अपनी योग्यता और क्षमता के विकास के पर्याप्त अवसर नहीं मिलते हैं। जब स्त्रियां नौकरी भी करती हैं तो उन्हें हीन कार्य और कम आमदनी के कार्य ही मिलते हैं। इसके साथ ही उन्हें घर के काम-काज भी करने पड़ते हैं। यदि कोई विज्ञान, कला, व्यापार अथवा उद्योग में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेती हैं तो उसे अपवाद ही समझा जाता है। सामान्य रूप से यही माना जाता है कि स्त्रियों का मानसिक विकास कम होता है। इस प्रकार समाज अपने आधे हिस्से की क्षमताओं के उपयोग से वंचित रह जाता है।

समाज में महिलाओं के हीन स्तर का एक और दूरगामी परिणाम होता है। बालक-बालिकाओं की आरम्भिक शिक्षा मां की गोद में शुरू होती है। यदि मां अज्ञानी है और पाखण्डों में विश्वास करती है तो उसके बच्चे भी पुराने धर्मों की कट्टरता और रूढ़िवाद को अपना लेते हैं।

यह स्थिति विकासशील देशों में खास तौर से होती है। भारत में शिक्षित लोगों का अनुपात 30 प्रतिशत और महिलाओं का अनुपात 18 प्रतिशत है। नयी पीढ़ी के पालन-पोषण का भार महिलाओं पर पड़ता है जिन्हें अज्ञान और पाखण्ड में रखा जाता है। इससे होने वाली सामाजिक क्षति का अनुमान लगाना मुश्किल है।

बहुधा इस बात का दावा किया जाता है कि भारत में महिलाओं का बड़ा आदर किया जाता है। लेकिन सच्चाई यह है कि भारतीय स्त्री का सम्मान पतिव्रता स्त्री और स्नेहमयी माता के रूप में किया जाता है। परिवार में भी स्त्री का स्तर पुरुषों से कम होता है। ऐसी स्त्री जो अपनी जीविका अपने परिवार के लिए अर्जित करती है उसे भी पतिव्रता और स्नेहमयी माता के समान सम्मान नहीं मिलता है।

मानववाद समाज के प्रत्येक व्यक्ति, पुरुष और स्त्रियो के सम्मान को समान रूप से मानता है। स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा, कार्यव्यापार और समान सांस्कृतिक विकास के आधार पर आदर और सम्मान मिलना चाहिए। यही कारण है कि मानववाद स्त्रियो के उत्थान के आन्दोलन का समर्थन करता है।

हम इस बात पर जोर देते हैं कि प्रत्येक परिवार में बालक-बालिकाओ को समान रूप से शिक्षा दी जानी चाहिए। बाद के जीवन मे भी उन्हे लाभप्रद रोजगार और कामकाज के समान अवसर मिलने चाहिए। मालिकों को पुरुषो के साथ पक्षपात करने का अवसर नही दिया जाना चाहिए। पुरुषो और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिलना चाहिए। विरासत, विवाह, दत्तक कानून और तलाक कानून मे भी स्त्रियो और पुरुषो के अधिकार मे अन्तर नही होना चाहिए। असमान सामाजिक परम्पराओ, जैसे भारत मे दहेज व्यवस्था की जनमत द्वारा निन्दा की जानी चाहिए और उन्हे रोकने के लिए कानून बनाया जाना चाहिए। किसी स्त्री को अनचाहे बच्चे के प्रसव के लिए बाध्य नही किया जाना चाहिए। स्त्री के गर्भपात के अधिकार को सामाजिक मान्यता मिलनी चाहिए।

सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि समाज का महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण और उनसे की जाने वाली अपेक्षाओ मे परिवर्तन होना चाहिए। यह लक्ष्य दीर्घ-गामी है। इसकी सफलता के लिए महिलाओं का आन्दोलन प्रत्येक देश में चलना चाहिए। शहरों और ग्रामीण क्षेत्रो मे महिलाओ को सामाजिक समानता दिलाने के लिए उनके संगठन बनाये जाने चाहिए।

साम्प्रदायिकतावाद, जातिवाद और अस्पृश्यता

भारत मे साम्प्रदायिकतावाद, जातिवाद और अस्पृश्यता, ऐसी सामाजिक समस्याएँ हैं जिनकी जड़े बहुत गहरी हैं। इनमे से जातिवाद और अस्पृश्यता का लम्बा इतिहास है। 2500 वर्ष पूर्व बुद्ध के समय से इन बुराइयों को दूर करने के प्रयास किये गये हैं। साम्प्रदायिकतावाद–हिन्दू-मुसलमान के बीच का तनाव नौ शताब्दी पुराना है। मुसलमानो ने 11 वीं शताब्दी मे भारत पर आक्रमण करना शुरू किया था।

1947 मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में काफी बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण हुआ है। शिक्षा का प्रसार भी बहुत बढ़ा है चाहे उसमे गुणवत्ता न आयी हो। ऐसा समझा जाता था कि उद्योगों के विकास और शिक्षा के प्रसार से साम्प्रदायिकतावाद, जातिवाद और अस्पृश्यता की बुराइयाँ मिट जायेंगी। यह आशा झूठी सिद्ध हुई है। नगरो और महानगरों मे अस्पृश्यता कुछ कम दिखाई देती

है। साम्प्रदायिकतावाद और जातिवाद तो पहले की तरह मजबूत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन बुराइयों को नया जीवन मिल गया है।

इन बुराइयो की जड़े गहरी होने के अनेक कारण हैं। सबसे पहला कारण तो यह है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद सत्ता की राजनीति, जिसका प्रभाव बहुत बढ गया है उसने इन तीनों बुराइयो को कायम रखने में मदद की है। राजनीतिक पार्टियाँ जनता के बीच मे अपने सिद्धान्त और कार्यक्रम के आधार पर काम न करके उनकी साम्प्रदायिक और जातिगत भावनाओ को उभाड़ कर उनका समर्थन पाने की कोशिश करती हैं। स्थानीय, राज्य और केन्द्र के चुनावों मे साम्प्रदायिकता और जात-पांत के आधार पर प्रत्याशियों का चयन किया जाता है। साम्प्रदायिक नेताओ और जाति के नेताओं (परिगणित जाति और हरिजनो मे भी) के द्वारा उनके मतो को सामूहिक रूप से प्राप्त करने का प्रयास सभी पार्टियो द्वारा किया जाता है। राजनीतिक व्यवहार से साम्प्रदायिकता और जात-पांत के मतभेदो को तेज किया जाता है।

दूसरा कारण सरक्षण देने की नीति है, जिसके द्वारा सरकारी नौकरियों मे, उच्च शिक्षा सस्थाओ मे परिगणित जातियो, परिगणित जनजातियो और पिछड़े वर्गों के लोगो को सरक्षण दिया जाता है। इससे मिश्रित फल होता है। सरक्षण का लाभ परिगणित जातियो और पिछडी जातियो के कुछ उन्नत परिवारो को मिला है। परिगणित जाति और पिछडे वर्गों के बहुसख्यक गरीब परिवारो को सरक्षण की इस नीति से कुछ लाभ नही पहुँचा है। परिगणित जाति और पिछड़े वर्गों के कुछ उन्नत परिवारो ने सरक्षण के द्वारा अपने निहित स्वार्थ स्थापित कर लिये है। वे उन राजनीतिक पार्टियों का ही समर्थन करते हैं जो सरक्षण की इस नीति को बनाये रखने के लिए वचनबद्ध हैं। इस नीति से सवर्णों मे उदासीनता और असन्तोष उत्पन्न हुआ है, विशेष रूप से उन छोटी जातियो के लोगों मे असन्तोष अधिक है जो परिगणित और पिछड़े वर्गों की जातियो से थोड़े ही ऊपर हैं। इन्ही कारणों से गुजरात और महाराष्ट्र मे हरिजनों और सवर्णों मे दगे हुए है। मुरादाबाद, मेरठ, अहमदाबाद और हैदराबाद मे ऐसे दगे हुए हैं।

तीसरा कारण यह है कि भारत का आर्थिक विकास आबादी की वृद्धि से प्रभावहीन हो जाता है। इससे विकास की गति बहुत धीमी रह जाती है। उद्योग और व्यापार मे तथा छोटे उत्पादक और वितरण के क्षेत्र मे रोजगार के साधन सीमित हैं। स्वरोजगार के साधनों मे भी कम गुजाइश है। इन कारणों से आर्थिक विषमताएँ साम्प्रदायिक आधार पर अधिक तेजी से बढ़ जाती हैं। रोजगार और स्वरोजगार के क्षेत्र मे सम्प्रदायों और जातियों के आधार पर प्रतिस्पर्धा और तनाव बहुत ज्यादा बढ़ गया है। यही कारण है कि औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्रों मे साम्प्रदायिक दगे हुए हैं।

इसके अलावा मनोवैज्ञानिक कारण है, जिससे साम्प्रदायिक और जातिगत भावनाएँ मजबूत होती हैं। भारतीय समाज अर्द्धसामन्तवाद से निकलकर धीरे-धीरे पूंजीवादी रूप लेता जा रहा है। इस परिवर्तन से गाँव की सामाजिक सुरक्षा को छोडने के लिए लोगों को मजबूर होना पड़ता है और उन्हें शहरी जीवन की आर्थिक अनिश्चितता और व्यक्तिगत अकेलापन भोगना पड़ता है। इस स्थिति मे जाति और धर्म की सामूहिकताओं मे व्यक्ति को संरक्षण लेने को बाध्य होना पडता है। विभिन्न गाँवों से शहरों में जाने वाले हिन्दुओं मे जातिगत आधार पर सगठन बनाने की प्रवृत्ति दिखायी देती है। विभिन्न गाँवों से शहरों में आने वाले मुसलमान मुसलमानी बस्तियों मे रहते हैं। आर्थिक अनिश्चितता और शहरी जीवन का अकेलापन जाति और सम्प्रदाय के आधार पर सम्बन्धों को सुदृढ़ करता है।

(पाठक यह देखेंगे कि डा एरिक फ्राम ने अपनी पुस्तक 'फियर आफ फ्रीडम' मे इसी प्रकार का विश्लेषण प्रस्तुत किया है।)

ईरान मे खुमैनी की क्रान्ति की सफलता से मुसलमानो मे धार्मिक कट्टरता को बढावा मिला है। ससार के अनेक देशो मे मुसलमानों पर इसका प्रभाव पड़ा है। भारत के मुसलमानो पर इस धार्मिक कट्टरपन का क्या प्रभाव पडेगा, इसका आकलन इस समय ठीक से नही किया जा सकेगा। इस बात की सम्भावना है कि इससे भारत के मुसलमानो मे धर्मान्धता बढ़ेगी।

ऊपर उन कारणो पर प्रकाश डाला गया है जिनसे साम्प्रदायिकतावाद, जातिवाद और अस्पृश्यता की समस्याएँ अधिक गहरी हो गयी हैं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए विभिन्न प्रकार के कदम उठाये जाने की आवश्यकता है।

सबसे पहली बात जिसे अवश्य किया जाना चाहिए वह है जनता में धर्मनिरपेक्षता का प्रसार। नागरिकों को अपने आपको मानव प्राणी समझना चाहिए बजाय इसके कि वे अपने को सम्प्रदाय अथवा वर्ग का सदस्य समझें। मानववादी नवजागरण को सास्कृतिक पृष्ठभूमि मे चलाया जाना चाहिए और ऐसे कदम उठाये जाने चाहिए जिनसे ऊपर बतायी गयी बुराइयों को दूर किया जा सके।

दूसरी महत्वपूर्ण बात है कि अभीष्ट परिवर्तन के लिए शिक्षा को माध्यम बनाया जा सकता है। शिक्षा के प्रसार के साथ ही उसमे गुणात्मक उन्नति की जानी चाहिए। यह देखा गया है कि उत्तर भारत में मुसलमान पर्याप्त सख्या मे शिक्षा ग्रहण नही करते है। यह भी एक कारण है कि वहाँ हिन्दू-मुसलमानो के दंगे जब तब होते रहते है। उत्तर भारत मे मुसलमानो मे शिक्षा के प्रसार से वहाँ की साम्प्रदायिक स्थिति को सुधारने मे प्रभाव पड़ेगा। इससे भी अधिक

महत्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षा के परिमाण को उन्नत बनाया जाय। शिक्षा की व्यवस्था का पुनर्निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे उसके द्वारा धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण और मूल्यों को अपनाने में मदद मिले। धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण से पाठ्यपुस्तकें तैयार की जानी चाहिए। इतिहास की पुस्तकों में जनता के विकास का उल्लेख होना चाहिए न कि राजाओं और नरेशों का।

संरक्षण की नीति को सुधारने की भी आवश्यकता है। सरकारी नौकरियों और शिक्षा संस्थाओं–कॉलेजों में संरक्षण परिगणित जाति और पिछड़े वर्गों के उन्हीं छात्रों को मिलना चाहिए जिनके परिवार शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े और आर्थिक दृष्टि से दुर्बल हों। इस प्रकार का संरक्षण पांच वर्ष की अवधि के लिए सीमित होना चाहिए। पिछड़ी जातियों के साथ पहले हुए भेदभाव को समाप्त करने के लिए ठोस कदम यह हो सकता है कि राज्य की ओर से लोगों को आज की तुलना में अधिक बड़े और व्यापक पैमाने पर छात्रवृत्तियां और अनुदान दिये जायं। परिगणित जाति और पिछड़ी जातियों के प्रतिभावान छात्र-छात्राओं को इस प्रकार की सहायता दी जानी चाहिए। संरक्षण को समाप्त किये जाने के बाद भी इस प्रकार की व्यवस्था को चालू रखा जाना चाहिए।

वर्तमान आर्थिक अनिश्चितता और शहरी अकेलेपन का जैसा उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं और जिनके कारण ही लोगों में साम्प्रदायिक और जातिगत संस्थाओं के गठन की प्रवृत्ति बढ़ती है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार संगठनों की स्थापना की जानी चाहिए। कल्याण समितियां, जनसमितियां, मतदाता परिषदें और मजदूर संगठन विकल्प के रूप में संगठित किये जा सकते हैं।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि सत्तामूलक राजनीति और आर्थिक विकास की गति धीमी होने से साम्प्रदायिकतावाद, जातिवाद और अस्पृश्यता की बुराइयों को बनाये रखने में मदद मिलती है। यह बात हम पिछले अध्यायों में कह चुके हैं कि नीचे स्तर से मानववादी आन्दोलन को विकसित करके, लोकतान्त्रिक नैतिक मूल्यों का प्रसार करके और संगठित लोकतान्त्रिक संगठनों की स्थापना करके सत्तामूलक राजनीति के प्रभाव को खत्म किया जा सकता है। इस बात का भी हम संकेत कर चुके हैं कि भारत की विशाल आबादी को पर्याप्त रोजगार के अवसर दिलाने की आर्थिक योजना को अपनाया जाना चाहिए। साम्प्रदायिकतावाद, जातिवाद और अस्पृश्यता की बुराइयां तब तक समाप्त नहीं होंगी जब तक सत्ता के लिए सिद्धान्तहीन राजनीति चलती रहेगी और हमारी अर्थव्यवस्था बढ़ती हुई बेकारी की समस्या को दूर न कर सकेगी।

विचारों की क्रान्तिकारी भूमिका

मानवेन्द्रनाथ राय (एम. एन राय) ने नवम्बर, 1936 मे जेल से रिहा होने के बाद एक महत्वपूर्ण वक्तव्य दिया था, जिसमे कम्युनिज्म से उनके मतभेदों के बीज मौजूद थे और जिनके आधार पर आगे चलकर उन्होने मार्क्सवाद को अस्वीकार कर दिया। उन्होने अपने वक्तव्य मे इस बात पर जोर दिया था कि प्रत्येक सामाजिक क्रान्ति के पूर्व दार्शनिक क्रान्ति अनिवार्य है। अपने इतिहास के अध्ययन से जो उन्होने अपने लम्बे जेल जीवन मे किया था, उससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि विचारो के आन्दोलन युग निर्माण करने वाली सामाजिक और राजनीतिक घटनाओं के पहले चलाये गये थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्य अथवा घटना के पहले वैसा विचार स्थिर किया जाना चाहिए। सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति के पहले विचारो मे क्रान्ति लायी जानी चाहिए।

मानवेन्द्रनाथ राय ने विचारो की जिस रचनात्मक गुण की बात की वह मार्क्सवाद के क्रान्ति के सिद्धान्त से भिन्न है। विभिन्न कम्युनिस्ट पार्टियों ने क्रान्ति के जिन सिद्धान्तो का समर्थन किया, मानवेन्द्रनाथ राय के विचार उनके विरुद्ध थे। मार्क्स-वादी सिद्धान्त के अनुसार विचार अथवा सिद्धान्त मौलिक सामाजिक वास्तविकता के आधार पर विकसित ऊपरी ढांचा है। मौलिक सामाजिक वास्तविकता, उत्पादन के साधनों का स्वामित्व और उनके आधार पर विकसित वर्ग सम्बन्ध होते है। इस प्रकार पूंजीवादी समाज मे पूंजी पर निजी स्वामित्व और मालिक मजदूरों के विरोधी वर्ग सम्बन्धों पर आश्रित है। पूंजीवादी समाज मे संस्कृति केवल ऊपरी ढांचा है, जो मौलिक वास्तविकता पर आश्रित है और स्वतन्त्र रूप से उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र शक्ति नही होती है।

सामाजिक-आर्थिक संगठन और उसके नैतिक नियमों की परस्पर अन्योन्याश्रितता से नये विचारो की सम्भावना ही खत्म हो जाती है, जिनके क्रान्तिकारी प्रभाव से समाज मे परिवर्तन लाने की बात भी सोची जा सके। समाजवादी नैतिक मूल्य समाजवादी अर्थव्यवस्था के आधार पर विकसित ऊपरी ढांचा माना जाता है अतः उनका विकास समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना के पूर्व कैसे सम्भव है? ऊपरी ढांचा मूल ढांचे की स्थापना के पहले नही बन सकता। सामाजिक-

आर्थिक क्रान्ति की सफलता के बाद, उपयुक्त सांस्कृतिक मूल्यों का सृजन होगा, उस क्रान्ति के पहले वह नहीं हो सकता। इस प्रकार भावी समाज के सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर क्रान्ति को आगे बढ़ाने का काम नहीं होगा।

मार्क्सवाद के अनुसार क्रान्ति की प्रेरणा का स्रोत क्या है? उत्पादन के साधनों का विकास उस क्रान्ति का स्रोत है। पूंजी के अतिशय संचय से अच्छे साजसामान (कारखाने और मशीनें) विकसित होते हैं और उनसे श्रम की उत्पादकता बढ़ती है। समाज मे क्रय शक्ति सीमित रहती है क्योंकि श्रमिकों को केवल जीवन-सभरण के लिए पर्याप्त रूप से मजदूरी दी जाती है। इससे पूंजीवाद के अन्दर उत्पादन की शक्तियों और पूंजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों में विरोधाभास उत्पन्न होता है और उसके कारण उसमे औद्योगिक संकट उत्पन्न होते रहते है। प्रत्येक नया संकट अपने पहले के सकट की अपेक्षा अधिक गहरा होता है। उक्त विरोधाभास के कारण ही पूंजीवादी देशों में प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न होती है जो साम्राज्यवादी युद्धों का रूप ग्रहण कर लेती है। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार उत्पादक शक्तियों के निरन्तर विकास से पूंजीवाद मे सकटों की शृंखला ही उत्पन्न नहीं होती वरन् ऐसी मानव शक्ति उत्पन्न कर देती है जो पूंजीवादी व्यवस्था को ही नष्ट कर देती है। इस विरोधाभास से पूंजीवादी वर्ग मे पूंजीपतियों की संख्या कम होती जाती है और सर्वहारा की शक्ति बढ़ती जाती है। इससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब उत्पादन की शक्ति पूंजीवादी व्यवस्था को नष्ट करके सर्वहारा क्रान्ति को सफल बनाती है।

मार्क्सवाद मे समाजवादी क्रान्ति की सफलता के लिए आवश्यक उपकरणों मे विचार चेतना को भी स्वीकार किया जाता है। यह तत्त्व क्रान्तिकारी जुझारू श्रमिक वर्ग से प्राप्त होता है जो वस्तुगत क्रान्तिकारी परिस्थितियों का लाभ उठा कर सर्वहारा क्रान्ति को सफल बनाता है। इस विचार चेतना के तत्त्व मे पूंजीवादी शोषण के विरुद्ध श्रमिकों का विरोध और असन्तोष ही मुख्य कारण होता है। मार्क्सवाद यह स्वीकार नहीं करता कि समाजवादी अर्थव्यवस्था की *सफलता और सर्वहारा क्रान्ति के पहले नये नैतिक मूल्यों की आवश्यकता होती* है। हम पहले यह देख चुके है कि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व समाजवाद के भी नैतिक एवं मानव मूल्य होते हैं। लोकतन्त्र मे उन्हे केवल राजनीतिक क्षेत्र मे लागू किया जाता है। मार्क्सवाद के सिद्धान्त के अनुसार समाजवादी क्रान्ति की सफलता के बाद ही इसके नैतिक मूल्यों का विकास होगा। हम इस बात पर विचार करेंगे कि क्या समाजवादी समाज की तब तक स्थापना की जा सकेगी जब तक समाज का एक बड़ा भाग उन मूल्यों को स्वीकार न कर ले जो

समाजवादी अर्थव्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक होने चाहिए।

भौतिकवादी दर्शन में विचारों का स्थान

भौतिकवाद और एक सत्तावादी प्रकृतिवाद मे यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है कि जीवन का विकास भूत (जड प्रकृति) से होता है। भौतिक तत्त्व और मस्तिष्क मे चुनाव करने पर यह भौतिक तत्त्व को प्रधानता देता है। चेतना उत्पन्न होने के पूर्व भी जड़ प्रकृति थी। दूसरी ओर भाववाद अथवा आदर्शवाद मस्तिष्क और विचारो को प्रधानता देता है। एक सत्तावाद मे भाववाद (आदर्शवाद) जड प्रकृति के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार नही करता।

यह सम्भव है कि भौतिकवादी दर्शन मे जड-प्रकृति को प्रधानता देने के कारण ही मार्क्स ने यह निष्कर्ष निकाला हो कि समाज मे व्याप्त सिद्धान्त आर्थिक व्यवस्था का ऊपरी ढाँचा मात्र होता है। भौतिकवादी दर्शन से अनिवार्यत. यह निष्कर्ष नही निकलता है।

भौतिकवाद मे जड़ प्रकृति को चेतना (मस्तिष्क) से इसलिए प्रधानता दी जाती है क्योंकि विकास क्रम मे जड-प्रकृति पहले होती है और मस्तिष्क का विकास बाद मे होता है। यह प्रधानता दोनो के महत्व के आधार पर नही दी जाती है। जड-प्रकृति की भाँति मानव मस्तिष्क और उसमे उत्पन्न विचार भी सम्पूर्ण तत्त्व के हिस्से है। भौतिकवादी दर्शन मे ऐसी कोई बात नही है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि वे इस सम्पूर्ण तत्त्व के किसी एक हिस्से को अधिक महत्त्व देते है।

मानव जाति के सम्पूर्ण इतिहास मे विचारो की महत्त्वपूर्ण भूमिका के साक्ष्य उपलब्ध है। मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है और पृथ्वी की सतह को बदल दिया है। मानव ने जो सफलताएँ प्राप्त की है वैसी सफलताएँ अन्य किसी प्राणी-जाति ने प्राप्त नही की है। इस अन्तर का एक ही मुख्य कारण है कि मानव मे विचारशक्ति उच्च कोटि की है। मानव इतिहास मौलिक रूप से विचारो और मानव जीवन मे परिवर्तन लाने मे उसका प्रभावकारी इतिहास है।

मानव मस्तिष्क बाह्य भौतिक वास्तविकता का प्रतिबिम्ब मात्र नही है। यदि मस्तिष्क का केवल यही गुण मान लिया जाय कि वह प्रकृति का प्रतिबिम्ब प्राप्त करने वाला मानव अवयव है तो मानव और दूसरे पशुओ मे कोई गुणात्मक अन्तर नही रह जायेगा। मानव मस्तिष्क मे उच्च कोटि की विचारशक्ति है, इसी से उसकी सृजनात्मक भूमिका उत्पन्न होती है। मानव मस्तिष्क केवल देखता ही नही वह सिद्धान्तो को स्थिर करता है और उनको व्यवहार मे लाता है। यह मानव

की तर्कशक्ति है जिससे वह ज्ञान का संचय करता है और प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है।

यह मानना उचित नही है कि विचारो मे इतिहास को प्रभावित करने की क्षमता कम होती है। ऐसी स्थिति में यह मानना कि विचार आर्थिक ढाँचे के आधार पर ऊपरी ढाँचा मात्र है एक अन्य भ्रम मात्र है। इस प्रकार के सिद्धान्त मे यह माना जाता है कि किसी भी आर्थिक व्यवस्था मे जो विचार होते हैं वे आर्थिक व्यवस्था से ही उत्पन्न होते हैं। यह सिद्धान्त भी समान रूप से अनुचित है। विचार केवल समाज में व्याप्त आर्थिक सम्बन्धों से ही उत्पन्न नही होते वरन् उन पर वर्तमान के साथ ही पुराने विचारो का भी प्रभाव होता हैं। दर्शन के समस्त इतिहास मे इस बात को हम देख सकते हैं कि प्राकृतिक और समाज विज्ञान के क्षेत्र मे पुराने दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने किस प्रकार बाद के विचारों को प्रभावित किया है। इसमें सन्देह नही कि विचारो का उल्लेख करते समय तत्कालीन सामाजिक और प्राकृतिक परिस्थितियों का उल्लेख किया जाता है। विचारों में उनके अध्ययन से परिवर्तन किया जाता है लेकिन वह परिवर्तन केवल अपने समय की परिस्थितियों से उत्पन्न नहीं माना जाता और न उनका निष्कर्ष उनसे निकाला जाता है। मार्क्स के विचारो से भी विचारों को केवल ऊपरी ढाँचा मानने की बात सिद्ध नही होती। मार्क्स के विचार केवल ऊपरी ढाँचा नहीं थे क्योंकि उनका उस समय की प्रचलित पूँजीवादी व्यवस्था से विरोध था। दूसरे, उनके विचार उनके पहले के विचारकों के विचारों से प्रभावित थे।

विचारो को आर्थिक सम्बन्धों के मूल ढाँचे पर आधारित ऊपरी ढाँचा मानने मे तीसरी भ्रान्ति भी है। उसके अनुसार यह माना जाता है कि ऊपरी ढाँचा सैद्धान्तिक और मानसिक है जबकि आर्थिक ढाँचा भौतिक होता है। लेकिन वास्तविक स्थिति ऐसी नही है। मार्क्स के अनुसार भी आर्थिक व्यवस्था मे केवल उत्पादन के साधन, भूमि, कारखाना और मशीन ही नही होते। उनमे उत्पादन के साधनों का स्वामित्व भी निहित होता है। स्वामित्व ऐसी सामाजिक परम्परा पर आधारित विचार है जिनको कानून का रूप दिया जाता है। स्वामित्व की भावना और उनके कानून का आधार भी सैद्धान्तिक है। इस बात का कोई कारण नही है कि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के विचार को नैतिक मूल्यो से अधिक महत्व दिया जाय, जिनके आधार पर स्वामित्व की व्यवस्था मे परिवर्तन किया जा सकता है।

उत्पादन के साधनो को विचारों से अधिक महत्त्व देना इतिहास के विरुद्ध है। उत्पादन के साधनो को किसने बनाया? जैसा मानवेन्द्रनाथ राय कहा करते थे

कि उत्पादन का सबसे बड़ा साधन मानव का मस्तिष्क है क्योंकि उसमें वे विचार उत्पन्न होते हैं जिनके द्वारा वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है और जीवन में सफलता प्राप्त करता है।

उत्पादन के साधनों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मानवेन्द्रनाथ राय का कथन है, सामाजिक विकास का इस सिद्धान्त में कि वह उत्पादन के साधनों के विकास से निर्धारित होता है, *एक प्रश्न उठता है कि उत्पादन के साधनों को किसने बनाया और कैसे बनाया ?* ('रीजन, रोमैंटिसिज्म एण्ड रेवोल्यूशन', भाग दो, पृष्ठ 285) इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा, "इस बात की कल्पना की जा सकती है कि किस प्रकार वनमानुष जैसे बन्दर के मस्तिष्क में यह विचार आया होगा कि पेड़ की टहनी तोड़ कर उससे फल को तोड़ा जा सकता था बजाय इसके कि वह पेड़ पर चढ़ कर फल को पाने का प्रयास करे। इस प्रकार प्राणी के अवयव से भिन्न एक औजार बनाया गया होगा। बाहरी साधन के द्वारा उस जीव ने अपनी बाहों को लम्बा करने का प्रयास किया। इस प्रयास में मानव के शारीरिक विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप न होकर उसमें प्राकृतिक साधनों के उपयोग की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। उससे यह विकास प्राणीगत विकास क्रम से भिन्न हो गया। इस प्रकार उत्पादन का साधन न तो आर्थिक निश्चयवाद से होता है और न उसका उत्पादन किसी आधिभौतिक शक्ति ने किया। शारीरिक विकास की प्रक्रिया में जो अन्तर हुए वे भौतिक शारीरिक क्रिया से होते हैं उन्हें आर्थिक आधार पर उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। उत्पादन का पहला औजार ऐसे पशु ने उत्पन्न किया जिसका मस्तिष्क उन्नत हो गया था। मानव के पुराने रूप में उस प्राणी के मस्तिष्क में विचार उत्पन्न हुआ होगा, उसको उसकी शारीरिक प्रक्रिया का प्रतिफल ही कहा जा सकता है। उस प्रकार के विचार से उत्पादन का प्रारम्भिक साधन उत्पन्न हुआ होगा। वह औजार मानव के शरीर और उसके अवयव से भिन्न औजार था जिसको आदिमानव ने अपने अस्तित्व के संघर्ष की प्रक्रिया में विकसित किया। उससे मानव से पूर्व मानव के शारीरिक विकास के लिए मौलिक इच्छा उत्पन्न हुई होगी। (रीजन, रोमैंटिसिज्म एण्ड रेवोल्यूशन, भाग दो, पृष्ठ 285)।

मौलिक मानववाद भौतिकवादी दर्शन अथवा एक सत्तावादी प्रकृतिवाद के अनुरूप इतिहास में विचारों की निर्णायक भूमिका स्वीकार करता है। इस प्रकार मौलिक मानववाद भौतिकवादी दर्शन में उन बातों को समाहित कर लेता है जिनमें भाववादी दर्शन की सकारात्मक बातें हैं। मौलिक मानववाद भाववादी दर्शन के ज्ञान सिद्धान्त-तत्त्वदर्शन को, स्वीकार नहीं करता है। वह न तो

इन्द्रियेतर श्रेणी के ज्ञान को स्वीकार करता है और न यह मानता है कि मानव मस्तिष्क बाह्य वास्तविकता से ज्ञान अर्जित नहीं कर सकता है। वरन् वह यह दावा करता है कि विचार मानव मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार उनका अस्तित्व भौतिक है और विचारों से मानव में अपने भविष्य के निर्माता होने की क्षमता उत्पन्न करता है।

मानव मूल्यों के आधार पर सामाजिक क्रान्ति

प्राचीन काल मे मानव समुदायो मे जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए होगे उनके सम्बन्ध मे ऐतिहासिक साक्ष्य पर्याप्त रूप से उपलब्ध न होने से उनका आकलन हम नही कर सकते हैं। फिर भी दो प्रकार की क्रान्तियाँ, जो 18वीं और 19वी शताब्दी मे यूरोप मे हुई–लोकतान्त्रिक क्रान्ति और कम्युनिस्ट क्रान्ति जो रूस, चीन और कुछ अन्य देशों मे हुई है, उनके सम्बन्ध मे पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है।

मानवेन्द्रनाथ राय का कथन है कि सामाजिक क्रान्ति के पहले विचारो की क्रान्ति (दार्शनिक क्रान्ति) होनी अपरिहार्य है। इस कथन की पुष्टि लोकतान्त्रिक और कम्युनिस्ट दोनो प्रकार की क्रान्तियो के इतिहास से होती है। लोकतान्त्रिक क्रान्ति मे उसकी सकारात्मक भूमिका थी तो कम्युनिस्ट क्रान्ति के सम्बन्ध मे वह भूमिका नकारात्मक थी।

18वी और 19वी शताब्दी मे यूरोप मे जो लोकतान्त्रिक क्रान्तियाँ हुई उन्होंने सामन्तवाद को नष्ट कर पूँजीवाद की स्थापना की। यही कारण है कि कम्युनिस्ट साहित्य मे उस क्रान्ति को पूँजीवादी लोकतान्त्रिक क्रान्ति का नाम दिया जाता है। लेकिन महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह केवल आर्थिक क्रान्ति नही थी। उस क्रान्ति से आधुनिक लोकतन्त्र का जन्म हुआ और स्वतन्त्रता के आधार पर नयी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की गयी। उससे व्यापक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन हुए। यह इसीलिए सम्भव हुआ कि वह सांस्कृतिक-दार्शनिक क्रान्ति के आधार पर हुई थी।

यूरोप मे जो नवजागरण आन्दोलन 14वी शताब्दी के उत्तरार्ध और 16वी शताब्दी के पूर्वार्ध तक करीब दो सौ वर्ष पहले शुरू हुआ था उससे ही सामाजिक परिवर्तन आरम्भ हुआ। वह *आन्दोलन ईश्वर के विरूद्ध मानव का विद्रोह था* और विश्वास के स्थान पर तर्क को आधार बनाया गया था। उसके बाद मे चर्च (गिरजाघर) के सुधार आन्दोलन शुरू हुए और 18वी शताब्दी में यूरोप में ज्ञान के प्रसार का गौरवशाली युग शुरू हुआ। इनसे राजा के ईश्वरीय अधिकार का विश्वास समाप्त हो गया और सामन्तवाद का सांस्कृतिक आधार नष्ट हो

गया। अन्धविश्वास से मानव आत्मा के स्वतन्त्र होने से विज्ञान का विकास तेजी से हुआ 18 वी और 19 वी शताब्दी मे औद्योगिक क्रान्ति हुई। पूंजीवादी लोकतन्त्रिक क्रान्ति, इंगलैण्ड, फ्रास और अन्य यूरोपीय देशों मे जिस प्रकार हुई उससे ही सामाजिक परिवर्तन पूरी तौर से हुए।

नवजागरण आन्दोलन, जिससे पृथ्वी का रूप ही बदल गया, उसको केवल आर्थिक निश्चयवाद के सिद्धान्त से समझाया नहीं जा सकता। सामन्तवादी समाज मे जो छोटा व्यापारिक वर्ग विकसित हो रहा था, केवल उसको नवजागरण आन्दोलन का निर्माता और प्रेरणा देने वाला नही माना जा सकता। नवजागरण के विचार चर्च-गिरजाघरो और मठो के विचारको और दार्शनिको ने विकसित किये थे, जो प्राचीन यूनान की सभ्यता के मानववादी और विवेक सम्मत विचारो से प्रभावित थे। विकसित व्यापारिक मध्यम वर्ग ने नवजागरण आन्दोलन से लाभ उठाया, लेकिन वह उस आन्दोलन का जनक नही था।

यूरोपीय नवजागरण के इतिहास को बताते हुए मानवेन्द्रनाथ राय ने कहा, "इस तथ्य से नवजागरण आन्दोलन के समय व्यापारिक मध्यम वर्ग के विकास से यह निष्कर्ष निकाला गया कि व्यक्तिवाद और मानववाद पूंजीवादी वर्ग के सिद्धान्त है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह सही नही है। नवजागरण मानव का पुनरुत्थान था, उसके द्वारा प्राचीन यूनानी और रोम की प्रतिमा पूजक संस्कृति की परम्परा को अपनाने का प्रयास किया गया था। नवजागरण ने 'सोफिस्टो', 'इपीक्यूरियनो', 'स्टोइको' जैसे यूनानी दार्शनिको और ईसाई धर्म के प्रारम्भिक विचारों के आधार पर व्यक्ति की प्रतिष्ठा और उसकी सार्वभौमसत्ता के अधिकार का समर्थन किया था। मध्य युग की आर्थिक परिस्थितियों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यापारिक वर्ग के उदय और नवजागरण आन्दोलन मे कारण-कार्य सम्बन्ध नही था और मानववादी व्यक्तिवाद केवल ऊपरी ढांचा मात्र नही था और न किसी विशेष अर्थव्यवस्था के आधार पर उसका विकास सिद्ध किया जा सकता है।" (रीजन रोमैंटीसिज्म एण्ड रेवोल्यूशन, भाग I पृष्ठ 65)

1946 के दिसम्बर मास मे मानवेन्द्रनाथ राय ने अपने एक भाषण मे नवजागरण और सुधारवाद दोनों की उत्पत्ति की समीक्षा की थी। नवजागरण आन्दोलन के आरम्भ होने के सम्बन्ध मे उन्होने कहा, "उस समय जेनोवा बहुत सम्पन्न व्यापारिक गणतन्त्र था, उसमे नवजागरण का कोई नेता पैदा नही हुआ। वहाँ मानववादी विचारो का भी प्रभाव नही था। वेनिस नगर की भी बाद के नवजागरण के पहले यही स्थिति थी। इनके विपरीत फ्लोरेंस, जहाँ नवजागरण

के बड़े नेता उत्पन्न हुए वहाँ व्यापारिक गणतन्त्र नहीं था। मेडीसी स्वयं पूँजीपति नही था और सामाजिक दृष्टि से वह मध्ययुगीन-वाद का शास्त्रीय प्रतिनिधि था। उस समय नवजागरण मानववाद और विकासशील पूँजीवादी वर्ग मे कोई सम्बन्ध नही था। उन पूँजीवादियो ने नवजागरण का समर्थन नही किया। इसी आधार पर कुछ आधुनिक समाजशास्त्रियो ने नवजागरण आन्दोलन को अभिजात्य-वर्गी आन्दोलन के रूप मे प्रतिक्रियावादी वतलाया है।" ('वियाण्ड कम्युनिज्म', द्वितीय संस्करण, जनवरी, 1981 पृष्ठ 40)

सुधारवाद के आन्दोलन के सम्बन्ध मे मानवेन्द्रनाथ राय का कहना है कि "सुधारवाद के नेता काल्विन और लूथर को पूँजीपतियो का प्रतिनिधि कहा जाता है। लेकिन तथ्य इसके विपरीत है। पूँजीवादी लोग सुधारवाद के भी विरुद्ध थे। फ्रास में सुधारवादी आन्दोलन सेना के छोटे अधिकारियों का विद्रोह था, जो ज्यादातर सामन्ती अभिजात्य कुलो के लोग थे। वित्तीय हितों के प्रभाव मे शासको को इटली का युद्ध समाप्त करना पड़ा था। सेना के हजारो अधिकारियो को अपनी नौकरियो से हाथ धोना पड़ा था। उन लोगों ने "ह्यूगनाट" सुधारवादी आन्दोलन की सख्या वढ़ा दी। पूँजीवादियो ने उस आन्दोलन का दमन किया। जर्मनी मे रोम के विरुद्ध लूथर के विद्रोह का समर्थन वहाँ के सामन्ती राजकुमारो ने किया था, जो 'होली रोमन' साम्राज्य से अलग होना चाहते थे। जब सत्ता पूँजीवादियो के हाथ मे आयी तो वे लोग केवल उत्पादन के साधनो पर अपने स्वामित्व को अपनी स्थिति सुदृढ़ वनाने के लिए पर्याप्त नही समझते थे। उन्हे अपने राज्य के लिए धार्मिक मान्यता की आवश्यकता पडी। उन्होने काल्विन और लूथर के विचारो का उपयोग इसी उद्देश्य से किया। उन लोगो ने प्रोटेस्टेन्ट ईसाई सम्प्रदाय को अपना धर्म स्वीकार कर लिया।" ('वियाण्ड कम्युनिज्म' द्वितीय संस्करण, जनवरी, 1981, पृष्ठ 41)

फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति का तत्कालिक कारण नवज्ञान और नवचेतना का दर्शन था। नवचेतना और फ्रासीसी राज्यक्रान्ति के पारस्परिक सम्बन्ध के सम्बन्ध मे मानवेन्द्र-नाथ राय ने यह विचार व्यक्त किये हैं, "नवचेतना फ्रासीसी राज्यक्रान्ति का प्रभावशाली कारण था और नवचेतना के दर्शन का मूल स्रोत 12 वी शताब्दी के बौद्धिक नवजागरण मे देखा जा सकता है, यदि कोई व्यक्ति उसके पूर्व के मानव के आत्मिक विकास क्रम में उसे नही ढूंढना चाहता है। 18 वी शताब्दी का भौतिकवादी दर्शन विकासशील पूँजीवाद का दर्शन नही था, जिस प्रकार नवचेतना पूँजीवाद का सैद्धान्तिक आन्दोलन नही था।" (रोजन, रोमैंटीसिज्म एण्ड रेवोल्यूशन प्रथम भाग, पृष्ठ 258-259)।

इस प्रकार 18वीं और 19वीं शताब्दियों के पूंजीवादी लोकतान्त्रिक क्रान्तियों का मार्ग, नवजागरण आन्दोलन के प्रभाव से उत्पन्न दार्शनिक क्रान्ति ने प्रशस्त कर दिया था। यही कारण है कि उन क्रान्तियों को केवल सामन्तवाद के स्थान पर पूंजीवाद को लाना भर नही था। उनका मुक्तिदायी प्रभाव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे अनुभव किया गया। इस बात को निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि मानव जाति की प्रगति में उनका महत्वपूर्ण योगदान है।

सोवियत रूस, चीन और दूसरे देशों के बाद की कम्युनिस्ट क्रान्तियाँ, लोकतान्त्रिक क्रान्तियों से भिन्न हैं। इन कम्युनिस्ट क्रान्तियों के पहले मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के सैद्धान्तिक आन्दोलन चले थे। इस सिद्धान्त का उद्भव सर्वहारा वर्ग ने नही किया और न मार्क्स या एंगेल्स और न ही लेनिन श्रमिक वर्ग के थे। उनके विचार ज्यादातर पहले के विचारकों के विचारों और तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति के प्रभाव से उत्पन्न हुए थे। उक्त दोनों क्रान्तियों मे जो महत्वपूर्ण अन्तर है, वह यह कि नये क्रान्तिकारी विचारों से नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों को अलग रखा गया। यथार्थ यह है कि इन समाजवादी विचारकों ने नैतिक और सांस्कृतिक आधार पर की गयी समाजवाद की व्याख्या को "काल्पनिक" बतलाया। इसके परिणामस्वरूप कम्युनिज्म केवल आर्थिक व्यवस्था मात्र रह गया और उसमें सांस्कृतिक भाव का अभाव हो गया। कम्युनिस्ट क्रान्तियों में नैतिक मूल्यों का भी आधार नही है।

अतः यह कोई आश्चर्यजनक बात नही है कि कम्युनिस्ट क्रान्तियाँ सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े और अर्द्धविकसित देशों मे हुई है। यह भी आश्चर्यजनक नही है कि इन क्रान्तियों की सफलता के बाद अनिश्चित अवधि तक तानाशाही स्थापित हुई और उनके शासनकाल मे 'राज्य' के तिरोहरण की बात समाप्त हो गयी और उन तानाशाही राज्यो के अन्तर्गत नागरिकों को नागरिक अधिकारों जिनमें अभिव्यक्ति का भी अधिकार शामिल है, उनसे वञ्चित होना पड़ा। 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' मे कार्लमार्क्स और एंगेल्स ने यह आशा व्यक्त की थी कि कम्युनिस्ट क्रान्ति की सफलता के बाद "हम लोग ऐसा संगठन बनायें, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का मुक्त रूप से विकास होगा, इसी आधार पर सबका विकास होगा", उनकी यह आशा असफल रही है। इस प्रकार कम्युनिज्म की विजय हो गयी, लेकिन मार्क्स-वाद असफल रहा है।

ऊपर हमने यह देखा है कि लोकतान्त्रिक क्रान्तियों से मानव की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता को काफी प्रोत्साहन मिला है। यही बात कम्युनिस्ट क्रान्तियों के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती है। कम्युनिज्म के अन्तर्गत पूंजीवादी राज्यों मे प्राप्त राजनीतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता नष्ट कर दी गयी है।

कम्युनिस्ट देशों में जो आर्थिक व्यवस्था स्थापित की गयी है वह भी मानववाद के विरुद्ध है। उसे समाजवाद के बजाय राज्य पूँजीवाद कहना अधिक संगत होगा। आर्थिक सत्ता को पूँजीवादी वर्ग से छीनकर सफल राजनीतिज्ञों के वर्ग के हाथ सौंप दिया गया है। विचारोपरान्त यह प्रतीत होता है कि कम्युनिस्ट क्रान्तियाँ नकारात्मक है।

समाजवाद ऐसी आर्थिक संस्था है जो समाज के सभी व्यक्तियों को समान रूप से लाभ पहुँचाती है। समाजवादी अर्थव्यवस्था उस दशा मे सफल हो सकती है जब समाज मे समाजवादी मानव मूल्य व्याप्त हो। हमने पिछले अध्याय (अध्याय बारह) मे देखा है कि किसी संस्था की उपयोगिता इस पर है कि वह उसमे काम करने वाले व्यक्तियों और जिनके लाभ के लिए वह काम किया जाता है, उनके लिए कितनी लाभप्रद है। यदि सम्बन्धित लोग उन मूल्यो मे विश्वास नही करते जिनका होना संस्था के लिए आवश्यक है, ऐसी संस्था से कोई लाभ नही होगा। समाजवादी अर्थव्यवस्था तब तक ठीक से काम नही कर सकती जब तक पर्याप्त संख्या मे लोग उसके नैतिक मूल्यों–स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व–मे विश्वास न करते हो और वे विवेकपूर्ण, धर्मनिरपेक्षता और आत्मनिर्भरता से न काम करते हो। जब समाज मे सास्कृतिक परिवर्तन हो जाता है तो उसके आधार पर नये सामाजिक मूल्य उत्पन्न हो जाते हैं। और जब उनके परिणामस्वरूप सामाजिक क्रान्ति होती है और क्रान्ति के बाद नयी आर्थिक व्यवस्था स्थापित होती है तो समाजवादी अर्थव्यवस्था सफलतापूर्वक काम करती है। यदि समाजिक संस्थाओ को अपने उद्देश्य की पूर्ति करनी है तो उसके पहले अनुकूल मूल्यों का अपनाया जाना आवश्यक है। इसी कारण इस बात पर जोर दिया जाता है कि सामाजिक क्रान्ति के पहले दार्शनिक क्रान्ति होनी चाहिए, जिनसे भावी समाज के नैतिक मूल्यों का सृजन हो सके। इन मूल्यो से क्रान्ति की भावना को प्रोत्साहन मिलेगा और उनके आधार पर क्रान्ति की सफलता के बाद बनने वाली संस्थाओ को सफलतापूर्वक चलाया जा सकेगा।

इतिहास का दर्शन

मौलिक मानववादी इतिहास दर्शन (इतिहास शास्त्र) को मार्क्सवाद से उसके अन्तर के आधार पर उसे समझा जा सकता है।

मार्क्सवादी इतिहास दर्शन आर्थिक निश्चयवाद को स्वीकार करता है। इस सिद्धान्त मे दो खास बातें हैं, एक उसका चेतनायुक्त नेतृत्व और दूसरी वास्तविक परिस्थिति। चेतना अथवा नेतृत्व वाले अश के सम्बन्ध मे कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो मे कहा गया है कि "अब तक समाज की विभिन्न अवस्थाओ का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।" वास्तविक परिस्थिति के सम्बन्ध मे द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण

प्रकट किया गया है। उसके अनुसार प्रत्येक आर्थिक व्यवस्था मे ऐसी शक्तियाँ जन्म लेती हैं जो उसे नष्ट कर उससे उन्नत प्रकार की आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करती है।

मार्क्सवाद के इतिहास के दर्शन का पहला तत्त्व 'वर्ग संघर्ष' है। इसके अनुसार यह माना जाता है कि सभी व्यक्ति, चाहे वे किसी वर्ग के हों वे आर्थिक प्रेरणा से काम करते हैं। पूँजीवादी समाज मे श्रमिक वर्ग और पूँजीवादी वर्ग अपने वर्ग स्वार्थों के अनुसार आचरण करते है। इसीलिए उनमे लगातार वर्ग संघर्ष चलता रहता है। उनके इस प्रकार के आचरण का कारण आर्थिक हित है।

थोड़ा विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वास्तविक परिस्थिति मे भी मार्क्सवादी इतिहास दर्शन का द्वन्द्वात्मक गुण उपस्थित रहता है। फिर मार्क्स-वाद यह क्यो कहता है कि पूँजीवाद अपने अन्तर्विरोधो से नष्ट हो जायेगा? मार्क्सवाद मे यह स्वीकार किया जाता है कि पूँजीवाद का अन्तर्विरोध इसलिए उत्पन्न होता है क्योकि पूँजीवाद के विकास के साथ, नये कारखानों और अच्छी मशीनो के उपयोग से श्रमिक की उत्पादकता बढ़ती जाती है, लेकिन श्रमिक को इतनी कम मजदूरी दी जाती है कि जिससे वह केवल अपना भरणपोषण कर सके। मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया है कि पूँजीवाद श्रमिक को एक वस्तु मात्र मानता है। उसकी कीमत उसके उत्पादन की कीमत पर आश्रित होती है। श्रमिक की उत्पादन कीमत मे उसके शरीर पोषण के साथ-साथ उसकी श्रमिक को पैदा करने की शक्ति की कीमत भी शामिल है। ऐसी दशा मे पूँजी-वाद मे श्रमिक को केवल इतनी मजदूरी दी जाती है जिससे वह अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके। मार्क्सवाद के अनुसार पूँजीवाद के अन्त-विरोध के रूप मे यह माना जाता है कि पूँजीपति हमेशा श्रमिक को केवल भरण-पोषण लायक मजदूरी देगा और उसके सम्बन्ध मे अपने उपक्रम के लाभ के प्रश्न पर विचार नही करेगा। मार्क्सवादी इतिहास दर्शन के दोनो तत्त्वो–चेतना और वास्तविक परिस्थिति मे यह माना जाता है कि मानव एक आर्थिक जीव है।

मौलिक मानववाद का कहना है कि मार्क्सवाद का यह इतिहास दर्शन केवल अर्ध-सत्य है। मनुष्य आर्थिक प्रेरणाओ से प्रभावित होता है, लेकिन उसकी प्रेरणा का केवल यही स्रोत नही है। मानव को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए रोटी की आवश्यकता होती है, लेकिन उसका जीवन केवल रोटी के लिए नही है। मानव मे मानवता को समझने का प्रयास करने से भिन्न इतिहास दर्शन अपनाने की जरूरत होगी।

सबसे पहले इस बात पर विचार किया जाय कि सम्पूर्ण मानव-इतिहास केवल वर्ग संघर्ष का इतिहास है। यह केवल आंशिक रूप से सत्य है। वैज्ञानिक ज्ञान का सम्पूर्ण विकास, मनुष्य द्वारा आग जलाने के ज्ञान और आधुनिकतम शोध और

अनुसन्धान जिसके द्वारा अन्तरिक्ष भ्रमण सम्भव हुआ है, यह सब वर्ग संघर्ष की परिधि के बाहर है यद्यपि वह निस्सन्देह मानव इतिहास का हिस्सा है। यह बात साहित्य के इतिहास और सभी दूसरी संस्कृतियों और नैतिक प्रयासों के इतिहास पर भी लागू होती है। आर्थिक मसलों में भी मानव की प्रेरणा का स्रोत उसका स्वार्थ सदैव नहीं होता। अनेक मालिकान अपने मजदूरों को मानव स्वीकार करते हैं। मालिक मजदूरों के सम्बन्धों में सहयोग का तत्व भी विद्यमान रहता है और साथ ही अन्तर्विरोध भी।

मानव इतिहास को केवल वर्ग संघर्ष का इतिहास बतलाना अर्द्ध सत्य है। उसे अस्वीकार करके मौलिक मानववाद का कहना है कि समस्त मानव इतिहास मानव का स्वतन्त्रता के लिए किये गये संघर्ष का इतिहास है। स्वतन्त्रता के संघर्ष की समीक्षा हम पिछले (अध्याय आठ) में कर चुके हैं और यह बतला चुके हैं कि प्राणियों के अस्तित्व के संघर्ष के क्रमिक विकास के रूप में स्वतन्त्रता का संघर्ष विकसित होता है। *अतः यह वक्तव्य, कि मानव इतिहास स्वतन्त्रता के संघर्ष का इतिहास है, सत्य की इस आधारशिला पर टिका है कि मानव में अपने अस्तित्व की रक्षा की भावना प्राणियों में व्याप्त अपने अस्तित्व की रक्षा की भावना से मिली है और मानव भी प्राणी जगत की एक जाति है।* इतिहास दर्शन के इस दृष्टिकोण से मानव के अपने शारीरिक अस्तित्व की रक्षा के इतिहास के साथ ही उसके बौद्धिक, कलात्मक और दूसरी नैतिक भावनाओं के इतिहासक्रम पर लागू किया जा सकता है। मार्क्सवादी इतिहास दर्शन के द्वन्द्वात्मक पक्ष पर विचार करने से यह पता चलेगा कि इतिहास ने इसको अस्वीकार कर दिया है। आधुनिक समय में विकसित पूंजीवादी देशों में श्रमिक को कम मजदूरी—केवल भरणपोषण भर के लायक मजदूरी ही नहीं दी जाती है। कभी-कभी वहाँ के श्रमिक की मजदूरी विकासशील समाजों के विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों के वेतन के समान होती है। वास्तव में विकसित पूंजीवाद में अब एक दूसरे विरोधी किस्म का अन्तर्विरोध उत्पन्न हो रहा है। श्रमिकों के संगठित संघ इतने शक्तिशाली हो गये हैं कि वे कभी-कभी श्रम की उत्पादकता से भी अधिक मजदूरी पाने के लिए संघर्ष करते हैं और उसे पाने में सफल भी हो जाते है। इससे पूंजीवाद में मूल्य और मुद्रा की निरन्तर वृद्धि का संकट उत्पन्न हो जाता है। जैसा कि पहले के अध्याय में कहा जा चुका है कि पूंजीवाद की अर्थव्यवस्था अत्यन्त असन्तोषजनक है और उसके स्थान पर उससे अच्छी अर्थव्यवस्था को अपनाने की आवश्यकता है। जो भी हो पूंजीवाद के इतिहास से मार्क्सवादी इतिहास दर्शन की पुष्टि नहीं होती है।

सामाजिक विकास में द्वन्द्वात्मक नियम के सम्बन्ध में मौलिक मानववाद की यह मान्यता है कि इतिहास केवल आर्थिक प्रेरणाओं से नहीं बनता है वरन् उस पर

सांस्कृतिक और नैतिक विचारों का भी प्रभाव पड़ता है। अन्य इच्छाओं और सोचे-विचारे विचारो दोनों से इतिहास का निर्माण होता है। सामाजिक विकास और विचारो का विकास समानान्तर ढग से चलता है और दोनो परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। विचार भी सामाजिक घटनाओं को प्रभावित करते हैं और सामाजिक घटनाओं से वे बनते भी हैं।

मौलिक मानववाद के इतिहास दर्शन के सम्बन्ध मे, मौलिक मानववाद के दो सिद्धान्त-सिद्धान्त 6 और सिद्धान्त 15 उल्लेखनीय है जो उसके 22 सिद्धान्तों मे शामिल है। वे इस प्रकार है :—

सिद्धान्त–6

परिस्थितियों की चेतना प्रक्रिया से, जो शारीरिक प्रक्रिया भी है, विचारों का जन्म होता है, लेकिन एक बार विचार के जन्म के बाद उस विचार का अस्तित्व हो जाता है और फिर वह अपने नियमो से ही नियन्त्रित होता है। विचारो की प्रगतिशीलता सामाजिक विकास प्रक्रिया के समानान्तर रूप से चलती है और वह एक दूसरे को परस्पर प्रभावित करती है। लेकिन मानव विकास क्रम मे किसी एक विशेष स्थिति मे ऐतिहासिक घटनाओ और विचारों के आन्दोलन के सम्बन्ध को निश्चित रूप से नही बताया जा सकता। (विचार का यह प्रयोग, सामान्य दार्शनिक अर्थ मे सिद्धान्त अथवा विचार पद्धति के अर्थ मे किया गया है) सांस्कृतिक स्वरूप और प्रतिमूल्य केवल सैद्धान्तिक ऊपरी ढांचा नही है जो आर्थिक सम्बन्धो के आधार पर बना है। उनका निर्धारण ऐतिहासिक है और विचारों के इतिहासपरक तर्क से उनका निर्धारण होता है।

सिद्धान्त–15

क्रान्तिकारी और स्वतन्त्रता दिलाने वाले सामाजिक दर्शन का मुख्य काम यह है कि वह इतिहास के इस आधारभूत सत्य पर जोर दे कि मानव अपने ससार का निर्माता है। वह विचारशील प्राणी है और वह व्यक्ति के रूप मे इन गुणो से युक्त है। मानव का मस्तिष्क उसका प्रधान उत्पादन का साधन है और उससे सबसे क्रान्तिकारी वस्तु उत्पन्न होती है। क्रान्ति के पहले ऐसे विचारो का होना नितान्त आवश्यक है जो मान्य सिद्धान्तो के आलोचक हो।

जब अधिक से अधिक व्यक्ति अपनी इस सृजनात्मक शक्ति के प्रति सजग हो जाते है और उनमें ससार के पुनर्निर्माण की अदम्य प्रेरणा उत्पन्न होती है और विचारो से वे अनुप्राणित होते है तथा स्वतन्त्र व्यक्तियो के समाज की रचना के आदर्श की भावना अपने मे प्रज्ज्वलित कर लेते है तो वे ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर सकते है जिसमे लोकतन्त्र को सम्भव बनाया जा सके।

मानववादी क्रान्ति का मार्ग

वर्तमान संसार को भौतिक मानववाद के आधार पर बीसवीं शताब्दी के नवजागरण की आवश्यकता है। इसके द्वारा व्यक्तियों में नैतिक मूल्यों का प्रसार करके उनके आचरण-व्यवहार का प्रसार किया जा सकेगा। इन मूल्यों के आधार पर उपयुक्त राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संगठनों को स्थापित किया जा सकेगा और उनके द्वारा नैतिक मूल्यों और आचरण को अभिव्यक्त किया जा सकेगा।

इस दूसरे नवजागरण आन्दोलन की यह विशेषता होगी कि इसके द्वारा मानव के अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर जोर दिया जायेगा। यह आकांक्षा मनुष्य को प्राकृतिक विकास में प्राणी के अस्तित्व की आकांक्षा से प्राप्त हुई है। इस प्रकार मानव की जीवन की क्षमता और जीवन की आकांक्षा मानव के स्वभाव में निहित है चाहे वह उसे जानता हो या न जानता हो। सभी प्रकार के समुदायवादी और अधिनायकवादी सिद्धान्त मानव की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नष्ट करने वाले हैं अतः इसी आधार पर उनका विरोध होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि मानव की तर्कशक्ति और उसकी विचार शक्ति, उसे यह शक्ति प्राणी जाति की विकास प्रक्रिया से प्राप्त हुई है। उसमें प्राकृतिक वातावरण में अनुकूल रहने की शक्ति भौतिक-निश्चयवाद से और मानव की अपनी विकास प्रक्रिया मिलती है। तर्कशक्ति से मानव ज्ञान प्राप्त करता है और उसमें आत्मनिर्भरता तथा अन्य मानवों के सहयोग से आवश्यक सामाजिक नैतिक मूल्यों को अपनाने तथा स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सहायता मिलती है। विवेक के आधार पर चलने वाले आन्दोलन में तर्क की सर्वोच्च शक्ति को स्वीकार किया जाता है और इसे सभी प्रकार के अन्धविश्वासों, धर्मान्धता और सामाजिक अज्ञान का विरोध करना चाहिए। तीसरी बात जिस पर जोर दिया जाना चाहिए उसमें यह आवश्यक है कि इस बात पर विशेष आग्रह किया जाय कि मानव की सभी नैतिक इच्छाएँ उसकी प्राणीगत विकास प्रक्रिया से उसे प्राप्त हुई हैं। इनके लिए किसी धार्मिक विश्वास की आवश्यकता नहीं है और समाज में नैतिक स्तर का उत्थान तर्क के विकास पर निर्भर करता है। वैज्ञानिक ढंग से स्वतन्त्रता, विवेक और धर्मनिरपेक्ष नैतिक मूल्यों के आधार पर विकसित मानववादी नवउत्थान की आवश्यकता आज समूचे संसार को है।

मानवमूल्यों के आधार पर चलने वाले इस आन्दोलन को लोकतान्त्रिक जीवन-स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के मूल्यों के प्रचार से शक्तिशाली बनाया जा सकता है। सभी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं द्वारा इन मूल्यों का अनुसरण किया जाना चाहिए।

इन सस्थाओ मे मानववादी प्रेरणा का समान स्रोत होते हुए भी विभिन्न देशो मे उनका भिन्न भिन्न रूप होगा। राजनीतिक सविधान मे ऐसा संशोधन होना चाहिए जिससे सत्ता का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण हो और नागरिकों को उपयुक्त स्थानीय गणतान्त्रिक इकाइयों द्वारा उसमे सक्रिय भाग लेने का अधिक अवसर प्राप्त हो। पूँजीवादी व्यवस्था के अतिशय अर्थवाद और कम्युनिस्ट व्यवस्था के अतिशय केन्द्रीकरण के स्थान पर सहकारिता के सिद्धान्त के आधार पर अर्थव्यवस्था का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। जातियों, समुदायो और उप-जातियो के पारस्परिक सम्बन्ध मानववादी मूल्यों के आधार पर होने चाहिए। परिवार के सदस्यों के सम्बन्ध भी ऐसे ही होने चाहिए। शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे व्यक्तियों मे आलोचनात्मक बुद्धि और नैतिक सवेदनशीलता को प्रोत्साहित किया जा सके।

मानववादी नवजागरण को लाने के लिए सभी देशों मे एक ही प्रकार के व्याव-हारिक कदम नही होगे। ससार के विभिन्न क्षेत्रो के देशो में आन्तरिक स्थिति मे अन्तर रहेगा। प्रथम इस समय मे पश्चिमी पूँजीवादी देशो मे जहाँ ससदीय लोकतान्त्रिक व्यवस्थाएँ हैं और जहाँ नागरिक अधिकारों का कमोवेश संरक्षण है। दूसरे वे कम्युनिस्ट देश है जहाँ की अर्थव्यवस्थाओ का राष्ट्रीयकरण हो चुका है और वहाँ अभिव्यक्ति और विरोधी मत की अभिव्यक्ति और संगठन की स्वतन्त्रता नही है। तीसरी श्रेणी मे तीसरी दुनिया के वे अधिनायकवादी देश हैं जो एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका मे हैं। भारत और तीसरी दुनिया के कुछ अन्य देश हैं जहाँ कमजोर और अस्थिर लोकतन्त्र बना हुआ है, ऐसे देश चौथी श्रेणी मे रखे जा सकते हैं।

भारत और चौथी श्रेणी के अन्य देशो के सदर्भ मे हम मानववादी क्रान्ति के लिए उठाये जाने वाले व्यावहारिक कदमो की परीक्षा करेंगे। अन्य देशों के मानव-वादी अपने-अपने देशो के लिए उपयुक्त कदम स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार उठायेंगे जिनसे मानववादी नवजागरण आन्दोलन को प्रोत्साहन मिलेगा।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि तीसरी दुनिया मे भारत की स्थिति अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। यदि भारत के लोकतन्त्र को मौलिक मानववाद के सिद्धान्तो के अनुसार, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक लोकतन्त्र का रूप दिया जा सके तो तीसरी

दुनिया मे, जहाँ इस समय अधिनायकवादी शासन है, लोकतन्त्र पुनर्जीवित और सुदृढ़ किया जा सकेगा। इसके विपरीत यदि भारत मे लोकतन्त्र का ह्रास होता है तो उससे तीसरी दुनिया के देशों मे अधिनायकवाद की शक्तियाँ मजबूत होगी।

क्रान्ति का कम्युनिस्ट मार्ग

हम क्रान्ति शब्द का प्रयोग इस अर्थ में करते हैं कि उसके द्वारा समाज का मूल ढांचा बदला जाता है। अतः हम राजमहलो की उन क्रान्तियों को क्रान्ति नही मानते जिनके द्वारा एक अधिनायकवादी शासक का स्थान वैसा ही दूसरा शासक ले लेता है। तीसरी दुनिया के जिन देशों में द्वितीय महायुद्ध के बाद नयी स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हुई और लोकतन्त्र स्थापित हुए और वहाँ वे अधिनायकवादी शासन मे बदल गये उनको भी हम 'क्रान्ति' नही कहते हैं। ऐसे परिवर्तन को तो क्रान्ति विरोधी प्रतिगामी क्रान्ति कहना हम उचित मानते हैं। यदि क्रान्ति का अर्थ समाज का आमूल परिवर्तन करना है तो उसका मानववादी मार्ग के *अतिरिक्त एक अन्य मार्ग कम्युनिस्ट मार्ग है जिसके द्वारा क्रान्ति को सम्पन्न किया* जा सकता है।

कुछ समय पहले तक कम्युनिस्टों की यही धारणा थी कि क्रान्ति को सफल बनाने के लिए सत्ता पर जबरन अधिकार करना आवश्यक है, वे मतदान (बैलट बॉक्स) के द्वारा क्रान्ति को लाने मे विश्वास नही करते थे। सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सत्ता के अधिग्रहण की सम्भावनाएँ घट गयी हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि राज्य की सैनिक शक्ति फ्रांसीसी अथवा रूसी राज्य क्रान्ति के समय की सैनिक शक्ति से बहुत अधिक हो गयी है। आज भाले-बर्छी, पिस्तोल और बन्दूक के प्रयोग से आधुनिक राज्यसत्ता को नष्ट नही किया जा सकता है। आज की परिस्थिति मे अर्द्धविकसित पिछडे देश मे, जहाँ शासन पूरी तरह विघटित है और उसकी सैन्य शक्ति क्षीण है, वही सशस्त्र कम्युनिस्ट क्रान्ति की सम्भावना हो सकती है। ऐसे देशों मे सशस्त्र क्रान्ति को तभी सफल बनाया जा सकता है जब उसे मित्र कम्युनिस्ट देश से सैनिक सहायता मिल सके। मानवेन्द्रनाथ राय ने इस प्रक्रिया को 'रेड नैपोलियनिज्म' की सज्ञा दी थी। यह ज्ञात है कि फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति की सफलता के बाद यूरोप के कुछ देशो में भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था उस समय स्थापित हुई जब वहाँ नैपोलियन की सेनाएँ पहुँची थी। इस प्रकार की भूमिका कम्युनिस्ट सेनाएँ आज भी पिछड़े देशों मे पूरी कर सकती हैं। फिर भी यह बात स्पष्ट है कि इस प्रकार जो शासन स्थापित होते है वे अधिकतर अधिनायकवादी रूप के होते हैं। पिछले अध्याय में दिये गये तर्कों से हम देख चुके हैं कि ऐसी क्रान्तियो का स्वरूप *नकारात्मक ही अधिक* होता है।

अधिक उन्नत देशों में जहाँ शासन अपेक्षतः स्थिर है वहाँ कम्युनिस्ट मतदान द्वारा सत्ता में आने के अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं। इन देशों में उनकी सफलता की सम्भावना कम है। उन्नत पश्चिमी लोकतन्त्रों में जहाँ इस बात की आशंका है कि कम्युनिस्ट चुनाव के द्वारा सत्ता में आ जाने पर वहाँ भी अधिनायकवादी शासन स्थापित करने का प्रयास करेंगे, इस आशंका से भयभीत नागरिकों का बहुमत कम्युनिस्ट प्रत्याशियों के विरुद्ध हो जाता है। दूसरी ओर भारत जैसे विकासशील देश में जहाँ लोकतन्त्र अब तक कमजोर और अस्थिर है, वहाँ कम्युनिस्टों के सत्ता में आने के खतरे से क्रान्तिविरोधी शक्तियाँ उत्तेजित हो जाती हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि कम्युनिस्ट पार्टियों की प्रगति जनता में लोकतान्त्रिक मूल्यों के प्रसार के आधार पर नहीं है। जब तक मतदाता को लोकतान्त्रिक मूल्यों से अवगत नहीं कराया जाता तब तक कम्युनिस्ट और दूसरी पार्टियों के उम्मीदवार जनता के बीच में लुभावने लोकप्रिय वादों के आधार पर अपना चुनाव प्रचार करते हैं। ऐसी स्थिति में उच्च वर्गों की सत्तारूढ़ प्रतिक्रियावादी पार्टी के सामने कम्युनिस्ट विजय का खतरा बढ़ने पर वह दिखाऊ लोकतन्त्र का ऊपरी आवरण छोड़ कर अधिनायकवादी शासन का रूप ग्रहण करने में सकोच नहीं करती है। यदि कभी किसी भाँति सत्ता में आ जाएँ तो वे भी लोकतन्त्र को छोड़कर अपनी तानाशाही स्थापित करने में सकोच नहीं करेंगे। उनकी तानाशाही प्रतिक्रियावादी तानाशाही की तुलना में कम प्रतिक्रियावादी होगी, लेकिन उसके द्वारा लोकतान्त्रिक आकाक्षाओं को पूरा नहीं किया जा सकेगा। एक बार अधिनायकवादी तानाशाही के स्थापित हो जाने पर, चाहे वह दक्षिणपन्थी हो अथवा वामपन्थी, वह अपने हाथ में सत्ता बनाये रखने का प्रयास करती हैं।

कम्युनिस्ट मार्ग से उत्पन्न क्रान्ति के कुछ विशेष चरित्र पर विचार करना आवश्यक है जिससे उनकी तुलना में मानववादी मार्ग से लायी गयी क्रान्ति की विशेषता और अन्तर को समझा जा सके।

सबसे पहली बात तो यह है कि कम्युनिज्म का उद्देश्य समाज के आर्थिक ढाँचे का आमूल परिवर्तन करना है जो वह पूंजीवादी वर्ग के शोषण और उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण करके करना चाहता है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि कम्युनिस्ट पार्टी राजनीतिक सत्ता का अधिग्रहण करे। कम्युनिस्ट क्रान्ति ऊपर से की जाती है। राजनीतिक सत्ता राज्य में केन्द्रित होती है और कम्युनिस्ट क्रान्ति उस सत्ता पर अधिकार करके ही अपना उद्देश्य पूरा कर सकती है।

दूसरी बात यह है कि आर्थिक निश्चयवाद के सिद्धान्त के प्रभाव में कम्युनिस्ट समाज के बहुसंख्यक शोषित जनता को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। यह उनके वर्ग हित के आधार पर किया जाता है। जनता की सांस्कृतिक आकांक्षाओं के आधार पर यदि उसे आकृष्ट करने का प्रयास किया जाय तो वह आर्थिक निश्चयवाद के सिद्धान्त के प्रतिकूल होगा। आर्थिक निश्चयवाद के सिद्धान्त के अनुसार सामान्य जनता मे, जो गरीबी में पड़ी है और उसे निरन्तर भुखमरी और अरक्षा का खतरा रहता है, सांस्कृतिक आकांक्षाओ का अभाव रहता है और वह मानववादी मूल्यो को समझ नही सकती। इस सिद्धान्त के अनुसार पहले जनता की आर्थिक स्थिति सुधार कर उसका आर्थिक स्तर ऊँचा उठाया जाना चाहिए, उसके बाद ही नैतिक मूल्यो की ओर उनका आकर्षण हो सकता है। इस सिद्धान्त मे इतना मान लिया जाता है कि उच्च वर्गों के कुछ लोग अपने वर्ग स्वार्थ को छोड़कर 'विवर्गीय' हो सकते है और कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य हो सकते हैं। ऐसे लोग श्रमिक वर्ग और दूसरी शोषित जनता का नेतृत्व कर सकते हैं। इस प्रकार हमारे यहाँ विचित्र प्रकार का कम्युनिस्ट आन्दोलन है जिसके नेता शिक्षित हैं और वे लोग अशिक्षित जनता का नेतृत्व करते हैं। इस प्रकार के आन्दोलन की सफलता के बाद अधिनायकवादी शासन आयेगा जो श्रमिकों की तानाशाही स्थापित करेगा जो समाज, जिसमें सर्वहारा भी शामिल हैं, पर अपना आधिपत्य स्थापित करेगा।

मानववादी मार्ग

मानववादी क्रान्ति के मार्ग की विभिन्न विशेषताओं का स्पष्टीकरण नीचे क्रमिक रूप से दिया जा रहा है :—

1. नीचे से क्रान्ति

मानववादी क्रान्ति ऊपर से राजनीतिक सत्ता का अधिग्रहण करके समाज मे आमूल परिवर्तन करने का प्रयास नही करेगी वरन् वह नीचे से जनता को स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के लोकतान्त्रिक मूल्यों की शिक्षा देकर उसे ऐसी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संस्थाओ को सगठित करने मे सहायता देगी जिनके आधार पर समाज मे आमूल परिवर्तन लाया जा सकेगा। स्वतन्त्रता के नैतिक मूल्य मे आत्मनिर्भरता और विवेक के गुण होने आवश्यक है। मानववादी क्रान्ति मूल रूप से सांस्कृतिक क्रान्ति है अतः उसे केवल राजनीतिक सत्ता के द्वारा सम्पन्न नही कराया जा सकता।

सामान्य नियम है कि प्रत्येक देश मे जनता को उसी प्रकार की सरकार मिलती है जिसके वह योग्य है। लोकतन्त्र मे यह नियम लागू होता है। लोकतन्त्र मे

शासन की स्थापना जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि करते हैं। वे लोग दूसरी बातो के प्रतिनिधित्व के साथ-साथ जनता के अविवेक, मूढ़ाग्रहों और हठवादी विचार का भी प्रतिनिधित्व करते है। ऐसे लोगो से यह अपेक्षा नही की जा सकती कि वे समाज मे आमूल परिवर्तन के माध्यम बनें। दूसरी ओर जो लोग उच्च सांस्कृतिक मूल्यों को मानते हैं वे चुनाव मे ऐसे लोगों से जीत नही सकते जो जनता मे व्याप्त सांस्कृतिक मूल्यों को मानते हैं। इससे यही नतीजा निकलता है कि सांस्कृतिक क्रान्ति का आरम्भ नीचे से होना चाहिए। उसके द्वारा प्रचलित मूल्यो का फिर से मूल्यांकन करके जनता मे नये मूल्यो का प्रचार किया जाना चाहिए। यह कार्य ऊपर से राज्य सत्ता के प्रयोग से नही किया जा सकता। लोकतन्त्र मे जनता शासन बदल सकती है लेकिन शासन जनता को नही बदल सकता।

भारत की केन्द्रीय और राज्य सरकारो के उदाहरण से यह बात सिद्ध होती है। उनमे ज्यादातर भ्रष्ट और सत्तालोलुप लोग हैं। ऐसी सरकारो से यह आशा करना गलत होगा कि वह अच्छे समाज का निर्माण करेंगी। इसके विपरीत यह सोचना भी गलत होगा कि अच्छे आदमियों की सरकार समाज, जिसमे बहुसख्यक लोग मूढाग्रहो और अन्धविश्वास को मानते है, को अच्छा बना सकेगी। अन्धविश्वास और अज्ञान से प्रभावित मतदाताओ के समर्थन से भ्रष्ट और स्वार्थी राजनीतिज्ञो की सरकार के इस दुष्चक्र को जनता मे नीचे से काम करके तोड़ा जा सकेगा, केवल ऊपर से समाज को सुधारा नही जा सकेगा।

जब तक समाज के अधिकांश लोग अज्ञान और धर्मान्ध रहते है तब तक किसी क्रान्तिकारी समूह द्वारा राज्य सत्ता पर अधिकार करने के प्रयास से तानाशाही शासन पैदा होगा। नवचेतना के आधार पर जाग्रत जनता ही नवचेतना वाली सरकार की स्थापना कर सकेगी। इस प्रकार मानववादी क्रान्ति की सफलता के लिए जनता मे शैक्षिक और सगठनात्मक कार्य करने की आवश्यकता है।

2. मानववादी दृष्टिकोण

मानववादी समाज के सभी व्यक्तियो को, चाहे वे किसी वर्ग के हों, गरीब हो अथवा अज्ञानी हो, मानव मान कर स्वतन्त्रता, विवेकवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतान्त्रिक मूल्य के आधार पर मानवमूल्यो तथा नैतिकता के आधार पर उनसे समान व्यवहार करते है। इन नैतिक मूल्यो को स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के मूल्यो से प्राप्त किया जाता है।

मानववादी यह जानते है कि सभी व्यक्तियो मे प्राणी जाति के विकास से अपने अस्तित्व की आकाक्षा के आधार पर मानव मे स्वतन्त्रता की आकाक्षा उत्पन्न

होती है। यह सभी मानव प्राणियो मे समान रूप से होती है। वह यह भी जानते है कि सभी मानवों में उनकी शारीरिक प्रक्रिया मे विचार की क्षमता और उसमे नैतिक इच्छा का होना उसका सहज गुण होता है। हम इन मानववादी निष्कर्षों पर पहले ही आ चुके हैं। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के लोकतान्त्रिक मूल्य मानव जाति मे सहज मानव प्रकृति से मिले हैं अतः इनकी आकांक्षा सभी व्यक्तियों मे होना स्वाभाविक है। मूढ़ाग्रह अन्धविश्वास और पूर्व निर्धारित धारणाएँ मानव के विकास मे बाधक है, लेकिन वह बाधाएँ सदैव नहीं रह सकती।

यथार्थ मे स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के मानववादी मूल्य सामान्य जनता के लिए अधिक आकर्षक हो सकते हैं बजाय इसके कि गरीबी और भुखमरी के आधार पर उसका आह्वान सम्पन्न उच्च वर्ग के लोग करें। स्वतन्त्रता मे व्यक्ति की प्रतिष्ठा के साथ जीविका अर्जित करने की योग्यता निहित है-विशेषकर ऐसे लोगो के लिए जिनका जीवन स्तर गरीबी का है। जो लोग असमानता से पीड़ित हैं उन्ही को समानता की आवश्यकता है। जिन लोगो को स्वतन्त्रता और समानता के लिए संघर्ष करना पड़ता है वे भ्रातृत्व की भावना के महत्त्व और उसके मूल्य को समझते है क्योंकि उन्हे इसी आधार पर अन्य लोगों से सहयोग मिलता है।

यह धारणा एक भ्रान्ति है कि जो लोग गरीबी और भुखमरी के स्तर पर जीवन निर्वाह करते है वे मानववादी मूल्यों को समझ नही सकते। यह भ्रान्ति उन लोगो मे रहती है जो कभी जनता के बीच नही गये हैं और कभी गये भी हैं उनके पास तो केवल उनका 'मत' माँगने के लिए ही। जो लोग मानववादी दृष्टिकोण के आधार पर जनता के बीच मे गये है उन्हे यह स्पष्ट रूप से देखने को मिला है कि जनता मे मानववादी आह्वान के लिए कितना प्रोत्साहन है। वे भी मानव प्राणी हैं और उनमे भी समान आशाएँ और आकांक्षाएँ है।

मानववादी दृष्टिकोण से जनता मे जाने वाले लोगों को मानवतावादी दृष्टिकोण वालो से विशिष्ट होना चाहिए। मानववादी जनता के बीच मे केवल अच्छे काम करने के लिए उपदेश ही नही देते। मानवतावादी लोग अपनी अन्तः चेतना को सन्तुष्ट करने के लिए दूसरों की सहायता करते हैं। मानववादी लोगो का उद्देश्य हैं कि वह लोगो की अपनी सहायता खुद करने के योग्य बना दें। वे चाहते है कि लोग अपने पैरो पर खड़े हों, उनमे अपनी प्रतिष्ठा की चेतना हो तथा नैतिक संवेदनशीलता का आत्मगौरव उत्पन्न हो और यह विश्वास हो कि वे पारस्परिक सहयोग से अपना भविष्य स्वयं बना सकते हैं।

3. वर्ग पर नहीं, नैतिकता पर भरोसा

मानववादी क्रान्ति की सफलता के लिए नैतिकता पर भरोसा किया जाता है। मानववादी श्रमिकों और दूसरे शोषित लोगों की न्यायोचित माँगों का समर्थन करते हैं। वे ऐसा नैतिकता और न्याय के आधार पर करते हैं केवल आर्थिक आधार पर नहीं। मानववादी वर्ग संघर्ष को तेज करने के पक्ष में नहीं है।

नैतिकता के आधार को केवल वर्ग और आर्थिक आधार से उच्च कोटि का मानने के दो कारण हैं।

पहली बात यह है कि श्रमिक और कृषक अपनी आर्थिक माँगों के लिए संघर्ष करते हैं क्योंकि वे अपनी माँगों को नैतिक आधार पर न्यायोचित मानते हैं। उनकी माँगों को केवल आर्थिक माँगें मानना गलत है। यह खराब रणनीति भी कही जायेगी। नैतिक संघर्ष केवल आर्थिक संघर्ष की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है।

दूसरी बात यह है कि जब कोई न्यायोचित आर्थिक माँग, न्याय के आधार पर उठायी जाती है उसे अधिक जनसमर्थन प्राप्त होता है। जो लोग पीड़ित वर्ग के नहीं भी होते हैं वे न्यायोचित माँग का समर्थन नैतिकता के आधार पर करते हैं। उस दशा में वह संघर्ष वर्ग संघर्ष न रहकर नैतिक संघर्ष का रूप ले लेता है।

जात-पाँत और साम्प्रदायिक मामलों के सम्बन्ध में नैतिक दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। भारत जैसे देश में जहाँ भिन्न-भिन्न जातियाँ और सम्प्रदाय हैं वहाँ ऐसी घटनाएँ सामने आती हैं जिनके द्वारा कुछ जातियों और सम्प्रदायों के साथ अनुचित और भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता है। वैसे मामलों में अनुचित, अन्यायपूर्ण और भेदभावपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध नैतिक आन्दोलन चलाया जाना चाहिए जिसका उद्देश्य उचित न्याय दिलाना होना चाहिए। ऐसे आन्दोलन को भी केवल पीड़ित जाति अथवा सम्प्रदाय का ही आन्दोलन नहीं रहना चाहिए। भारत में अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष को केवल जुझारू परिगणित जाति के लोगों का संघर्ष नहीं रखना चाहिए वरन् ऐसे संघर्ष में संयुक्त रूप से परिगणित जाति के लोगों के साथ-साथ समाज के प्रगतिशील लोगों को शामिल किया जाना चाहिए।

4. समग्र क्रान्ति

मानववादी क्रान्ति का मुख्य लक्षण यह है कि वह कुछ मानवमूल्यों और नैतिक मूल्यों के आधार पर चलती है। सामाजिक रूप से स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व ही यह मूल्य है। नैतिक मूल्यों के स्वभाव के कारण उन्हें वर्गीकृत नहीं

किया जा सकता। यदि जनता किन्ही मूल्यों मे विश्वास करती है तो वे मूल्य उसके जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में दिखाई देंगे। यदि लोग स्वतन्त्रता चाहते हैं, तो उसे वे केवल राजनीतिक जीवन मे ही नहीं वरन् आर्थिक और सामाजिक जीवन मे भी प्राप्त करना चाहेंगे। हमने ऊपर यह देखा है कि कम्युनिस्ट क्रान्ति दो चरणों मे पूरी होती है। पहले राजनीतिक क्रान्ति के द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी सत्ता का अधिग्रहण करती है और दूसरे चरण में उस शक्ति के प्रयोग के द्वारा आर्थिक क्रान्ति को पूरा किया जाता है। कम्युनिस्ट क्रान्ति दो चरणों में इसलिए होती है क्योंकि वह ऊपर से की जाती है और उसे नैतिक मूल्यों के प्रचार के आधार पर सम्पन्न नहीं किया जाता है। मानववादी क्रान्ति को सम्पन्न करने मे इन दो चरणों की अलग-अलग आवश्यकता नहीं होगी। मानववादी क्रान्ति मे विचारों और आदर्शों को वरीयता दी जाती है। उसके पहले सांस्कृतिक-दार्शनिक क्रान्ति का होना अनिवार्य है। लेकिन जब जनता मे नैतिक मूल्यों का प्रसार हो जायेगा तो उनकी अभिव्यक्ति एक साथ राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों मे एक साथ हो सकेगी।

जयप्रकाश नारायण ने समग्र क्रान्ति के विचार को लोकप्रिय बनाया। मानववादी क्रान्ति अनिवार्य रूप से मानववादी मूल्यों के आधार पर समग्र क्रान्ति होगी। समग्र क्रान्ति की आवश्यकता का उल्लेख मौलिक मानववाद के 22 सिद्धान्तों के दसवें सिद्धान्त मे किया गया है। उसमें यह कहा गया है—"राजनीतिक लोकतन्त्र के अभाव में आर्थिक लोकतन्त्र असम्भव है और आर्थिक लोकतन्त्र के बिना राजनीतिक लोकतन्त्र भी नहीं रह सकता।" लोकतन्त्र वास्तविक हो इसके लिए यह आवश्यक है कि वह एक साथ राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक लोकतन्त्र हो। लोकतन्त्र उस दशा मे व्यापक हो सकेगा जब उससे पहले सांस्कृतिक और दार्शनिक क्रान्ति हो जाय।

5. शैक्षिक कार्य का स्वरूप

मानववादी शिक्षा केवल स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के अमूर्त नैतिक मूल्यों तक सीमित नहीं रहेगी वरन् उसमें मानववादी दृष्टिकोण के आधार पर आत्मनिर्भरता, विवेक और धर्मनिरपेक्ष नैतिकता की भी शिक्षा दी जायेगी। जीवन की वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ मे उक्त नैतिक मूल्यों की व्याख्या की जायेगी और लोगों को यह समझाया जायेगा कि इनके द्वारा वे अपना भविष्य कैसे सुन्दर बना सकते है। उन्हें यह दिखा दिया जायेगा कि भ्रष्ट और स्वार्थी लोगों की सरकार बनाने मे वे कैसे जिम्मेदार हैं क्योंकि वे लुभावने वायदों, जाति के विचार से प्रभावित लोगों के पक्ष मे अपना मतदान करते हैं और वे शोषण-

कारी अर्थव्यवस्था को बनाये रखने में मददगार बन जाते है। उनकी उदासीनता, आत्मनिर्भरता की कमी और पारस्परिक सहयोग के अभाव में वे पुरानी ऊँच-नीच वाली सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने में भी मददगार हो जाते है क्योंकि नागरिक भाग्यवादी और रूढ़िवाद बने रहते हैं और सामाजिक असमानता के विरुद्ध विद्रोह नही करते है। उन्हें यह भी समझाया जा सकता है कि यदि वे अपने भाग्य के निर्माण का कार्य अपने हाथ में लेने का निर्णय करें और अन्य नागरिको के साथ भाई-चारे के व्यवहार के आधार पर सहयोग से काम करें तो वे व्यापक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक लोकतन्त्र स्थापित कर सकते हैं जिसमे स्वतन्त्रता, समानता और भाई-चारे के मूल्यो को अपनाया जा सकता है। वे ऐसा राजनीतिक ढाँचा भी बना सकते हैं जिसमें सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है और नागरिक स्वयं जनसमितियों के माध्यम से सत्ता का उपयोग कर सकते है। किसी मालिक के यहाँ नौकरी करने की अपेक्षा वे उत्पादक और उपभोक्ता सहकारी समितियों का गठन करके स्वयं अपने लिये रोजगार का अवसर पैदा कर सकते हैं। यदि ऐसा सम्भव न भी हो तो भी वे अपने मालिक के यहाँ नौकरी करते हुए उपक्रम के प्रबन्ध और उसके लाभ में हिस्सा पाने का हक माँग सकते है। वे अस्पृश्यता और जात-पाँत व्यवस्था खत्म कर सकते है। वे ऐसा सांस्कृतिक वातावरण बना सकते है जिसमे साम्प्रदायिक सद्भाव व्याप्त हो। वे ऐसी शिक्षा व्यवस्था विकसित कर सकते है, जिसमे छात्र को आत्मनिर्भरता और नैतिक जीवन की श्रेष्ठता की चेतना उत्पन्न की जा सके। समाज मे मानववादी नैतिक मूल्यो के प्रसार के लिए बड़े पैमाने पर विभिन्न कार्यक्रम अपनाये जा सकते है।

6. आधारभूत जनसंगठन

मानववादी कार्य केवल जनता मे मानववादी मूल्यो के प्रसार तक सीमित नही रहेगा वरन् वे आधारभूत जनसगठनो की स्थापना मे सहायता देंगे। जनसमितियाँ और सहकारी समितियाँ ही वे आधारभूत जनसगठन है। इस सम्बन्ध मे जिन दूसरे सगठनो का नाम लिया जा सकता है यह मतदाता परिषद और मजदूरो के ट्रेड यूनियन संगठन है।

सगठित लोकतन्त्र के लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से स्थानीय जनसमितियाँ ही मुख्य राजनीतिक सगठन होनी चाहिए। आरम्भ मे जनसमितियों मे गाँव अथवा मौहल्ले के निवासियों द्वारा निर्वाचित लोग ही नही होगे। यदि मानववादी नैतिक मूल्यो को अपनाये बिना जनसमितियो के चुनाव कराये जायेंगे तो निर्वाचित लोग जनप्रतिनिधि नही होगे। उन समितियो मे स्थानीय उच्च

वर्ग के लोगों का प्रभुत्व रहेगा। इसलिए आरम्भ मे जनसमितियों में ऐसे सामाजिक क्रान्तिकारियों को रखा जाना चाहिए जो, स्वतन्त्रता, समानता और धर्मनिरपेक्ष नैतिकता के मानववादी नैतिक मूल्यों को अपना चुके हो और जो उन मूल्यों का अपने क्षेत्र के लोगों मे प्रचार करना चाहते हो। जनसमितियाँ अपने क्षेत्र के लोगो मे आत्मनिर्भरता और पारस्परिक सहयोग को भावना का प्रसार करेंगी। वे रूढ़िवाद और अन्धविश्वास के विरुद्ध संघर्ष करके विवेकशील आचरण को प्रोत्साहन देंगी। ये समितियाँ कृषि विकास, सिंचाई के साधनों की वृद्धि और स्थानीय लघु उद्योगों की स्थापना में सहायक बनेंगी। वे स्कूली शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा मे सुधार लायेंगी। वे स्वास्थ्य, सफाई, ग्रामीण गृह निर्माण, सड़क निर्माण और परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को चलायेंगी। वे अस्पृश्यता निवारण और जात-पांत व्यवस्था के विरुद्ध प्रचार करेंगी। वे साम्प्रदायिक सद्भाव को प्रोत्साहन देंगी। भ्रष्टाचार उन्मूलन के लिए केन्द्रों की स्थापना की जायेगी। वे पूरे क्षेत्र मे ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन लायेंगी, जिससे स्थानीय पचायतो और म्युनिसिपल बोर्डों के चुनाव मे केवल उच्च वर्ग के प्रतिनिधि ही नही वरन् पूरी जनता के सही प्रतिनिधि निर्वाचित हो सकेंगे। इन लक्ष्यों की पूर्ति के बाद स्थानीय पंचायतें और म्युनिसिपल बोर्डों की समितियाँ स्वयं जनसमितियाँ बन जायेंगी और तब जनसमितियों के अलग संगठन की जरूरत नही रह जायेगी। यदि जनसमितियों की स्थापना का आन्दोलन ठीक से विकसित हो तो ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है जब निर्वाचन मण्डल की जनसमिति, संसद और विधानमण्डल के चुनाव मे अपने प्रत्याशी खड़े करे। जनसमितियों की स्थापना के आन्दोलन की परिणति के रूप मे संविधान मे ऐसा संशोधन किया जायेगा जिससे देश मे संगठित लोकतन्त्र की स्थापना हो जाय।

सहकारी आन्दोलन का जनसमितियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखा जायेगा। जहाँ सहकारी समितियाँ चल रही हैं वहाँ उनमे समितियों के सदस्यों मे सहयोग बढ़ाकर सुधार लाने का प्रयास किया जायेगा। कृषि और छोटे उद्योगों के लिए उत्पादकों की सहकारी समितियाँ गठित की जायेंगी। वितरण का काम उपभोक्ता सहकारी समितियो को सौंपा जायेगा।

मतदाता परिषद की स्थापना का मुख्य उद्देश्य चुनाव व्यवस्था की शुद्धता की रक्षा करना है। मतदाता परिषद चुनाव प्रक्रिया पर नजर रखेगी। वह मतदाताओं के बीच विभिन्न राजनीतिक पार्टियो और उम्मीदवारों के कार्यक्रमों को समझाने की व्यवस्था करेगी। वह विभिन्न पार्टियों और उम्मीदवारों से जनता की मौलिक मांगों का समर्थन के वायदे करायेगी। चुनाव के पूरा हो जाने पर मत-

दाता परिषद मतदाताओ और उनके प्रतिनिधियो के बीच सम्पर्क सूत्र का काम करेगी।

मजदूरो की ट्रेड यूनियनो को राजनीतिक पार्टियो के प्रभाव से मुक्त रखा जाना चाहिए। उनका मुख्य काम मालिकों से सामूहिक सौदेबाजी करना है। उनको प्रौढ शिक्षा, बच्चो की देखभाल और परिवार नियोजन के सामाजिक केन्द्रों का भी काम करना चाहिए। धीरे-धीरे उन्हे सामाजिक सुधार के केन्द्र के रूप मे विकसित किया जाना चाहिए।

7. जनसंघर्ष

एक बार जनसमितियो के गठन हो जाने के बाद उसके लिए यह आवश्यक हो जायेगा कि वे जनता की विभिन्न मॉगो को उठायें चाहे वे मॉगें आर्थिक, सामाजिक हो अथवा राजनीतिक। जनसमिति को गॉवो मे खेतिहर मजदूरों को पर्याप्त वेतन दिलाने का प्रयत्न करना चाहिए। कस्बों और नगरो मे असगठित मजदूरों को पर्याप्त वेतन दिलाने के लिए उन्हे आगे आना चाहिए। हरिजनो के लिए पेय-जल और दूसरो सुविधाओ को दिलाने का भी प्रयास उन्हे करना चाहिए। स्थानीय लघु सिचाई व्यवस्था, भूमि व्यवस्था और पुलिस के भ्रष्ट अधिकारियो को हटाने और ऐसे ही अन्य कामो के लिए सरकार से सहायता लेने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार के जनसंघर्षों को चलाने से जनसमितियाँ मजबूत होगी। इनकी सफलता के लिए यह जरूरी है कि जनता की मॉगें न्यायोचित हो और उनके सघर्ष को शान्तिमय और अहिंसक ढग से चलाया जाय। अविवेकी मॉगें जिनको स्वीकार नही किया जा सकता, उठाने और न्यायोचित मॉगो के लिए भी हिंसा का मार्ग अपनाने से जनसमितियाँ कमजोर होगी। यदि जन-समिति मे ऐसे मानववादी हो जो आत्मनिर्भरता, विवेक और धर्मनिरपेक्षता की भावना से अनुप्राणित है तो वे जो आन्दोलन चलायेंगे उसके लिए यह आवश्यक होगा कि जनता की मॉगें न्यायोचित हो और उन्हे उचित ढग से प्रस्तुत किया जाय। ऐसा करके जनसमितियाँ जनशक्ति का प्रभावशाली माध्यम बन सकेंगी।

8. मानव-माध्यम

मानववादी क्रान्ति के शैक्षिक और सगठन सम्बन्धी कार्य राजनीतिक पार्टी द्वारा नही किये जायेगे। इस काम को निष्ठावान मानववादी ही करेगे जो स्वय राज्य सत्ता पाने की आकाक्षा नही करेंगे वरन् वे इस बात को सुनिश्चित करेंगे कि सत्ता धीरे-धीरे उस अनुपात मे पहुँचे जिसमे उनके आधारभूत जनसगठनो मे मानव-वादी मूल्यो का पालन होने लगे। अपने इस कार्य को सम्पन्न करने मे मानववादी जनता के मार्गदर्शक, मित्र और दार्शनिक के रूप मे काम करेगे न कि उनके भावी

शासक के रूप में। अपने दार्शनिक सिद्धान्त के अनुरूप वे विवेक सम्मत और नैतिक आचरण करेंगे। वे लोग ऐसे स्वतन्त्र नागरिक पुरुष और महिलाएँ होंगे जो स्वतन्त्र संसार की रचना के लिए प्रतिबद्ध हों।

9. शान्तिमय साधन

मानववादियों का काम मौलिक रूप से शैक्षिक होगा, अतः वे शान्तिमय तरीके से काम करेंगे। हिंसा का प्रयोग प्रतिरोधात्मक होता है। उसमें और अधिक हिंसा करने का अवसर पुलिस और शासन के अधिकारियों को मिलता है। जब तक मानववादियों को निम्नतम नागरिक अधिकार उपलब्ध रहते हैं वे खुले रूप में और कानूनी ढंग से काम करते हैं। सभाओं, गोष्ठियों और साहित्य वितरण, जुलूस और प्रदर्शनों के द्वारा शैक्षिक कार्य भली प्रकार किया जा सकता है। यदि नागरिक अधिकारों को समाप्त कर दिया जाता है तो आवश्यकता पड़ने पर गुप्त रूप से भी काम किया जा सकता है। उसके साथ ही खुले रूप में सम्भव होने पर सत्याग्रह भी किया जा सकता है।

10. राज्य से सम्बन्ध

मानववादी का जो विवरण ऊपर दिया गया है, वह राज्य सत्ता की समस्याओं के प्रति उदासीन नहीं होगा। यदि शासन का व्यवहार मित्रतापूर्ण है तो वह मानववादी कार्यकलापों के कुछ स्वरूपों में सहायक हो सकता है। जहाँ तक मानववादी मूल्यों के प्रचार और जनसमितियों की स्थापना का प्रश्न है उनके लिए किसी प्रकार की सरकारी सहायता आवश्यक नहीं है। जनसमितियों का भी अधिकांश कार्य राज्य की संस्थाओं के पास जाये बिना किया जा सकता है। लेकिन जब जनसमिति स्कूली इमारत बनवाना चाहेगी अथवा सड़क का सुधार करना चाहेगी, अथवा छोटी सिंचाई परियोजना पूरी करना चाहेगी, अथवा वह उपभोक्ता सहकारी समितियों के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुएँ प्राप्त करना चाहेगी, तो ऐसे कार्यों को पूरा करने के लिए शासनतन्त्र के सहयोग की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार का सहयोग शासनतन्त्र से अधिक मात्रा में मिलने की सम्भावना है क्योंकि राजनीतिज्ञों को अपने पुनर्निर्वाचन के लिए जनता के मतदान पर आश्रित रहना पड़ता है। कोई भी राजनीतिज्ञ आत्मनिर्भर और ठीक से काम-काज करने वाली जनसमितियों से असहयोग नहीं कर सकता है। यदि किसी क्षेत्र में किसी पार्टी का स्थानीय प्रतिनिधि जनसमिति के साथ सहयोग नहीं करेगा, जिसकी काफी सम्भावना है, तो जनसमिति नये चुनाव में अपना प्रत्याशी खड़ा कर सकती है और उसे विजयी बना सकती है। जनसमितियों को धीरे-धीरे सरकारी सहयोग अधिक मात्रा में मिलने लगेगा यदि मतदाताओं पर उसका प्रभाव बढ़ जायेगा।

आज सभी अधिकार-सत्ता-राज्य मे केन्द्रित है। असगठित और समष्टि रूप मे जनता व्यावहारिक रूप मे असहाय है। जनशक्ति, जिसे जयप्रकाश नारायण ने 'लोकशक्ति' के नाम से पुकारा था, उसको नीचे से संगठित किया जा सकता है। जनता मानववादी नैतिक मूल्यो को अपना जैसे-जैसे आत्मनिर्भर बनेगी और परस्पर सहयोग की भावना अपना कर जनसमितियाँ संगठित करेगी उसी अश मे जनशक्ति बढ़ेगी, उस मे अधिक लोग अपना सहयोग देंगे। इसी आधार पर जनसमितियो की शक्ति और प्रभाव बढेगा। लोकशक्ति के बढ़ने पर जनशक्ति के सगठनो और राज्य, शासनतन्त्र के अवयवो मे सहयोग बढ़ता जायेगा और लोकशक्ति तथा राज्यशक्ति मे भी सहयोग बढेगा। एक स्थिति ऐसी उत्पन्न होगी जब राज्य शक्ति, सत्ता जनशक्ति अथवा लोकशक्ति से नीचे मानी जायेगी और जनशक्ति और लोकशक्ति का उस पर नियन्त्रण हो जायेगा। मानववादी क्रान्ति की यह भी एक महत्वपूर्ण सम्भावना है।

11. राजनीतिक पार्टियों से सम्बन्ध

यह बात हम पहले देख चुके है कि जब तक ससदीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था रहती है उसमे राजनीतिक पार्टियो का अस्तित्व बना रहता है। जब लोकतन्त्र नीचे से जनसमितियो के आधार पर सगठित किया जायेगा तो राजनीतिक पार्टियो का महत्त्व घट जायेगा। उस दशा मे जनसमितियो के प्रतिनिधि बड़ी सख्या में विधानमण्डलो के निर्वाचन मे विजयी होकर उनमे पहुँचेंगे। जब तक ऐसा नही होता है तब तक राजनीतिक पार्टियाँ ही शासन चलायेगी और विपक्ष का काम करेंगी। अत यह उचित है कि जहाँ तक सम्भव हो राजनीतिक पार्टियो मे बुद्धिमान और नैतिक दृष्टि से ईमानदार लोग हो। मानववादियो का दावा है कि जब तक अधिकाश मतदाता अज्ञानी और रूढिवादी हैं तब तक नैतिक दृष्टि से ईमानदार लोग सत्तामूलक राजनीतिक पार्टियो मे सफल नही हो सकते। लेकिन जैसे-जैसे जनता मे मानववादी नैतिक मूल्यो की शिक्षा का प्रसार होगा विभिन्न राजनीतिक पार्टियो मे अच्छे राजनीतिज्ञ लोग सामने आयेंगे। इसीलिए मानववादी सभी पार्टियो के ईमानदार लोगो से मित्रता का व्यवहार करेंगे। मानववादी स्वय इस बात मे विश्वास करते है कि राजनीतिक पार्टियो के बिना किया गया काम अधिक महत्त्व का होता है लेकिन वे ऐसे ईमानदार लोगो के लिये अपने मन मे शुभकामनाएँ ही रखते है जो उनसे मतभेद रखते है और राजनीतिक पार्टियो मे शामिल होते हैं।

12. अल्पकालीन कार्यक्रम

समाज मे मानववादी नैतिक मूल्यो के प्रचार मे काफी समय लगेगा बीच की

अवधि मे इस बात का खतरा भारत जैसे देश के लिए यह है कि वर्तमान सीमित लोकतन्त्र की रक्षा की जाय, जिससे इस समय उपलब्ध नागरिक अधिकारों को भी कायम रखा जा सके। इसलिए मौलिक मानववादी दीर्घकालीन कार्यक्रम के अतिरिक्त अल्पकालीन कार्यक्रम चलाते है। अल्पकालीन कार्यक्रम का उद्देश्य उपलब्ध नागरिक अधिकारो की रक्षा करना और तानाशाही लादने के प्रयासों को रोकना है। दीर्घकालीन कार्यक्रम मे मानव मूल्यो का प्रचार और आधारभूत जनसंगठनो की स्थापना है। भारत मे मौलिक मानववादियो ने अपने अन्य मित्रो के सहयोग से दो सगठन–नागरिक अधिकारो की रक्षा के लिए जनपरिषद (पीपुल्स यूनियन फार सिविल लिबर्टीज) और जनतन्त्र समाज (सिटीजन्स फार डेमोक्रेसी) स्थापित किये हैं। पहला सगठन अल्पकालीन कार्यक्रम के रूप मे और दूसरी दीर्घकालीन कार्यक्रम के रूप मे बनाया गया है। आशा यह है कि इन सगठनो की सहायता से दिखाऊ और सीमित लोकतन्त्र की रक्षा की जा सकेगी और भविष्य मे व्यापक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक लोकतन्त्र को विकसित किया जा सकेगा।

13. साधन और साध्य

व्यापक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक लोकतन्त्र के आदर्श को अलोकतान्त्रिक तरीको से प्राप्त नही किया जा सकता है। राज्य सत्ता पर जबरन अधिकार कर लेने से लोकतन्त्र स्थापित नही होगा वरन् उससे अधिनायकवादी तानाशाही का ही जन्म होगा। लोकतन्त्र के आदर्श को लोकतान्त्रिक साधनो से प्राप्त किया जा सकता है।

कुछ आलोचको का कहना है कि मानववादी जिस सास्कृतिक क्रान्ति का स्वप्न देखते है उसे साकार करने मे बहुत समय लगेगा। इस आलोचना का अभिप्राय है कि लक्ष्य पाने के लिए कोई छोटा रास्ता अपनाना ठीक होगा। उक्त आलोचना ठीक है लेकिन जो अभिप्राय निकाला गया है वह ठीक नही है। सास्कृतिक क्रान्ति को सम्पन्न करने मे काफी समय लग सकता है लेकिन यह सोचना गलत है कि सच्चे व्यापक लोकतन्त्र के इस लक्ष्य के लिए कोई छोटा मार्ग भी है। अब तक जो छोटे रास्ते सुझाये गये उनका उलटा ही प्रभाव हुआ है।

मौलिक मानववादी लक्ष्य प्राप्ति मे लम्बी अवधि लगने से हतोत्साहित नही है। मानववादी क्रान्ति पूरी होने में तो लम्बा समय लगेगा ही। वे इस बात को जानते है कि मानववादी क्रान्ति के लिए जो साधन अपनाये जाते हैं उनसे लक्ष्य प्राप्ति की आशिक सफलता मिलती है, समाज मे जिस अश मे मानववादी नैति–

मूल्यो का प्रसार होगा और जिस अश मे उन मूल्यो के आधार पर जनसंगठन बनेंगे उस अश मे मानववादी क्रान्ति को सफल माना जायेगा ।

हम पहले इस बात पर जोर दे चुके हैं कि लोकतन्त्र लक्ष्य से अधिक एक मार्ग है । कोई भी समाज पूरी तौर से लोकतान्त्रिक नहीं हो सकता, यही सम्भव है कि पहले की अपेक्षा वह अधिक लोकतान्त्रिक हो जाय । मानववादी क्रान्ति जो व्यापक लोकतन्त्र के आदर्श को साकार करना चाहती है उसे स्वाभाविक रूप से एक आदर्श का रूप लेना चाहिए । मानववादी क्रान्ति भी एक मार्ग है वह लक्ष्य नहीं है । मौलिक मानववादी, मानववादी क्रान्ति के इस मार्ग पर चल कर सदैव सफलता की ओर अग्रसर होता है । मौलिक मानववाद असफलता को जानता ही नहीं है ।

परिशिष्ट : बाईस मान्य सिद्धान्त

मौलिक मानववाद के बाईस मान्य सिद्धान्त

(1946 के दिसम्बर मास मे बम्बई मे रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के अखिल भारतीय सम्मेलन मे बाईस सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया था और बाद में उन्हें 'प्रिन्सपिल्स आफ रेडिकल डेमोक्रेसी' (रेडिकल डेमोक्रेसी के सिद्धान्त) शीर्षक से प्रकाशित किया गया था। उनमे से सिद्धान्त सख्या 19 और 20 को 1948 मे संशोधित किया गया था, जब यह अनुभव किया गया कि मौलिक मानववाद के सिद्धान्तों को स्वीकार करने के बाद रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का पार्टी के रूप मे संगठन अनुपयुक्त हो गया है। उसी आधार पर रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी को भंग कर दिया गया था। *मूल सिद्धान्त सख्या* 19 और 20 सशोधन के पूर्व जिस रूप मे थे, उनको भी इस परिशिष्ट के अन्त मे दिया जा रहा है।)

एक

मानव समाज का मूल आधार है। सामाजिक सहयोग के आधार पर व्यक्तिगत क्षमताओ का विकास होता है। लेकिन व्यक्ति का विकास ही सामाजिक प्रगति का माप है। समुदाय के लिए व्यक्तियो का अस्तित्व होना आवश्यक है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और कल्याण के बिना सामाजिक स्वतन्त्रता और प्रगति काल्पनिक आदर्श है जिनको कभी साकार नही बनाया जा सकता। यदि व्यक्तियो का कल्याण वास्तविक है तो व्यक्ति उसका उपयोग करता है। किसी भी भाँति समष्टिगत अहकार को मानव जाति के किसी समुदाय मे प्रतिष्ठित करने से (चाहे वह राष्ट्र, वर्ग आदि के रूप मे हो) *व्यवहार मे मानव का* बलिदान हो जाता है। सामुदायिक कल्याण व्यक्तियो के कल्याण के रूप मे व्यवहार मे आता है।

दो

मानव प्रगति की आकाक्षा मे स्वतन्त्रता और सत्य की खोज सम्मिलित रहती है। स्वतन्त्रता की खोज – उच्च स्तर पर बुद्धि और भावना – मानव मे उसके प्राणीगत विकास और अस्तित्व के सघर्ष के क्रम मे मानव को प्राप्त होते है। सत्य की खोज इसी प्रवृत्ति की सहयोगी वृत्ति है। प्रकृति के अधिकाधिक ज्ञान

से मानव प्रकृति के अत्याचार से अपने को मुक्त करता है और अपने लिए उपयोगी भौतिक और सामाजिक वातावरण बनाता है। सत्य ज्ञान का परिमाण है।

तीन

विवेकपूर्ण मानव के प्रयास का उद्देश्य व्यक्तिगत और समुदाय का कल्याण है। इससे ही स्वतन्त्रता लगातार बढ़ती जाती है। मानव की क्षमताओ के प्रतिबन्धो का शनैं शनैं. लोप ही स्वतन्त्रता है। मानव समाज मे मानव के व्यक्ति का महत्त्व है, उसे सामाजिक व्यवस्था का पुर्जा नही माना जाना चाहिए। किसी भी सामुदायिक प्रयास और सामाजिक सगठन मे व्यक्ति की प्रगति और उसकी स्वतन्त्रता के महत्त्व के आधार पर ही उस समाज की प्रगति को मापा जा सकता है। किसी भी समष्टि के प्रयास मे व्यक्तियो को कितना लाभ पहुँचता है, उसी के आधार पर उसकी सफलता को मापा जा सकता है।

चार

नियमबद्ध भौतिक प्रकृति की पृष्ठभूमि मे उत्पन्न मानव प्राकृतिक रूप से विवेकशील प्राणी होता है। तर्कशक्ति उस की शारीरिक क्षमता है, जो उस की इच्छा के विरुद्ध नही है। बुद्धि और भावना दोनो को समान शारीरिक आधार पर समझाया जा सकता है। अत· ऐतिहासिक निश्चयवाद से इच्छा की स्वतन्त्रता को अलग नही किया जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि मानव की इच्छा ही सबसे शक्तिशाली कारक है। अन्यथा विवेक द्वारा निर्धारित ऐतिहासिक प्रक्रिया मे क्रान्ति की कोई सम्भावना ही नही रहेगी। विवेक और विज्ञान के आधार पर विकसित निश्चयवाद की कल्पना को धार्मिक आधार पर अपनाये जाने वाले भाग्यवाद अथवा नियतिवाद से मिलाकर भ्रम नही उत्पन्न किया जाना चाहिए।

पाँच

इतिहास की आर्थिक व्याख्या भौतिकवाद की गलत व्याख्या के आधार पर की जाती है। उसमे द्वैतवाद की कल्पना की जाती है जो एकसत्तात्मक भौतिकवादी दर्शन के विरुद्ध है। इतिहास एक निश्चयात्मक प्रक्रिया है, लेकिन उसके एक से अधिक कारण होते हैं। मानव की इच्छा भी उनमे से एक है और उसे प्रत्यक्ष रूप से किसी आर्थिक प्रेरणा से जोडा नही जा सकता है।

छह

परिस्थितियों की चेतनाप्रक्रिया, जो शारीरिक प्रक्रिया भी है, से विचारो का जन्म होता है। लेकिन एक बार विचार के जन्म के बाद उस विचार का

अस्तित्व हो जाता है और फिर वह अपने नियमों से नियन्त्रित होता है। विचारो की गतिशीलता सामाजिक विकास प्रक्रिया के समानान्तर रूप से चलती है और वह एक-दूसरे को परस्पर प्रभावित करती है। लेकिन मानवविकास-क्रम मे किसी एक विशेष स्थिति मे ऐतिहासिक घटनाओ और विचारो के आन्दोलन के सम्बन्ध को निश्चित रूप से नही बताया जा सकता। (विचार का यह प्रयोग सामान्य दार्शनिक अर्थ मे सिद्धान्त अथवा विचार पद्धति के अर्थ मे किया गया है) सास्कृतिक स्वरूप और नैतिक मूल्य केवल सैद्धान्तिक ऊपरी ढाँचा नही है जो आर्थिक सम्बन्धो के आधार पर बना है। उनका निर्धारण ऐतिहासिक है और विचारो के इतिहासपरक तर्क से उनका निर्धारण होता है।

सात

स्वतन्त्र ससार की रचना के लिए क्रान्ति को समाज की आर्थिक व्यवस्था के पुनर्गठन से आगे जाना चाहिए। राजनीतिक सत्ता के अधिग्रहण मात्र से, दलित और उत्पीड़ित वर्गों के नाम से और उत्पादन के साधनो से निजी स्वामित्व को खत्म कर देने से यह जरूरी नही है कि समाज स्वतन्त्र हो जाय।

आठ

स्वतन्त्रता के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कम्युनिज्म और सोशलिज्म को माध्यम माना जा सकता है। उनसे स्वतन्त्रता का लक्ष्य प्राप्त होगा, इस बात को अनुभव से परखना चाहिए। ऐसी राजनीतिक व्यवस्था और आर्थिक प्रयोग को, जो हाडमांस के मानव को सामूहिक अहंकार (समष्टि के अहंकार) के अधीन बना दे, स्वतन्त्रता प्राप्त करने का माध्यम स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसा सामूहिक अहंकार राष्ट्र और वर्ग के आधार पर उत्पन्न किया जा सकता है। एक ओर यह कहना कि स्वतन्त्रता को नष्ट करने से स्वतन्त्रता उत्पन्न होगी, असंगत है। इस प्रकार से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को काल्पनिक सामूहिक अहकार की बलिवेदी पर बलिदान कर दिया जाता है। कोई भी सामाजिक दर्शन अथवा समाज के पुनर्निर्माण की योजना, जिसमे मानव के सार्वभौम सत्ता के अधिकार को मान्यता नही दी जाती और उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्वीकार नही किया जाता, छूंछा आदर्श है और उस मानव की प्रगति और क्रान्ति के [illegible] सीमित उपयोगिता ही हो सकती है।

नौ

राज्य समाज का राजनीतिक सगठन है और कम्युनिज्म की कल्पना अनुभव से नष्ट हो गयी है। समाज के

नियोजित अर्थव्यवस्था के लिए भी राजनीतिक तन्त्र का अस्तित्व निश्चित रूप से होना ही चाहिए। इस प्रकार के तन्त्र पर नयी व्यवस्था में लोकतान्त्रिक नियन्त्रण के द्वारा ही स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखा जा सकेगा। राजनीतिक लोकतन्त्र और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के आधार पर उपयोग के लिए उत्पादन को नियोजित करना सम्भव हो सकेगा।

दस

उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व और नियोजित अर्थव्यवस्था को अपना लेने मात्र से श्रमिक का शोषण अपने आप समाप्त नही हो जाता और न ऐसा करने से सम्पत्ति का समान वितरण ही होने लगता है। राजनीतिक लोकतन्त्र की अनुपस्थिति मे आर्थिक लोकतन्त्र स्थापित नही किया जा सकता और बिना आर्थिक लोकतन्त्र के राजनीतिक लोकतन्त्र को ही बनाये रखा जा सकता है।

ग्यारह

अधिनायकवादी तानाशाही मे अपने को लगातार सत्ता मे रखने की प्रवृत्ति होती है। राजनीतिक अधिनायकवादी तानाशाही मे कुशलता, सामुदायिक प्रयास और सामाजिक प्रगति के नाम पर नियोजित आर्थिक व्यवस्था मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सम्मान नही किया जाता। ऐसी दशा मे समाजवादी समाज मे लोकतन्त्र को अधिक ऊँचे स्तर पर ले जाने की सम्भावना नही रहती। तानाशाही उसके पोषित लक्ष्य को नष्ट कर देती है।

बारह

ससदीय लोकतन्त्र की बुराइयाँ भी अनुभव से प्रकट हो चुकी है। इस व्यवस्था मे जनता की सार्वभौम सत्ता को प्रतिनिधियो को प्रदत्त-अधिकार के रूप मे दे दिया जाता है। लोकतन्त्र को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सत्ता जनता मे निहित हो और ऐसे साधन होने चाहिए जिनके उपयोग से वह अपने सार्वभौम सत्ता का प्रभावशाली ढग से उपयोग कर सके। आज की स्थिति मे जनता को कुछ अवधि के बाद चुनाव के समय इस अधिकार के उपयोग का अवसर मिलता है। नागरिक समष्टि के हिस्से के रूप में मानव का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है, वह अधिकाश समय सभी उद्देश्यो के लिए शक्तिहीन हो जाता है। उनके पास अपने सार्वभौम सत्ता के अधिकार के उपयोग का कोई साधन नही है और शासनतन्त्र पर स्थायी रूप से उनका अधिकार नही रहता है।

तेरह

ससदीय लोकतन्त्र की वैधानिक व्यवस्था ने उदारवाद के आदर्शों को खो दिया है।

मुक्त व्यापार की आर्थिक व्यवस्था मानव द्वारा मानव के शोषण को कानूनी मान्यता देती है। आर्थिक व्यक्ति की भावना व्यक्तिवाद के मुक्तिदायी सिद्धान्त के प्रतिकूल है। इस भ्रष्ट विचार के स्थान पर यह बात स्वीकार की जानी चाहिए कि विवेक मानव का स्वाभाविक गुण है और उसमे नैतिकता तभी हो सकती है जब वह विवेकी हो। नैतिकता अन्तः चेतना को प्रेरित करती है और अन्तः चेतना स्वाभाविक सहज इच्छाओ की चेतना है और परिस्थितियो की उस पर प्रतिक्रिया होती है। यह यान्त्रिक शारीरिक प्रक्रिया केवल चेतना के आधार पर प्रकट होती है। अतः यह विवेक है।

चौदह

ससदीय लोकतन्त्र का विकल्प अधिनायकवादी तानाशाही नही है। उसका विकल्प संगठित लोकतन्त्र है, जो वैधानिक लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे नागरिक की व्यक्तिगत अशक्तता को समाप्त करती है। ससद को राज्य के ढांचे का सूच्यात्मक शिखर होना चाहिए, जिसके आधार मे देश भर मे सगठित जनसमितियो के रूप मे सगठित लोकतन्त्र की इकाइयाँ होनी चाहिए। इस प्रकार समाज के राजनीतिक सगठन के रूप मे राज्य समस्त समाज के अनुरूप बन जायेगा और परिणामस्वरूप राज्य पर स्थायी रूप से लोकतान्त्रिक नियन्त्रण हो जायेगा।

पन्द्रह

क्रान्तिकारी और स्वतन्त्रता दिलाने वाले सामाजिक दर्शन का मुख्य काम यह है कि वह इतिहास के इस आधारभूत सत्य पर जोर दे कि मानव अपने ससार का निर्माता है। वह विचारशील प्राणी है और वह व्यक्ति के रूप मे इन गुणो से युक्त है। मानव का मस्तिष्क उसका प्रधान उत्पादन का साधन है और उससे सबसे क्रान्तिकारी वस्तु उत्पन्न होती है। क्रान्ति के पहले ऐसे विचारो का होना नितान्त आवश्यक है, जो मान्य सिद्धान्तो के आलोचक हो। जब अधिक से अधिक व्यक्ति अपनी इस सृजनात्मक शक्ति के प्रति सजग हो जाते हैं और उनमे ससार के पुनर्निर्माण की अदमनीय प्रेरणा उत्पन्न होती है और विचारो से वे अनुप्राणित होते हैं तथा स्वतन्त्र व्यक्तियों के समाज की रचना के आदर्श की भावना अपने मे प्रज्ज्वलित कर लेते हैं तो वे ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर सकते हैं, जिसमे लोकतन्त्र को सम्भव बनाया जा सके।

सोलह

सामाजिक क्रान्ति के तरीके और कार्यक्रम ऐसे होने चाहिए जिनसे सामाजिक प्रगति के मौलिक सिद्धान्तो को पुनः लागू किया जा सके। स्वतन्त्रता और विवेक-

सम्मत सहकारी जीवन के सिद्धान्तों की शिक्षा के प्रसार के द्वारा जनता में सामाजिक नवजागरण उत्पन्न करने का दृढ़तापूर्वक प्रचार किया जाना चाहिए। क्रान्ति की सफलता के बाद सामाजिक-राजनीतिक लोकतान्त्रिक संगठनों के आधारभूत संगठनों के माध्यम से नागरिकों को सगठित किया जाना चाहिए। सामाजिक क्रान्ति की सफलता के लिए नये सामाजिक जागरण से अनुप्राणित लोगो की अधिक से अधिक आवश्यकता पड़ेगी। जनसमितियो के गठन और उनको नवजागरण आन्दोलन से सम्बद्ध करने के लिए उनकी जरूरत पड़ेगी। क्रान्ति के कार्यक्रम को स्वतन्त्रता, तर्क और सामाजिक समरसता के सिद्धान्त के आधार पर विकसित किया जाना चाहिए। उसमें सभी प्रकार के एकाधिकार और सामाजिक जीवन के नियमन में निहित स्वार्थों को समाप्त कर दिया जायेगा।

सत्रह

मौलिक लोकतन्त्र में समाज का आर्थिक पुनर्गठन होना आवश्यक है जिससे समाज में व्याप्त मानव द्वारा मानव के शोषण की सम्भावना को नष्ट किया जा सके। समाज के सभी व्यक्तियो की भौतिक आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करना उसकी पहली जिम्मेदारी होगी जिससे व्यक्तियो की बौद्धिक और दूसरी मानवीय क्षमताओ के विकास की सम्भावनाएँ उत्पन्न की जा सके। नये आर्थिक पुनर्गठन के द्वारा मानव के जीवन स्तर को धीरे-धीरे ऊँचा उठाने की सुनिश्चित व्यवस्था की जायेगी। मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य की यही आधार शिला होगी। स्वतन्त्रता के लक्ष्य की ओर लगातार अग्रसर होने की पहली शर्त यह है कि मानव आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो।

अट्ठारह

नयी सामाजिक व्यवस्था की आर्थिक पद्धति मानव की आवश्यकताओ के परिप्रेक्ष्य मे उपभोग के लिए उत्पादन और वितरण पर आश्रित होगी। उसकी राजनीतिक व्यवस्था मे सत्ता को प्रदत्त अधिकार के रूप मे दूसरे को सौंपने की पद्धति नही अपनायी जायेगी क्योकि ऐसा करने से जनता को उसके अधिकारो से वंचित कर दिया जाता है। उसमे समस्त जनता को प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेने का अवसर जनसमितियो के माध्यम से दिया जायेगा। उसकी संस्कृति ज्ञान के सार्वदेशिक प्रसार और न्यूनतम नियन्त्रण तथा अधिकतम अवसर प्रदान करने तथा वैज्ञानिक और सृजनात्मक प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन देने पर आश्रित होगी। नये समाज की आधारशिला तर्क और विज्ञान होगा और अनिवार्य रूप से वह समाज नियोजित होगा। लेकिन उस योजना में व्यक्ति की स्वतन्त्रता ही मुख्य उद्देश्य

होगा । नया समाज राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक रूप से लोकतान्त्रिक होगा । परिणामस्वरूप वह ऐसा लोकतन्त्र होगा जो स्वय अपनी रक्षा कर सकेगा ।

उन्नीस

मौलिक लोकतन्त्र, नये स्वतन्त्र ससार के निर्माण के लिए कटिबद्ध, आत्मिक रूप से स्वतन्त्र व्यक्तियो के सामूहिक प्रयास से स्थापित किया जायेगा । वे लोग जनता के शासक की अपेक्षा उसके मार्गदर्शक, मित्र और दार्शनिक होगे । स्वतन्त्रता के लक्ष्य के अनुरूप उनका राजनीतिक व्यवहार विवेक पर आश्रित होगा और इसीलिए वह नैतिक होगा । जनता मे स्वतन्त्रता की आकाक्षा बढ़ने से उनके प्रयास को बल मिलेगा । अन्तत: मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य को जाग्रत जनमत और जनता के विवेक जन्य कार्यों से समर्थन मिलेगा । मौलिक लोकतान्त्रिक लोगो का यह विचार है कि सत्ता का केन्द्रीकरण स्वतन्त्रता के अनुकूल नही है इसलिए मौलिक लोकतान्त्रिक लोग सत्ता के विकेन्द्रीकरण के लक्ष्य को अपनायेगे ।

बीस

विश्लेपण की अन्तिम बात यह है कि नागरिको की शिक्षा के बिना समाज का ऐसा पुनर्गठन नही किया जा सकेगा, जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण किये बिना सबके लिए प्रगति और समृद्धि को लाने मे सहायक हो । जनसमितियाँ नागरिको के लिए राजनीतिक और नागरिक अधिकारो की शैक्षणिक सस्थाओ का काम करेंगी । *मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य सार्वजनिक जीवन मे ऐसे निरपेक्ष व्यक्तियो* को ला सकेगा, जो सत्ता निरपेक्ष होगे । शासनतन्त्र मे ऐसे लोगो के आने से वह किसी वर्ग विशेष के हितो के लिए शोषण का साधन नही बनेगा । आत्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियो के सत्ता मे आने से ही गुलामी की शृंखलाएँ तोड़ी जा सकेंगी और सभी व्यक्तियो के लिए स्वतन्त्रता का नया युग आरम्भ हो सकेगा ।

इक्कीस

मौलिकवाद विज्ञान और सामाजिक सगठन और व्यक्ति तथा समष्टि जीवन मे सुसम्बद्धता लाता है । वह स्वतन्त्रता मे नैतिक-बौद्धिक और साथ ही साथ *सामाजिक परिमाण को जोड़ता है । वह सामाजिक प्रगति का व्यापक सिद्धान्त* प्रस्तुत करता है, जिसमे आर्थिक निश्चयवाद का द्वन्द्वात्मक न्याय और विचारो को गतिशीलता को उचित स्थान देकर उनका समावेश किया जाता है । वह पद्धति और कार्यक्रम से *हमारे समय की सामाजिक क्रान्ति* को पूरा *करता है ।*

बाईस

मौलिकवाद प्रोटागोरस के उस सिद्धान्त को आधारभूत मानता है जिसमे कहा गया

है कि मानव सभी बातो का मापदण्ड है अथवा मानव जाति का मूल मानव है (मार्क्स)। वह स्वतन्त्र व्यक्तियों के भाई-चारे के आधार पर और नैतिक और आध्यात्मिक रूप से मुक्त मानवो के सामूहिक प्रयास के आधार पर ससार मे नया समाज बनाना चाहता है।

परिशिष्ट पर टिप्पणी

आरम्भ मे जो सिद्धान्त स्वीकार किये गये थे उनमे 19 और 20 सिद्धान्त निम्न प्रकार से थे।

उन्नीस

मौलिक लोकतन्त्र का आदर्श आत्मिक रूप से ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तियों की राजनीतिक पार्टी द्वारा सामूहिक प्रयास से प्राप्त किया जा सकेगा, जो स्वतन्त्र ससार के निर्माण के लिए प्रतिबद्ध हो। ऐसी पार्टी के सदस्य जनता के मार्गदर्शक, मित्र और दार्शनिक के रूप में काम करेगे न कि उनके शासको के रूप मे। स्वतन्त्रता के लक्ष्य के अनुरूप पार्टी का राजनीतिक व्यवहार विवेक और नैतिकता पर आधारित होगा। जनता मे जैसे-जैसे स्वतन्त्रता की आकाक्षा बढेगी वैसे-वैसे पार्टी का विकास होगा। पार्टी जाग्रत जनमत के समर्थन और जनता के बुद्धि-पूर्वक किये गये कार्यों के परिणामस्वरूप सत्ता मे आयेगी। यह विचार अपनाने के कारण कि स्वतन्त्रता और सत्ता का केन्द्रीकरण परस्पर प्रतिकूल बातें है अत: पार्टी सत्ता के विकेन्द्रीकरण के लक्ष्य के अनुरूप काम करेगी। इस प्रक्रिया से वह राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने मे सफल होगी और इसी तर्क के आधार पर पार्टी राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण करके ऐसी स्थिति मे ले जायेगी जिसमे राज्य पूरे समाज के समान हो जाये।

बीस

विश्लेषण की अन्तिम बात यह है कि समाज के पुनर्गठन के लिए नागरिको का उन बातों के लिए शिक्षित होना जरूरी है, जो समान प्रगति और समृद्धि में, बिना व्यक्तियो की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण किये, सहायक हो। मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य जनता के राजनीतिक और नागरिक अधिकारो की शैक्षणिक सस्था का काम करेगा। उसके ढांचे और उसकी कार्य पद्धति से सार्वजनिक क्षेत्र मे लोभ से मुक्त व्यक्ति सामने आयेगे। ऐसे व्यक्तियो के समावेश से राज्यतन्त्र किसी वर्ग विशेष के हितो की रक्षा के लिए दूसरो के उत्पीडन करने का तन्त्र नही बनेगा। केवल आत्मिक रूप से स्वतन्त्र व्यक्ति सत्ता मे आने से ही गुलामी की सभी शृखलाएँ तोड़ी जा सकेंगी और सभी व्यक्तियों के लिए स्वतन्त्रता का नया युग आरम्भ हो सकेगा।

श्री वी. एम. तारकुण्डे

नवमानववाद के दर्शन की आधारभूत संरचना 1946 मे एम एन. राय द्वारा निर्मित की गयी थी। इसका 22 सिद्धान्त-सूत्रों के रूप मे प्रकाशन किया गया।

नवमानववाद के अंकुरण के समय से ही प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री वी एम तारकुण्डे ने इसे अपने अभीष्ट जीवन-दर्शन के रूप मे पहचाना। इसके मूल-सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाने के समय से लेकर वर्तमान कालावधि मे उनकी यह अनुभूति गहरी आस्था मे परिणत हो गयी है। नवमानववादी दर्शन श्री तारकुण्डे के चिन्तन का अनिवार्य अग है और क्योंकि उन्होने दीर्घ काल तक स्वयं इस दर्शन को जिया है अतः इसके कुछ नये आयाम विकसित हुए है तथा यह समृद्धतर बना है। प्रस्तुत कृति मे जहाँ श्री तारकुण्डे एम एन. राय के प्रति ऋणी होने का आभार व्यक्त करते है, वहा उन्होने स्वय अपनी भाषा मे अपने निजी जीवन-दर्शन के रूप में नवमानववाद का विवेचन किया है।

नवमानववाद कोई बौद्धिक विलास नही है। इसका अभिप्रेत कर्मयुत दर्शन बनना है, ऐसा दर्शन जो नित्य-प्रति कामो मे व्यवहार्य हो। यह मार्क्सवाद के आगे का दर्शन है।

यह पुस्तक उनको सम्बोधित है जो इस प्रकार के विचारो एव आदर्शों की प्रतिमा की खोज मे हैं जो उन्हे वैयक्तिक सन्तुष्टि एव सामाजिक उपयोगिता प्रदान कर सके। विशेष रूप से यह उन्हे सम्बोधित है जो सत्ता की राजनीति के जगल मे न पड कर समाज मे दलित वर्गों के उत्थान के कार्य मे समर्पित रहना चाहते है।

श्री वी एम. तारकुण्डे भारत के अप्रतिम व्यक्तियो मे से है। वे सन् 1936 से स्वर्गीय एम एन. राय के सम्पर्क मे रहे। उन्होने एम एन. राय द्वारा संस्थापित रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी (आर डी. पी.) के कार्य मे पूरा समय देने के लिए सन् 1942 मे अपना वकालत का धधा छोड़ दिया। वे 1944 से 1948 तक आर. डी. पी. के महामन्त्री रहे। राय द्वारा यह मन्तव्य प्रकट करने पर कि दलगत राजनीति वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना एवं उसकी कार्यशीलता मे उपयोगी सिद्ध नही हो सकती, दिसम्बर 1948 मे पार्टी का विसर्जन कर दिया

गया। आर. डी. पी. के समापन पर उसका नवमानववादी आन्दोलन के रूप मे रूपान्तरण हो गया जिसमें तारकुण्डे अन्य सहयोगियो के साथ निरन्तर सक्रिय भाग लेते रहे। आर. डी. पी. के समाप्त हो जाने पर तारकुण्डे ने बम्बई हाईकोर्ट मे पुन: वकालत आरम्भ कर दी। 1957 मे वे बम्बई हाईकोर्ट के जज नियुक्त हुए। 12 वर्ष बाद 1969 मे उन्होने इस पद से त्यागपत्र दे दिया एव तब से वे भारत के सर्वोच्च न्यायालय मे वरिष्ठ वकील के रूप मे कार्यरत है।

श्री तारकुण्डे 1969 से 1980 तक रेडिकल ह्यूमेनिस्ट एसोसिएशन के अध्यक्ष रहे। वे अप्रैल 1970 से "रेडिकल ह्यूमेनिस्ट" के सम्पादक हैं जो इससे पूर्व कलकत्ता से साप्ताहिक के रूप में प्रकाशित होता था एव सम्प्रति दिल्ली से मासिक के रूप मे प्रकाशित हो रहा है।

अप्रैल 1974 मे श्री तारकुण्डे ने भारत मे लोकतन्त्र की सुरक्षा करने एव उसे प्रभावशाली बनाने के लिए जयप्रकाश नारायण के सहयोग से 'जनतन्त्र समाज' (सिटीजन्स फार डेमोक्रेसी–सी. एफ डी.) नामक सगठन की स्थापना की। जयप्रकाश नारायण जनतन्त्र समाज के प्रथम अध्यक्ष एवं तारकुण्डे उसके महामन्त्री बने। वर्तमान में वह जनतन्त्र समाज के अध्यक्ष हैं।

सितम्बर 1976 मे 'पीपूल्स यूनियन फार सिविल लिबर्टीज एण्ड डेमोक्रेटिक राइट्स'–पी. यू. सी. एल. (नागरिक स्वातन्त्र्य संगठन) की स्थापना हुई जिसके जयप्रकाश नारायण अध्यक्ष एवं तारकुण्डे कार्यकारी अध्यक्ष बने। नवम्बर 1980 मे पी यू. सी एल. सदस्य बनाने वाली संस्था बनी एव श्री तारकुण्डे उसके अध्यक्ष बने।

श्री तारकुण्डे इडियन रिनेसाँ इन्सटीट्यूट के अध्यक्ष है जो कि एम एन राय द्वारा सस्थापित एक शोध-संस्थान है। इडियन रिनेसाँ इन्सटीट्यूट द्वारा मनोनीत एक विशेषज्ञ समिति ने 1977 मे देश के आर्थिक विकास के लिए पीपल्स प्लान (जन-योजना) तैयार करके प्रकाशित किया। तारकुण्डे इस विशेषज्ञ समिति के सयोजक रहे।

श्री तारकुण्डे उन अनेक समितियों के अध्यक्ष रहे जिन्होने कथित झूठी मुठभेडो मे अनेक नक्सलवादियो की हत्या करने के आरोपो की जाँच की। वे सी एफ डी. द्वारा मनोनीत दो चुनाव-सुधार समितियों के भी सयोजक रहे।

इन्टरनेशनल ह्यूमेनिस्ट एण्ड इथिकल यूनियन ने श्री तारकुण्डे को इन्टरनेशनल ह्यूमेनिस्ट अवार्ड 1978 मे प्रदान किया।